भारतीय-शिक्षा

(शिक्षण समस्याओं का ऐतिहासिक विश्लेषण)

लेखक

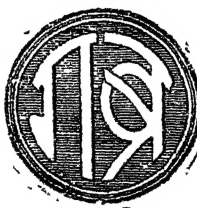
रमाकान्त श्रीवास्तव एम० ए०, एम० एड०

प्रोफेसर

राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय, रीवा

(मेम्बर फैकल्टी आफ़ एजुकेशन)

सागर विश्वविद्यालय



गर्ग-ब्रदर्स

१, कटरा रोड, (पो० ब० ६६) प्रयाग

प्रकाशक
गर्ग ब्रदर्स
प्रयाग

प्रथम संस्करण—१६५६

मूल्य ५)

आर० एन० गर्ग द्वारा गर्ग प्रेस, प्रयाग, उ० प्र०, भारत में मुद्रित।

नरेन्द्र को

OUR IMPORTANT PUBLICATIONS ON EDUCATION

१—Education for Literacy—Dr. Raj Narain : Rs. 15·00

२—Teachers Education in the U.K.—Dr. S. Adaval. Rs. 12·25

३—Financing Education In India—Principal Atma Nand Misra. Rs. 2.50

४—भारतीय-शिक्षा-सिद्धान्त—डा० सुबोध अदावाल : ८)

५—शिक्षण-कला—प्रो० आत्मानन्द मिश्रा : ७)

६—अध्यापन-सूत्र—प्रो० आत्मानन्द मिश्रा : १)

७—साधारण-मनोविज्ञान—(बी० ए० का) श्री राम सूरत लाल व मिश्रा ७॥)

८—सामान्य-शिक्षा-सिद्धान्त—डा० सुबोध अदावाल : ३॥।)

९—प्रारंभिक-शैक्षिक-मनोविज्ञान—प्रो० विश्ववीर विद्यार्थी : ३॥।)

१०—महान पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्री—श्री एस० के० पाल : ४)

११—भाषा की शिक्षा (हिन्दी व अंग्रेजी)—श्री लक्ष्मी नारायण गुप्त : २॥)

१२—मनोवैज्ञानिक प्रयोग परिचय—डा० जय प्रकाश : २॥)

१३—हमारे बच्चे—श्री रमेशचन्द्र शर्मा एवं शिवकुमार शर्मा : १)

१४—स्वप्न-लोक का रहस्य-उद्घाटन—डा० सुबोध अदावाल : १।)

प्रकथन

इस पुस्तक के लिखने के लिये क्षमा याचना की कोई आवश्यकता नहीं है। गण तन्त्र के उच्च-तम अधिकारी से लेकर जन-तंत्र के साधारण नागरिक तक प्राय: सब शिक्षा के विषय में अधिकार पूर्वक बातें करते हैं, उसकी त्रुटियाँ बतलाते हैं और उसमें संशोधन करने के लिये सुझाव पेश करते हैं। वास्तव में सब को इसका अधिकार है। पर भारतीय शिक्षा की क्या समस्याएँ हैं, इसके प्रत्येक अंग का विकास किस भांति हुआ है और वर्तमान अवस्था में शिक्षा के विभिन्न अंगों की क्या आवश्यकताएँ हैं, इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। वर्तमान काल में शिक्षा का सबसे महान दुर्भाग्य यह रहा कि सब लोग इस क्षेत्र में अपने को महानपंडित समझते हैं। घर बनाना होता है तो लोग उसका नकशा बनवाते हैं तथा इंजीनियर और कारीगर की बात मानते हैं। पर राष्ट्र का निर्माण करने के लिये पता नहीं क्यों, 'राष्ट्र-निर्माता' की बात का न्यूनतम मूल्य रहता है।

वर्तमान काल में भारत की राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण हो रहा है। इसके प्रत्येक अंग अब लुहार की निहाई पर हैं। एक भी हथौड़ा इधर-उधर लगने से स्वरूप बिगड़ जाने का डर है। हर एक चोंट संयत रूप से निर्दिष्ट स्थान पर ही लगना चाहिये तभी स्वरूप ठीक आवेगा। यह काम शिक्षक ही कर सकता है। और यदि काम में हाथ बटाना चाहें तो उन्हें प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता होगी। आशा है, यह पुस्तक शिक्षा के प्राथमिक सैनिकों को उचित मार्ग दिखला सकेगी।

प्रशिक्षण महाविद्यालय में कई साल तक कार्य करने के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि प्रशिक्षण काल में शिक्षकों को भारतीय शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्तों और घटनाओं का ठीक ज्ञान तो हो जाता है, पर शिक्षा-समस्या का संगठित ज्ञान नहीं हो पाता। भारतीय शिक्षा की मूल समस्याओं का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ यह वह ठीक से नहीं समझ पाते। प्रस्तुत पुस्तक में इसी बात का प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक समस्या के क्रमिक विकास पर उचित प्रकाश डाला जा सके। आशा है अध्यापक इससे लाभ उठा सकेंगे।

लेखक ने इस पुस्तक के लिखने में अनेकों लेखकों की रचनाओं लेखों और भाषणों से लाभ उठाया है। प्रत्यक्ष रूप से और अनजान में यदि प्रत्येक लेखक को सनाम धन्यवाद देने का प्रयत्न किया जाय तो सूची बहुत बड़ी हो जावगी। अतएव लेखक सब के प्रति सामूहिक आभार प्रकट करता है।

आशा है यह पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गई है उसमें सफल होगी।

गणतन्त्र दिवस, १९५६
राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय,
रीवा

रमाकान्त श्रीवास्तव

विषय-सूची

समस्यायें

अध्याय—१

अध्याय—२

अध्याय—३

अध्याय—९

धार्मिक-चेतना धार्मिक शिक्षा का आधार है, नैतिक नियमों की प्रधानता, धर्म सामाजिक संगठन का स्रोत, धर्म पथ-प्रदर्शक, धर्म और अनुशासन हीनता, किशोर काल औ धार्मिक शिक्षा, धर्म की प्राकृतिक प्रवृत्ति, धर्म का अर्थ; धर्म और सर्वांगीण विकास का सम्बन्ध, प्राचीन भारत में धर्म और शिक्षा, मध्यकालीन शिक्षा और धर्म, १९ वीं शताब्दी में धर्म का शिक्षा से सम्बन्ध विच्छेद वैज्ञानिक जिज्ञासा, राष्ट्रीयता का उदय, मध्यकाल में पुर्नजागृति भारतीय शिक्षा में धर्म का स्थान समाप्त होना, बेटिंग की सरकारी नीति, हन्टर कमीशन और धार्मिक शिक्षा, विश्वविद्यालय आयोग १९०२, सैडलर कमीशन १९१७, सार्जेन्ट योजना और धार्मिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा परिवार की जिम्मेदारी है, भारतीय संविधान और धार्मिक निरपेक्षता, धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन सम्भव, राजनैतिक पृष्ठि भूमि, धार्मिक शिक्षा पर गान्धी जी के विचार, हिन्दू धर्म और जीवन, राधाकृष्णनन कमीशन का मत, नारउड समिति, धार्मिक वातावरण, अनुकरण, अध्यापकों का संगठित प्रयत्न, व्यक्तित्व, सामूहिक प्रार्थना एवं चिंतन, धार्मिक सुधारकों का जीवन-अध्ययन, धार्मिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन, धार्मिक-शिक्षा का पाठ्यक्रम, शिक्षक।

अध्याय—१०

राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्य, ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि, अँगरेजी शिक्षा की असफलता, शिक्षा की ओर उदासीनता, सार्वजनिक शिक्षा की ओर से उदासीनता, औद्योगिक शिक्षा की कमी शिक्षा का माध्यम अंगरेजी; प्राचीन शिक्षा संस्थाओं का विनाश, ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरता की वृद्धि, राष्ट्रीय शिक्षा नीति के आधार, राष्ट्रीय शिक्षा का विकास, जनतन्त्र और राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय शिक्षा और विश्व शान्ति, राष्ट्रीय शिक्षा की विशेषताएँ, राष्ट्रीय शिक्षा की परिभाषा, भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का विकास, भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा की विशेषताएँ वर्ग विच्छेद, कांग्रेस का प्रस्ताव, धार्मिक चेतना, खिलाफत आन्दोलन, राष्ट्रीय विद्यापीठ, शान्ति निकेतन और गुरुकुल काँगड़ी, स्वायत्त शासन, सार्जेन्ट रिपोर्ट, खेर कमेटी, प्रथम पंचवर्षीय योजना, द्वितीय पंचवर्षीय योजना, जनतन्त्र के सिद्धान्तों की प्रधानता, धार्मिक प्रभाव, अन्तराष्ट्रीय आवश्यकता, मातृ भाषा की प्रधानता, समाजवादी सामाजिक व्यवस्था।



१

प्राचीन भारतीय शिक्षा

शिक्षा का विकास

शिक्षा का इतिहास मनुष्य की सभ्यता का इतिहास है और इतना प्राचीन है जितनी मनुष्य जाति। शिशु एक निरीह प्राणी है जिसकी शिक्षा-दीक्षा में माता-पिता को कम-से-कम दस-बारह वर्ष तक अनवरत परिश्रम करना पड़ता है। खाना-पीना सिखलाने से लेकर समाज में जीवन-यापन करने और जीविकोपार्जन करने की कठिन शिक्षा देनी पड़ती है। अतएव परिवार ही शिक्षण-संस्था की प्रथम इकाई है और माता-पिता प्रथम शिक्षक। शिक्षा का यह क्रम बर्बर युग से लेकर आज तक चला आ रहा है। प्राचीनकाल में जब मनुष्य असभ्य था, तब भी वह अपने बच्चों की रक्षा किया करता था और बड़े हो जाने पर उन्हें तालाबों में मछली पकड़ना, चिड़ियाँ फँसाना, जंगली जानवरों से रक्षा और उनका शिकार करना इत्यादि आवश्यक चीजों की शिक्षा दिया करता था। यह शिक्षा यथार्थवादी और उपयोगी थी तथा मनुष्य के जीवन-यापन करने में सहायक भी। शिक्षा के इस स्वरूप से सम्भवतः हम अब सहमत न हों, पर शिक्षा के यथार्थ स्वरूप में जीवन-यापन करने की कला, वातावरण से अपनी रक्षा तथा

तत्कालीन समाज का उपयोगी सदस्य बनाने की क्षमता आदि लाभ-प्रद गुणों का समावेश होना आवश्यक है।

सम्पूर्ण जीवन ही शिक्षा-क्षेत्र है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण किया करता है। यह शिक्षा चाहे मनुष्य जान-कर ग्रहण करे अथवा अनजान में हो, पर मनुष्य सदैव कुछ-न-कुछ सीखता रहता है और अनुभव के द्वारा भविष्य के कार्यक्रम को सुचारु रूप से चलाने का प्रयत्न करता है। अनुभव-जन्य ज्ञान से मनुष्य कभी-कभी अपना काम तो साध लेता है, पर पूर्ण रूप से उसकी शक्तियों का विकास नहीं हो पाता। अतएव न तो व्यक्ति विशेष को ही पूरा लाभ होता है, वरन् समाज और विश्व भी मनुष्य के गुणों से वंचित रह जाता है। इसीलिये इस बात की निरन्तर आवश्यकता है कि मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा का ठीक प्रबन्ध किया जाय ताकि व्यक्ति के साथ विश्व का भी कल्याण हो।

शिक्षा का अर्थ

'शिक्षा' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है--एक विस्तृत अर्थ, दूसरा संकुचित अर्थ। विस्तृत अर्थ में जब शिक्षा शब्द प्रयुक्त होता है तब उसका तात्पर्य है बाल्यावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक विकास की वे अवस्थाएँ जिनके द्वारा मनुष्य अपने शारीरिक, सामाजिक एवं नैतिक वातावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता है। उन दार्श-निकों और शिक्षा-वैज्ञानिकों ने जिन्होंने प्रकृति-प्रदत्त शिक्षा तथा अनु-भव-जन्य ज्ञान पर विशेष जोर दिया है, शिक्षा के विस्तृत अर्थ को ही दृष्टिकोण में रक्खा है। उनके अनुसार पारिवारिक-कर्त्तव्य, धार्मिक सम्मेलन में भाग लेना, गोष्ठियों एवं सभा-सोसाइटियों में जाना अथवा मित्रों से वार्तालाप करना इत्यादि सब शिक्षा के साधन हैं। संकुचित रूप में शिक्षा का अर्थ है 'पढ़ाई-लिखाई' अथवा किसी विशेष उद्देश्य को सामने रखकर बालक को प्रभावित करना। संकु-चित रूप में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग प्रायः सभी करते हैं, अतएव

जब कभी यह शब्द हमारे सामने आता है, तब हम समझते हैं कि स्थान, समाज या व्यक्ति विशेष की पढ़ाई-लिखाई का ठीक प्रबंध है कि नहीं। यद्यपि शिक्षा का यह अर्थ बहुत संकुचित है—क्योंकि शिक्षा सतत क्रमिक विकास की अवस्था है, फिर भी जहाँ तक समुदाय का सम्बन्ध है, उसे अधिकतर शिक्षा के संकुचित अर्थ को ही सामने रखकर काम करना पड़ता है। इसलिये शिक्षकों का यह विशेष कर्त्तव्य हो जाता है कि वे एक संकुचित दृष्टिकोण के साथ काम करते हुए भी शिक्षा के विस्तृत अर्थ को भूल न जायँ।

शिक्षा और दर्शन

शिक्षा का क्या उद्देश्य है? यह प्रश्न प्राय: सब शिक्षा-वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में रहता है और सबने अपने-अपने विचार शिक्षा के उद्देश्य पर व्यक्त किये हैं। शिक्षा का सम्पूर्ण इतिहास इसी प्रश्न का उत्तर है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य अथवा समाज के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। दार्शनिक सिद्धान्त ही मनुष्य या समाज को आगे बढ़ाते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने सिद्धान्तों को अपने जीवन में कार्यरूप में परिणत करना चाहता है। इसी तरह समाज भी उन दार्शनिक सिद्धान्तों की छाप, जिस पर उसका विश्वास है, अपने सदस्यों के जीवन पर डालना चाहता है और शिक्षा ही केवल इसका एकमात्र आधार है। उदाहरण के लिये यदि समाज भौतिकता की ओर उन्मुख है, तो ऐसा समाज नागरिकों की शिक्षा का इस प्रकार प्रबन्ध करेगा कि प्रत्येक सदस्य के मस्तिष्क पर भौतिक जगत की प्रधानता अंकित हो जाय। प्रत्येक जाति और समाज ने प्राचीन काल से आज तक अपने सदस्यों को अपने सिद्धान्तों और विश्वासों के अनुसार शिक्षित किया है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य

भारतीय शिक्षा का इतिहास बहुत प्राचीन है। आर्य लोग जब भारतवर्ष में आये, तो वे सभ्य और सुशिक्षित थे। उनके निश्चिन्त

जीवन-सिद्धान्त थे और वे अपने बालकों को अपने सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षित करते थे। शिक्षा में उनका विश्वास था और वे प्रत्येक बालक को शिक्षित करना चाहते थे। भर्तृहरि ने अपने नीति-शतक में लिखा है :—

'विद्याविहीनः पशुः'

अर्थात् जो मनुष्य शिक्षित नहीं है, वह पशु के समान है। अशिक्षित मनुष्य का विकास नहीं हो सकता। विद्या-विहीन मनुष्य एक अन्धे के समान है। ज्ञान से मनुष्य के अन्तः-चक्षु खुल जाते हैं, "ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं"।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिक विकास था। आत्म-ज्ञान एवं नैतिक विकास पर प्राचीन ऋषि अधिक जोर देते थे। आध्यात्मिक विकास एवं नैतिक उन्नति प्रमुख उद्देश्य होने के कारण शिक्षा का सम्पूर्ण कलेवर धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत था। समाज ने शिक्षा की उपयुक्त व्यवस्था कर रक्खी थी या यों कहिये कि एक ऐसी व्यवस्था का विकास हो गया था जो तत्कालीन परिस्थितियों के सर्वथा योग्य थी। वैदिक युग में घर का बड़ा-बूढ़ा ही प्रधान शिक्षक था। उसी के आस-पास परिवार के लड़के एकत्र हो जाते थे और वह घर के लड़कों को वैदिक ऋचायें कंठस्थ करा दिया करता था। वेदों को आर्य लोग श्रुति भी कहते थे। श्रुतिशब्द का अर्थ है सुना हुआ। आर्यों का विश्वास था कि वेद ईश्वर वाक्य है जिन्हें प्राचीन ऋषियों ने तपस्या करते समय सुना था। पर हम किसी भी घटना को श्रुति कह सकते हैं और इससे यही प्रकट होता है कि बहुत दिनों तक वेदों को पिता से पुत्र कंठस्थ करते रहे। इनका संकलन बहुत दिनों बाद किया गया। सभ्यता के विकास के साथ पाठ्य-विषय भी बढ़ते गये और थोड़े ही दिनों में यह असम्भव हो गया कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लड़के को शिक्षित कर सके; अतएव आर्यों ने यह कार्य विशेष व्यक्तियों को सौंप दिया। उन्हें 'आचार्य' कहते थे। जाति-

व्यवस्था के साथ पढ़ने-पढ़ाने और पूजा-पाठ करने का काम ब्राह्मणों को सौंपा गया। अतएव आचार्य लोग अधिकतर ब्राह्मण वर्ग के होते थे। पर यह आवश्यक नहीं था कि आचार्य ब्राह्मण वर्ग के ही हों। इसका उदाहरण तो वशिष्ठ और विश्वामित्र में मिलता है। वशिष्ठ यदि ब्राह्मण थे तो विश्वामित्र क्षत्रिय। यही नहीं, उत्तर वैदिक काल के पश्चात् जो धार्मिक क्रान्ति हुई, उसमें बहुत-से आचार्य क्षत्रिय एवं दूसरे वर्णों के भी हुए।

आचार्यों का आश्रम बस्ती के बाहर एकान्त में होता था। इस आश्रम को गुरुकुल कहते थे। यद्यपि शिक्षा में दर्शन और धर्म को प्रधानता थी, फिर भी आर्यऋषि मनुष्यों के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास के लिये सक्रिय थे। सम्भवतः आर्यों की धार्मिक भावना बहुत विशद थी जिसके अन्तर्गत मनुष्य का सर्वांगीण विकास सन्निहित था। भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों के विषय में लिखते हुए एक लेखक ने लिखा है कि धार्मिक भावनाओं का विकास, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व-विकास सामाजिक-शिक्षा एवं राष्ट्रीयता का प्रचार भारतीय शिक्षा के मुख्य उद्देश्य थे।* शिक्षा जीवन के सन्निकट थी और विद्यार्थी को सब परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करती थी। हस्त-कला या किसी ललित कला में दक्षता प्राप्त करना विद्यार्थियों की विशेष योग्यता होती थी और सब विद्यार्थी किसी-न-किसी विशेष कला में प्रवीण होते थे। कृष्ण राजनीतिक थे, तो पटु

---

* "Infusion of a spirit of piety and religiousness, formation of character, development of personality, inculcation of civic and social duties, promotion of social efficiency and preservation and spread of national culture may be described as the chief aims and ideals of ancient Indian Education." Altekar. Education in Ancient India, pp. 89.

सारथी भी, अर्जुन यदि धनुर्विद्या में पारंगत थे, तो नृत्य कला भी सिखा सकते थे, भीम यदि गदा-युद्ध में अद्वितीय थे, तो पाक-विद्या में भी कोई उनका मुकाबिला नहीं कर सकता था। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा न केवल आध्यात्मिक ही थी, बल्कि उसका उद्देश्य विद्यार्थी का सर्वतोमुखी विकास था।

गुरुकुल

प्राचीन भारतीय-शिक्षा के उद्देश्य आदर्श थे पर साथ ही उन आदर्शों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि गुरुकुल जंगलों में ही हों। प्राचीन इतिहास में ऐसे बहुत-उदाहरण हैं, जहाँ पर गुरुकुल बस्ती में स्थित थे। 'उपनयन' संस्कार के बाद विद्यारम्भ होता था। उपनयन संस्कार अधिकतर ६ वर्ष से ८ वर्ष तक की अवस्था में होता था। उपनयन के बाद बालक गुरु के पास जाता था और उससे हाथ फैलाकर विद्यादान की प्रार्थना करता था। आचार्य विद्यार्थी के दोनों हाथ अपने घुटनों के पास लाता था और फिर उसके सिर पर हाथ रखकर उसे अपना शिष्य बनाता था। उस समय से विद्यार्थी आचार्य के पास ही रहता था। प्रायः २५ वर्ष तक विद्यार्थी आचार्य के पास रहकर विद्याअध्ययन करता था। इस समय तक विद्यार्थी पूर्ण ब्रह्मचारी रहता था। प्राचीन शास्त्रों में विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि २५ वर्ष तक एकाग्र चित्त होकर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करता था। यद्यपि पौराणिक युग में ब्रह्मचर्य की व्यवस्था घट गई थी और उपनयन संस्कार देर में होने लगे थे, फिर भी अधिकांशतः वैदिक युग और महाकाव्य-काल में यह व्यवस्था प्रचलित थी।

प्राचीन विश्वविद्यालय

आज-कल की तरह शिक्षा का संगठित स्वरूप प्राचीन काल में नहीं था। गुरुकुल तथा आचार्यों के निवास-स्थान वर्तमान युग की तरह संग

ठित विश्वविद्यालय नहीं थे। प्राचीन काल के संगठित विद्यालय बुद्ध-कालीन भारत की देन है। बौद्धों ने धर्म-प्रचार के लिये संघ की स्थापना की। इन संघों में तो पहले बौद्ध धर्म के भिक्षुओं को धर्म-प्रचार के लिये ट्रेनिंग दी जाती थी, पर बाद में यह बौद्ध-संघ, 'संघाराम' तथा बौद्ध-विहार बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में परिवर्तित हो गये, जिनमें भारत-वर्ष के कोने-कोने से विद्यार्थी विद्या-अध्ययन करने के लिये आते थे। यही नहीं, इन प्राचीन विश्वविद्यालयों की ख्याति विदेशों में भी थी, जिनमें चीन, जापान, लंका, कम्बोडिया, ग्रीस और फारस आदि के विद्यार्थी विद्या-अध्ययन करने आते थे। इस तरह के प्राचीन विश्व-विद्यालयों में तक्षशिला, नालन्द, विक्रमशिला आदि के नाम विख्यात हैं। नालन्दा की ख्याति तो बहुत ही प्राचीन है। यह बौद्ध विश्ववि-द्यालय था जिसमें १० हजार विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। इन विद्यार्थियों का खर्च राज्य और समाज पर था। बौद्ध धर्म के अलावा, इन विश्व-विद्यालयों में हिन्दू-दर्शन, न्याय, गणित और ज्योतिष की भी पढ़ाई होती थी। इन विश्वविद्यालयों में प्रवेश बड़ा कठिन था। विश्वविद्या-लय के प्रत्येक द्वार पर एक द्वारपाल रहता था और जो भी विद्यार्थी विश्वविद्यालय में प्रवेश करने आता था उसे द्वारपाल के साथ शास्त्रार्थ करना पड़ता था और यदि वह द्वारपाल को सन्तुष्ट न कर सके तो उसे वापस जाना पड़ता था। कहा जाता है कि प्रत्येक दस छात्रों में से आठ को विश्वविद्यालय के द्वार पर से वापस जाना पड़ता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन विश्वविद्यालय में कोई विद्यार्थी आसानी से प्रवेश नहीं पा सकता था।

आर्थिक संगठन

आज-कल की तरह प्राचीन काल में शिक्षा के लिये कोई आर्थिक बन्धन नहीं था। प्रत्येक विद्यार्थी, यदि उसमें योग्यता है, तो अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा ग्रहण कर सकता था। आचार्य का समाज में सम्मान था। विद्यार्थियों के शिक्षा की जिम्मेदारी समाज पर थी।

अतएव समाज आचार्य की सब सुविधाओं का ध्यान रखता था। प्रत्येक विद्यार्थी आवश्यकतानुसार अपने खाने के लिये भिक्षा माँग सकता था। शिक्षा के लिये भिक्षाटन उस समय बुरा नहीं माना जाता था बल्कि प्रत्येक गृहस्थ यह अपना सौभाग्य समझता था कि उसके घर पर कोई विद्यार्थी भिक्षाटन के लिये आवे। विद्यार्थी जो भिक्षा माँगकर लाते थे उसी से विद्यार्थी और आचार्य का खर्च चलता था। इसके अलावा विद्यार्थी जीविकोपार्जन के लिये शारीरिक श्रम भी करते थे। वैदिक काल के पश्चात् जब भारतवर्ष में राज्य संगठित हो गये तो राज्य का कोई धनी व्यक्ति, सरदार या राजा ही गुरुकुल का खर्च चलाते थे। राज्य की ओर से कभी-कभी गुरुकुल को या आचार्य को अच्छी वृत्ति मिलती थी। आचार्यों का रहन-सहन सीधा-सादा था। साधारण जीवन और उच्च विचार उनके जीवन का लक्ष्य था, अतएव रुपये की कमी उन्हें कभी नहीं खलती थी। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् प्रत्येक विद्यार्थी गुरु को कुछ गुरु-दक्षिणा दिया करता था। गुरु-दक्षिणा विद्यार्थी की आर्थिक स्थिति के अनुरूप होती थी। यदि विद्यार्थी धनी हुआ तो यह दक्षिणा सैकड़ों मुद्राओं में हो जाती थी, पर निर्धन छात्र कोई भी तुच्छ भेंट देकर गुरु-ऋण से मुक्त हो जाता था। कभी-कभी गुरु-दक्षिणा शिक्षा-समाप्त होने के बहुत दिनों बाद दी जाती थी। गुरु-दक्षिणा से आचार्य को पर्याप्त आर्थिक लाभ हो जाता था। गुरुदक्षिणा आवश्यक नहीं थी यद्यपि यह एक नैतिक बंधन अवश्य था। समाज पर शिक्षण-संस्थाओं के व्यय की जिम्मेदारी थी जिसे समाज का प्रत्येक गृहस्थ निबाहता था अतएव प्राचीन शिक्षण-संस्थाओं को आज-कल के विद्यालयों की तरह कोई आर्थिक क्लेश नहीं था।

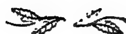
अनुशासन

वर्तमान काल की तरह प्राचीन काल में अनुशासन की कोई समस्या नहीं थी। प्रातः से सायंकाल तक—प्रातः प्राणायाम से लेकर सायं सान्ध्योपासना तक—विद्यार्थी का सम्पूर्ण समय कार्य-व्यस्त रहता था,

अतएव उसे शासन-भंग करने का अवकाश ही नहीं था। आश्रम में आचार्य की ख्याति के कारण विद्यार्थी जाता था अतएव आश्रम-प्रवेश के समय से ही विद्यार्थी पर एक बौद्धिक अनुशासन रहता था। आश्रम अथवा गुरुकुल में विद्यार्थियों की संख्या अधिक नहीं होती थी अतएव आचार्य और शिक्षार्थी में व्यक्तिगत सम्बन्ध रहता था। आचार्य के व्यक्तित्त्व का ब्रह्मचारी पर इतना प्रभाव था कि प्रत्येक विद्यार्थी नैतिक जीवन व्यतीत करता था और जीवन में आचार्य के उच्च आदर्शों का अनुकरण करने का प्रयत्न करता था। शिक्षा में धार्मिक भावनाओं की प्रधानता थी। धार्मिक शिक्षा अनुशासन के लिये आवश्यक है। वर्तमान युग में भी शिक्षा-वैज्ञानिक इस विचार से सहमत हैं। अतएव यदि प्राचीन काल में, आश्रम के सुसंगठित वातावरण में रहकर, विद्यार्थी अनुशासनपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अँगरेजी शासन-काल के प्रारम्भ में भारतीय शिक्षा-पद्धति की जो टूटी-फूटी कड़ियाँ विद्यमान थीं, उनसे यह प्रत्यक्ष है कि भारतीय-शिक्षा प्राचीन काल में ही अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। प्राचीन विदेशी यात्रियों ने भारतीय शिक्षा की अत्यन्त प्रशंसा की है। ह्वेनसांग, फाहियान आदि अनेक चीनी यात्री तो भारतीय विश्व-विद्यालयों में अनेक वर्षों तक विद्यार्थी रहे और उन्होंने बौद्ध दर्शन तथा तत्कालीन भारतीय साहित्य की शिक्षा ली। पर भारत में एकछत्र राज्य स्थापित होने के पूर्व ही भारतीय शिक्षा-पद्धति में कुछ दोष आ गये थे। उत्तर-वैदिक काल में ही शिक्षा का सर्व साधारण से सम्पर्क नहीं रहा था। शूद्र और स्त्रियाँ वैदिक शिक्षा और वैदिक साहित्य के अधिकारी नहीं रहे। पुनश्च वैदिक साहित्य क्लिष्ट होता गया और सर्वसाधारण ने धीरे-धीरे शिक्षा में रुचि लेना बन्द कर दिया। धीरे-धीरे यज्ञ और कर्मकाण्ड बढ़ते गये तथा शिक्षा का वास्तविक स्वरूप छिप गया। बौद्धयुगीण शिक्षा जो सार्वजनिक बोल-चाल की भाषा में, जिसे पाली कहते थे, दी जाती थी। इससे शिक्षा का पुन-

रुद्धार हुआ, पर ब्राह्मण-काल में पुनः संस्कृत का प्रादुर्भाव हो गया। हालाँकि शिक्षा में अव्यवहारिकता का दोष आ गया था, फिर भी सम्पूर्ण हिन्दू-काल और मध्यकाल में प्रतिशत शिक्षित संख्या बहुत अधिक थी और वर्तमान काल के प्रारम्भ में एलिफिन्सटन और अन्य ब्रिटिश शिक्षा-शास्त्रियों ने, जिन्होंने भारतीय शिक्षा-पद्धति के विषय में अन्वेषण किये हैं, इस बात को माना है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति उचित रूप से संगठित थी और तत्कालीन समाज के लिए बहुत उपयोगी थी।



२

प्राचीन विश्वविद्यालय

"प्राचीन भारतीय ऋषियों ने ऐसी शिक्षा प्रणाली का विकास किया जो हजारों साल से सैकड़ों परिवर्तनों के बीच भी जीवित है। साम्राज्य टूटे, समाज बदला, फिर भी शिक्षा की ज्योति ज्यों-की-त्यों जगमगाती रही। यही नहीं इस शिक्षा के फलस्वरूप ऐसे अनेक विचार-मनीषी व्यक्ति हुये जिन्होंने भारत ही नहीं, बल्कि सारे संसार के शिक्षित समाज पर प्रभाव डाला।"[१]

भारतीय शिक्षा के इस जीवित स्वरूप एवं इस सफलता को देख-कर आज भी शिक्षा-वैज्ञानिक आश्चर्य करते हैं। प्राचीन भारतीय

---

१. F. E. Keay. Indian Education in Ancient and later Times. P. 18. "Not only did Brahaman educators develop a system of education which survived the crumbling empires and the changes of society, but they also, through all these thousand of years, kept aglow the torch of higher learning, and numbered amongst them many great thinkers who have left their mark not only on the learning of India, but upon the intellectual life of rhe world."

शिक्षा इतिहास पर एक बिहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है कि प्राचीन काल में भारत ही नहीं, बल्कि अन्य पश्चिमी देशों में भी आज-कल की भाँति संगठित विश्वविद्यालय नहीं थे और न तो शिक्षा-प्रसार-हेतु सरकार इतनी जागरूक ही थी। आज-कल विश्वविद्यालयों एवं अन्य संगठित शिक्षण-संस्थाओं में हजारों विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते हैं, एक साथ छात्रालयों में रहते हैं तथा सैकड़ो आचार्यों के संसर्ग में आते हैं। पर शिक्षा के लिये उनकी रुचि अधिकांशतः विश्व-विद्यालय की चहारदीवारी तक ही सीमित रहती है। रटकर किसी तरह परीक्षा पास कर लेना और उपाधि ग्रहण कर लेना ही उनका एकमात्र ध्येय है ताकि सुविधानुसार वे अपनी उपाधियाँ सरकारी नौकरी के बाजार में बेंच लें। शिक्षा-प्रसार के साथ अनुशासन-विहीनता, उच्छृंखलता तथा उद्दण्डता बढ़ती जाती है और प्रत्येक विचारवान व्यक्ति इसे देख-कर चकित है। वर्तमान शिक्षा के इस कुफल को किस तरह रोका जाय, सब का विचार इसी पर केन्द्रित है। प्राचीन काल में शिक्षा के यह दुष्परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते थे। इसलिये, निश्चित ही हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन पठन-पाठन-प्रणाली, आचार्य और अध्यापकों का स्तर आजकल से ऊँचा रहा होगा। उच्च शिक्षण संस्थाओं से ही समाज में प्रतिनिधि और समाज सुधारक आते हैं अतएव यदि समाज उच्च-शिक्षण विद्यालयों में सुशिक्षा का संगठित प्रबन्ध कर दे तो बहुत सी बुराइयाँ रुक जायँ। प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयों में ऐसी ही शिक्षा का प्रबन्ध था, अतएव भारत अपनी शिक्षा एवं दर्शन के लिये जगत-प्रसिद्ध था तथा इन विद्यालयों में संसार के हर कोने से विद्यार्थी विद्याध्ययन करने हेतु आते थे।

तक्षशिला

भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयों में तक्षशिला का नाम सर्वप्रथम आता है। तक्षशिला का विश्वविद्यालय किस तरह से विकसित हुआ इसका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। तक्षशिला गांधार प्रान्त की

राजधानी थी और हो सकता है कि यही कारण हो कि यहाँ पर चारों ओर से विद्यार्थी आते थे, पर निश्चित है कि ईसा के कई शताब्दी पूर्व भी तक्षशिला अपनी शिक्षा के लिये संसार-प्रसिद्ध था। सिकन्दर महान् के आक्रमण के पहले से ही तक्षशिला अपने दर्शन के लिये ग्रीक दार्शनिकों के बीच प्रसिद्ध था।

तक्षशिला अनेक परिवर्तनों के बीच गुजरा। ईसा से पूर्व छठवीं शदी में इस पर फारसवालों का अधिकार हुआ, दूसरी में इण्डो-बैक्ट्रियन का कब्जा रहा और पहिली में सिरीयन का। प्रथम शताब्दी में इस पर कुशानों का शासन था। लड़ाइयों और परिवर्तनों के बीच इस शिक्षा-केन्द्र को निश्चित ही बड़ा धक्का लगा होगा; क्योंकि प्रत्येक नवीन परिवर्तनों के साथ नवीन प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं।

तक्षशिला का विशेष वर्णन हमें जातकों में मिलता है। इनसे मालूम होता है कि वर्तमान विश्व-विद्यालयों की तरह तक्षशिला में न तो कोई केन्द्रीकरण था और न कोई सुनिश्चित पाठ्यक्रम। प्रत्येक आचार्य स्वतंत्र रूप से शिक्षा देता था और अध्यापक की विद्वत्ता एवं उसकी प्रसिद्धि के कारण ही अधिकतर विद्यार्थी उसके पास एकत्रित होते थे। कहा जाता है कि कभी-कभी प्रधान-आचार्यों के पास ५०० सौ से अधिक विद्यार्थी एकत्र हो जाते थे। पर तत्कालीन शिक्षा संठगन को देखते हुए यह संख्या बहुत अधिक विदित होती है। अधिकतर एक शिक्षक के पास करीब २० विद्यार्थी रहते थे। तक्षशीला की वर्तमान खुदाई में कोई ऐसे हाल नहीं मिले हैं जिनमें बहुत अधिक विद्यार्थी एक स्थान पर एक साथ बैठ सकें। इससे यह प्रत्यक्ष है कि शिक्षा व्यक्तिगत थी और पूर्णरूपेण आचार्यों एवं शिष्यों के सद्भाव पर निर्भर थी। यही भारतीय शिक्षा का प्रमुख गुण है। शिष्य एवं आचार्य के व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण आचार्य को यह अवसर मिलता था कि वह शिष्य पर अधिकाधिक प्रभाव डाले एवं शिक्षा के साथ-साथ चरित्र-निर्माण करे। वर्तमान शिक्षा के व्यापक और व्यापारी स्वरूप धारण करने के कारण शिक्षक एवं शिक्षार्थी का व्यक्तिगत सम्बन्ध

टूट रहा है और इसीलिये विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण की विकराल समस्या उत्पन्न हो गई है।

तक्षशिला में शिक्षा ग्रहण करने के लिये विद्यार्थी करीब १६ या १७ वर्ष की अवस्था में जाता था और उसकी शिक्षा करीब ८ साल तक चलती रहती थी। १६ वर्ष की अवस्था तक विद्यार्थी प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करता रहता था अतएव जब वह तक्षशिला उच्च शिक्षा के लिये जाता था तो उसका इतना बौद्धिक-विकास हो जाता था कि वह उच्च-शिक्षा का लाभ उठा सके। पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त जिसमें वेद और उपनिषद शामिल हैं, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्विद्या, कृषि एवं तन्त्र-शास्त्र की शिक्षा होती थी। जाति के बन्धन कठोर नहीं हो पाये थे। अतएव किसी भी जाति का विद्यार्थी कोई भी विषय पढ़ सकता था। प्राचीन ग्रन्थों में यह उदाहरण मिलता है कि बनारस के एक ब्राह्मण पुरोहित ने अपने पुत्र को तक्षशिला धनुर्विद्या ग्रहण करने के लिए भेजा।

तक्षशिला के प्रतिष्ठित अध्यापकों में चाणक्य का नाम अग्रगण्य है, जिसके चरणों में बैठकर भारत के प्रथम सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने शिक्षा ग्रहण की। चाणक्य राजनीति-शिरोमणि एवं प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ था, जिसकी 'चाणक्य-नीति' आज भी अद्वितीय है। तक्षशिला के विद्यार्थियों में पाणिनि का नाम सुविख्यात है और आज भी पाणिनी से उत्तम कोई भी वैय्याकरण नहीं हुआ।

ईसा की तृतीय शताब्दी तक तक्षशिला प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र रहा, पर इसके पूर्व ही इसका ह्रास प्रारम्भ हो गया था। अनिश्चित राजनैतिक अवस्था जो मौर्य-साम्राज्य के नष्ट होने के बाद प्रारम्भ हुई वह कई सदियों तक चली और इस उथल-पुथल में तक्षशिला को बड़ा धक्का लगा। फिर राजनैतिक केन्द्र पूर्व की ओर पाटलिपुत्र में केन्द्रित हो गया अतएव तक्षशिला की प्रसिद्धि जाती रही। गुप्त काल में फाह्यान नामक जो चीनी यात्री तक्षशिला गया उसके वर्णन से विदित है कि तक्षशिला-शिक्षा-केन्द्र की दृष्टि से नष्ट हो चुका था। तक्षशिला को

अन्तिम रूप से हूणों के आक्रमण ने पांचवी शताब्दी में ध्वंस कर दिया।

नालन्द

शिक्षा का संगठित क्रम बौद्धकाल से प्रारम्भ हुआ। बौद्धों ने धर्म-प्रचार के लिये संघ का संगठन किया। बौद्ध-विहार एवं संघाराम जो बौद्धों के वर्षा-कालीन शान्ति-गृह थे कालान्तर से संगठित विद्यालयों के रूप में परिवर्तित हो गये, जिसमें बौद्ध-धर्म एवं दर्शन के अतरिक्त हिन्दू-धर्म और दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी। स्नातक शिक्षा के बाद अधिकतर या तो धर्म-प्रचार करते थे या शिक्षा-दान में ही अपना जीवन बिताते थे। पर अधिकतर वे अपना स्वतंत्र जीवन बिताते थे।

नालन्द विश्वविद्यालय का विकास ईसा की ५वीं शताब्दी में गुप्त-काल में हुआ। गुप्त-राजे हिन्दू धर्म को मानते थे अतएव उन्होंने इस बौद्ध-केन्द्र की सहायता की, इससे उनकी धार्मिक सहिष्णुता प्रकट होती है। नालन्द पटना से ४० मील दक्षिण-पश्चिम और राजगिर से ७ मील उत्तर की ओर स्थित है। फाहियान जब ४१० ई० में भारत आया था तब नालन्द एक साधारण स्थान था। सम्भावतः कुमार गुप्त प्रथम ने यहाँ पर प्रथम बौद्ध-विहार का शिलान्यास किया और अन्य गुप्त राजाओं ने अन्य संघाराम बनवाये। खुदाई से पता चला है कि बौद्ध नालन्द, विश्व-विद्यालय एक मील लम्बे और आधे मील चौड़े क्षेत्र में स्थित था तथा इसमें अनेक बिहार और संघाराम बने थे। केन्द्रीय विद्यालय में एक बड़ा हाल और करीब ३०० कमरे हैं जिनमें अध्यापन होता था।

नालन्द विश्वविद्यालय की विशेषता यह है कि उसमें विद्यार्थियों की शिक्षा के साथ उनके रहने और खाने का भी प्रबन्ध था। इसका व्यय स्थानीय जनता या तत्कालीन राजे महाराजे उठाते थे। कभी-कभी तो विद्यार्थियों की संख्या दस हजार तक पहुँच जाती थी। पर साधारणतः

यहाँ पर विद्यार्थियों की संख्या ३ से ५ हजार तक रहती थी। नालन्द की ख्याति अन्तर्राष्ट्रीय-जगत में फैल चुकी थी और इस विश्व-विद्यालय में चीन, जापान, लंका, जावा, सुमात्रा आदि पूर्वी देशों से विद्यार्थी बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करने आते थे। नालन्द में बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय की शिक्षा दी जाती थी। पर जैसा पहिले कहा गया है महायान सम्प्रदाय के अलावा हीनयान समुदाय, हिन्दू-दर्शन एवं अन्य जन-साधारण सम्बन्धी उपयोगी-शिक्षा भी इन बौद्ध विद्यालयों में दी जाती थी ताकि विद्यार्थी की सर्वांगीण उन्नति हो और तर्क में वह अपने प्रतिद्वन्दी से लोहा ले सके।

सातवीं शताब्दी में जब ह्वेनसांग भारत की तीर्थयात्रा करने आया था, उस समय नालन्द अपनी चरम-सीमा पर था। हर्ष के बाद नालन्द का ह्रास शुरू हुआ। पर बारहवीं शताब्दी तक यह शिक्षा का केन्द्र बना रहा। १२ वीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी ने इसके विशाल पुस्तकालय और इमारतों में आग लगा दी और सारा स्थान जलकर राख हो गया।

विक्रम शिला

विक्रम शिला दूसरा बौद्धों का शिक्षा केन्द्र था। यह विश्वविद्यालय मगध में गंगा-तट पर स्थिति था, पर इसका निश्चित स्थान अभी तक ज्ञात नहीं हुआ। इसकी स्थापना धर्मपाल नामक सम्राट ने की थी और इतना अनुदान दिया कि भिक्षुओं एवं विद्यार्थियों की शिक्षा का व्यय चलता रहे। नालन्द की तरह विक्रम शिला भी महायान सम्प्रदाय का शिक्षा का केन्द्र था। १२ शताब्दी में इसमें प्रायः ३ हजार विद्यार्थी भिक्षु शिक्षा पाते थे। नालन्द के साथ यह विश्व विद्यालय भी मुसलमानों ने नष्ट कर दिया।

इन विश्व-विद्यालयों का शासन बहुत ही सीधा था। विश्व-विद्यालय का प्रधान-आचार्य प्रधान मठाधीश होता था जिसका सम्भवतः चुनाव होता था। एक बार चुनाव हो जाने पर वह जीवन-पर्यन्त रहता था। बहुत निकृष्ट कार्य करने पर ही वह हटाया जाता था। उसकी

सहायता करने के लिये भिक्षुओं की छोटी-छोटी कमेटियाँ होतीं थीं जो मठाधीशों के कार्यों में सहायता पहुँचाती थीं। प्रधान मठाधीश, आचार्य एवं भिक्षुओं का जीवन बहुत साधारण होता था। अतएव इन विश्वविद्यालयों को आर्थिक क्लेश नहीं था।

वल्लभी

बल्लभी गुजरात (काठियावाड़) में हीनयान बौद्ध-सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। यह स्थान शिक्षा के साथ व्यापार का भी केन्द्र था और राजधानी थी, अतएव बहुत ही समृद्धिशाली था। बल्लभी की प्रसिद्धि नालन्द की ही तरह थी और यहाँ पर दक्षिण तथा पूर्व एवं उत्तरी भारत के विभिन्न भागों से विद्यार्थी विद्या-अध्ययन करने आते थे।

उज्जैन एवं अवन्तिका

बल्लभी के साथ ही मध्य भारत में गुप्त युग में मालवा के अन्तर्गत उज्जैन एवं अवन्तिका भी शिक्षा के प्रमुखकेन्द्र थे।

बनारस

प्राचीन काल से ही काशी शिक्षा के लिये प्रसिद्ध है, पर पौराणिक काल में बनारस की प्रसिद्धि अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। बनारस हिन्दू एवं बौद्ध दोनों प्रकार की शिक्षा का केन्द्र था एवं यहाँ के पण्डित अपनी विद्वत्ता के लिये भारत भर में प्रसिद्ध थे। गुप्त-राजाओं के समय में बनारस की ख्याति प्रधान थी और भारत के हर एक कोने से विद्यार्थी हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की शिक्षा के लिये आते थे।

इन प्राचीन शिक्षा-केन्द्र एवं विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त प्रत्येक मन्दिर शिक्षा का केन्द्र था, जिनमें स्थानीय विद्यार्थी शिक्षा-ग्रहण करते थे। कभी कभी तो इन मन्दिरों में बड़े उच्च विद्वान रहते थे, जो

गम्भीर अध्ययन एवं पठन-पाठन में विद्यार्थियों की सहायता किया करते थे। दक्षिण के इस प्रकार ख्याति-प्राप्त अनेक मन्दिरों का वर्णन अब भी मिलता है, जिनमें सालोतगी, इनायीराम एवं मलकापुरम् आदि के नाम प्रमुख हैं।

उच्च शिक्षा की ओर केवल वही विद्यार्थी अग्रसर होते थे, जिनमें रुचि एवं बुद्धि होती थी। अधिकतर विद्यार्थी प्रारम्भिक शिक्षा के बाद गृहस्थ-जीवन में प्रविष्ट होते थे, पर जिन्हें शिक्षा-दीक्षा या धर्म-प्रचार में अपना जीवन व्यतीत करना था, उन्हें उच्च शिक्षा आवश्यक थी। इनको वश्व-विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। साथ ही गणित, ज्योतिष, तर्क, न्याय धनुर्विद्या एवं आयुर्वेद की भी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के इन विश्व-विद्यालयों में नालन्द, विक्रमशिला और बल्लभी बहुत प्रसिद्ध थे।

विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट होने के लिये कठिन परीक्षा देनी पड़ती थी। विक्रमशिला में प्रविष्ट होने का वर्णन मिलता है। इस विश्व-विद्यालय में प्रविष्ट होने के लिये सर्व प्रथम स्नातकों को द्वार-पंडित से शास्त्रार्थ करना पड़ता था। जब द्वार-पंडित स्नातकों की परीक्षा से सन्तुष्ट हो जाते थे तो उन्हें विद्यालय में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिलती थी। इस तरह के छः द्वार-पंडितों का नाम विक्रमशिला विश्व-विद्यालय के वर्णन में मिलता है।

दीक्षांत भाषण

विश्व-विद्यालय छोड़ने के समय स्नातकों को अन्तिम उपदेश दिया जाता था, जो वर्तमान विश्वविद्यालयों के दीक्षांत-भाषणों की तरह होता था। एक दीक्षांत भाषण का अनुवाद नीचे दिया जाता है :—

"सच बोलो। कर्त्तव्य का पालन करो। नैतिक-धार्मिक क्रियाओं का पालन करो गुरु-दक्षिणा देने के बाद गृहस्थ-जीवन में प्रविष्ट हो। सत्य से विचलित न हो। कर्तव्य-पथ से न डिगो। लाभ-प्रद वस्तु की उपेक्षा

न करो। महत बनने का मौका न चूको। नैमित्तिक-क्रियाओं और वेद का स्वाध्याय न भूलो। ईश्वर एवं पैतृक कर्त्तव्यों का पालन करो।

"माँ को ईश्वर की तरह मानो। पिता तुम्हारे लिये ईश्वर तुल्य है। गुरु ईश्वर तुल्य है। अतिथि ईश्वर तुल्य है।

"जो कार्य अच्छे हैं उन्हीं का पालन करो। जो कार्य हमने किये हैं उन्हीं का अनुकरण करो। हम से जो श्रेष्ठ आचार्य हैं उनका स्वागत करो।

"दान प्रसन्नता, नम्रता, डर एवं दयालुता तथा विश्वास के साथ देना चाहिये।

"भ्रम के समय ब्राह्मणों की तरह व्योहार करो जब तक कि वे तुम्हारे लिये कार्य कठिन न हो।

"इस तरह कार्य करो। यही धर्म है। यही शिक्षा है। यही वेद-वाक्य है। यही आज्ञा है। इसी का पालन करना चाहिये और यही पालन करना चाहिये।"



३

मुसलमान-युग की शिक्षा

दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारतीय इतिहास में मुसलमान-काल अपने साहित्य और ललित-कला के लिये अद्वितीय रहा है। भारत की महान विभूतियाँ, महाकवि तुलसीदास तथा सूरदास, गायनाचार्य तानसेन और बैजू बावरा इसी युग की देन हैं। वस्तु-कला का ज्वलन्त उदाहरण ताजमहल है। चित्रकला के अनेक अद्भुत नमूने प्राप्य हैं। पर मुसलमान-युग की प्रमुख देन है, संसार की दो महान सभ्यताओं में सामंजस्य स्थापित करना, और वे हैं हिन्दू और मुसलमान सभ्यतायें। कुछ अपवादों को छोड़ प्रायः सभी मुसलमान सम्राटों ने प्रजा के सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ शहरों में तथा गाँवों में साथ-साथ रहती थीं; अतएव कालान्तर में एक ऐसी नवीन सभ्यता का विकास हुआ, एवं ऐसे समाज का निर्माण हुआ, जिनमें दोनों सभ्यताओं के प्रमुख गुणों का समावेश है और इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें मुसलमान-युग की शिक्षा में मिलता है। मुसलमान-युग की शिक्षा का प्रमुख गुण एवं महान विशेषता है, हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करना। यह क्रम आठवीं शताब्दी में अरबों के सिन्ध में आगमन से प्रारम्भ हुआ और

प्रायः १६वीं शताब्दी तक चलता रहा। अकबर ऐसे महान् सम्राट ने इस सामंजस्य में विशेष योग दिया। पर अधिकांशतः यह क्रम समाज में शनैः शनैः चलता रहा और इसका प्रस्फुटित स्वरूप हमें संत कबीर, नानक और चैतन्य की वाणी में मिलता है। मुसलमान अपने मकतब में और हिन्दू अपनी शाला में अपने ढंग से इसके लिये प्रयत्नशील था। शिक्षा की यही दार्शनिक पृष्ठ-भूमि हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण कर सकती है। यों तो भारतीय शिक्षा का जो क्रम वैदिक युग में प्रारम्भ हुआ और जिसकी पुष्टि महर्षि बाल्मीकि और वशिष्ट ने की थी, वही क्रम बिना विशेष व्यक्तिक्रम के सम्पूर्ण हिन्दू-युग और मुसलमान-काल में जारी रहा, तथा उसकी शृंखला अब भी शेष है पर उसमें काल-विशेष की छाप अवश्यम्भावी थी और मुसलमान-काल की शिक्षा की विशेषतायें उस युग की विशेषतायें हैं।

मौलवी का समाज में स्थान

कुरान में शिक्षा को एक कर्त्तव्य का स्थान दिया गया है और मध्यकाल में प्रायः सब मुसलमान देशों में शिक्षा एवं शिक्षित विद्वानों का बहुत आदर होता था, हालांकि शिक्षा का इतना अधिक प्रचार नहीं था। भारतवर्ष में भी मुसलमान बादशाहों ने इस्लाम की यह परम्परा कायम रक्खी। शिक्षकों का समाज में बहुत आदर था और साधारणतः वे धार्मिक एवं सभ्य व्यक्ति होते थे। गुरु और शिष्य का वही सम्बन्ध था, जो हिन्दू काल में था। मौलवी और पंडित जो धर्म और शिक्षा के समाज में अधिष्ठाता थे, उनका सभी आदर करते थे। यद्यपि उस समय भी शिक्षक-समुदाय इतना धनी नहीं था, पर उनकी आवश्यकतायें कम थीं और समाज में प्रतिष्ठा होने के कारण उनका आर्थिक-कष्ट वर्तमान युग की भाँति दुखदायी नहीं था।

मकतब और मदरसा

भारतीय मुसलमान बादशाहों ने शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया और शिक्षा प्रचार के लिये उन्होंने पाठशालाओं, महाविद्यालयों एवं

पुस्तकालयों की स्थापना की। बादशाह का अनुकरण करके अमीरों ने भी शिक्षा में योग दिया। कवियों और विद्वानों को बादशाह एवं व्यक्तिगत अमीरों की ओर से प्रोत्साहन मिलता था। कभी-कभी तो उनको जीवन पर्यन्त जागीर मिल जाती थी। विद्यार्थियों को राज्य की ओर से वजीफे दिये जाते थे। मुसलमानों के भारत में बस जाने से मस्जिदों का निर्माण हुआ और हिन्दू मन्दिरों की तरह मस्जिदें भी विद्या-केन्द्र हो गयीं। मुसलमान विद्या-केन्द्र को मकतब और मदरसा कहते हैं। साधारण मकतब एक प्राइमरी पाठशाला है, जो किसी मस्जिद से सम्बन्धित रहता है। इसमें क़ुरान के उस भाग की पढ़ाई होती है, जो मुसलमानों को अपने धार्मिक कृत्य के लिये आवश्यक होता है। कभी-कभी इन मकतबों में क़ुरान के अतिरिक्त, प्रारम्भिक ढंग से हिसाब, सुलेख और अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। प्रारम्भिक शिक्षा विशेषकर घरों में दी जाती थी। मदरसा उच्च शिक्षा का केन्द्र है, जिसकी तुलना हम आजकल के महाविद्यालयों से कर सकते हैं। मकतबों की तरह मदरसे भी मस्जिदों और मठों से सम्बन्धित थे। किन्हीं-किन्हीं मदरसों की तुलना तो हम वर्तमान विश्वविद्यालय से कर सकते हैं। इन मदरसों में व्याकरण, तर्क, धार्मिक पुस्तकें एवं उनसे सम्बन्धित अन्य विषय, दर्शन, न्याय, विज्ञान और साहित्य की पढ़ाई होती थी। शिक्षा अरबी और फारसी में दी जाती थी, जिनका ज्ञान मुसलमानों के लिये आवश्यक था।

बादशाहों की शिक्षा-नीति

भारतवर्ष में मुसलमानों का उदय तो सिन्ध के तट पर छठवीं और सातवीं शताब्दी में ही हुआ था, पर अरब देशों के साथ भारत का सम्पर्क इससे भी पुराना है। निश्चित रूप से भारत और मुसलमान देशों का सम्बन्ध १००० ईस्वी सन् से प्रारम्भ हुआ, जब महमूद गजनवी ने भारतवर्ष पर आक्रमण प्रारम्भ किये और भारत के पश्चिमी भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया। १००० ई०

सन् से लेकर १८०० ई० सन् तक ८०० वर्ष में अनेक मुसलमान वंशों ने भारतवर्ष पर राज्य किया जिसमें दास, खिलजी, तुगलक, सैयद और लोदी-वंश तथा मुगलवंश प्रमुख हैं। इन वंशों के विभिन्न बादशाहों की शिक्षा के प्रति विभिन्न नीति थी, जो सदैव अनिश्चित रहती थी। साधारणतः इन बादशाहों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—एक वह जिनका उद्देश्य सिर्फ़ विजय करना था और जो न तो स्वयं अधिक शिक्षित थे और जिन्होंने शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। ऐसे बादशाहों में दास-वंश और खिलजी वंश के अधिकांश सम्राट—जैसे अल्तमश और अलाउद्दीन खिलजी इत्यादि हैं। अल्तमश ने शिक्षा के लिए नाम मात्र का प्रयत्न किया भी, पर अलाउद्दीन खिलजी का सारा समय लड़ाई में ही व्यतीत हुआ। कुतुबुद्दीन के एक दास बख्तियार खिलजी नामक एक सैनिक जनरल ने तो नालन्द और विक्रमशिला के विश्वविद्यालय ही जला दिये थे। तुगलक वंश में मुहम्मद बिन तुगलक और फिरोज तुगलक दोनों बादशाहों ने विद्या-प्रचार के लिए प्रयत्न किया। सैय्यद वंश के भी बादशाह शिक्षा के लिये प्रयत्नशील रहे। मुगल-वंश में सब सम्राट शिक्षित और सभ्य थे और सब ने शिक्षा प्रचार के लिये निश्चित प्रयत्न किए। इसे हम दूसरा भाग कह सकते हैं। तीसरी कोटि में वे बादशाहआते हैं, जो शिक्षा के प्रति उदासीन रहे अथवा जिन्होंने शिक्षा-प्रचार के लिये कोई निश्चित प्रयत्न नहीं किये।

उर्दू की उत्पत्ति

पहिले मकतब और मदरसों में केवल मुसलमानों की ही शिक्षा होती थी, पर चौदहवीं शताब्दी में हिन्दू और मुसलमानों ने एक दूसरे की भाषा पढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। इसी समय उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्पर्क से ही नई भाषा उर्दू का विकास हुआ। उर्दू भाषा केवल पश्चिमी हिन्दी का फारसी अक्षरों में लिखा जाना-मात्र है। इसमें अरबी और

फारसी के अधिक शब्द होते हैं। उर्दू शब्द का शाब्दिक अर्थ है 'शिविर'। मुगल अधिकतर इस भाषा का प्रयोग शाही शिविरों में किया करते थे। पर इस भाषा का वर्तमान स्वरूप 'गोरी-काल' में ही प्रारम्भ हो गया था। धीरे-धीरे यह भाषा सारे उत्तर भारत में प्रयुक्त होने लगी।

उत्तर भारत में ही नहीं, दक्षिण में भी शिक्षा का प्रचार मुसलमान-युग में पर्याप्त हुआ। मुसलमानों ने दक्षिण में अपने राज्य स्थापित किये। इनमें बहमनी राज्य सर्वप्रमुख था। बहमनी राज्य के प्रसिद्ध मन्त्री महमूद गवाँ ने बीदर में एक कालेज स्थापित किया, जिसकी ख्याति भारत में ही नहीं, तत्कालीन सम्पूर्ण अरब और मुसलमान देशों में थी।

मुगल सम्राटों का शिक्षा-प्रेम जगत-विख्यात है। उनमें फारसी सभ्यता की वह पुट थी, जो उनकी क्रूरता को भी छिपा लेती थी। बाबर जिन्दगी भर लड़ता रहा; पर उसकी विजयों से भी अधिक महत्वपूर्ण है उसकी कविता। बाबर को आत्मचरित्र लिखनेवालों का सम्राट कहते हैं। निश्चय ही उसकी जीवनी में ऐसी घटनायें हैं और उसका वर्णन उसने ऐसे रोचक ढंग से किया है कि उसे पढ़कर मनुष्य मन्त्र मुग्ध हो जाता है। यदि ऐसा सम्राट शिक्षा के लिये प्रयत्नशील हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या। पर बाबर को विजय के पश्चात् समय ही नहीं मिला। बाबर ने तत्कालीन भारतवर्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि भारत-वर्ष में कोई अच्छे कालेज नहीं है। बाबर इस कमी को महसूस करता था और निश्चय ही इस ओर प्रयत्नशील होता, यदि उसे समय मिलता। हुमायूं जिन्दगी भर घूमता ही रहा, पर उसे भी शिक्षा-प्रेम था। उसने दिल्ली में एक विद्यालय की स्थापना की थी। उसे पुस्तकों से विशेष प्रेम था और अन्त में अपने पुस्तकालय की सीढ़ियों पर से उतरते हुए ही गिरकर उसकी मृत्यु हुई थी।

अकबर के शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त

अकबर महान मुगल सम्राट था। शिक्षा के नाम पर उसे अक्षर-ज्ञान भी नहीं था। पर उसने शिक्षा के लिये जो प्रयत्न किये, वह

आजकल के शासकों और शिक्षा-सुधारकों के लिये उदाहरण स्वरूप है। अबुल फजल ने, जो अकबर का प्रधान मंत्री था अकबर के कानूनों (आइने-अकबरी) में शिक्षा के विषय में लिखते हुए लिखा है :—

"हरएक देश में और विशेष तौर पर हिन्दुस्तान में बच्चों को कई वर्ष तक स्कूल में केवल अक्षर-ज्ञान ही कराते हैं। लड़कों के जीवन का कई साल पुस्तकों के पढ़ाने में ही खर्च हो जाता है। सम्राट की आज्ञा है कि पहले लड़कों को अक्षर और उनके अनेक रूप का ज्ञान कराया जाय। पहिले दो दिन तक उन्हें अक्षर-ज्ञान कराना चाहिये। फिर उन्हें संयुक्ताक्षरों का ज्ञान कराना चाहिये। यह क्रम एक सप्ताह तक चलाया जा सकता है। इसके पश्चात् लड़के को कविता का ज्ञान कराना चाहिये, ताकि वह ईश्वर की कुछ प्रार्थना याद कर ले। इस बात का विशेष ध्यान देना चाहिये कि लड़का हर एक चीज समझ लेता है। शिक्षक विद्यार्थी को थोड़ी बहुत मदद दे सकता है। हर रोज विद्यार्थी को सुधार के लिये कुछ-न-कुछ लिखना चाहिये। शिक्षक को पाँच चीजों का ख्याल रखना चाहिये। वे हैं अक्षर-ज्ञान, शब्दों का अर्थ, सुलेख, कविता और पूर्व पाठ। अगर यह पद्धति प्रयोग में लाई जाय तो लड़का एक महीने में ही इतना पढ़ जाय, या एक दिन में ही उसे इतना अक्षर-ज्ञान हो जाय, जो दूसरों को पढ़ने में सालों लगे और जिसे देखकर लोग चकित हो जायँ। हर एक विद्यार्थी को नैतिक ज्ञान, हिसाब, कृषि, खेतों की नाप, भूमिति, सरकार के कानून, वैद्यक, इतिहास आदि विषय की पुस्तकें पढ़नी चाहिये। संस्कृत पढ़ने वाले लड़कों को न्याय, वेदान्त, और पाताञ्जिल-भाष्य आदि पढ़ना चाहिये। आज-कल जिन विषयों की आवश्यकता है, उसका ज्ञान आवश्यक है और उसके विषय में कोई ढिलाई नहीं कर सकता। इन कानूनों से स्कूलों में नया प्रकाश आवेगा और मदरसों में ज्योति चमक उठेगी।"

अकबर के उपरोक्त कानून में नवीन शिक्षा-पद्धति के आधार-भूत नियमों की झलक है। सम्राट के मस्तिष्क में सम्भवतः यह बात थी कि जो कुछ भी किया जाय, वह ठीक ढंग से किया जाय। यह

कथन कि 'विद्यार्थी प्रत्येक चीज समझ जाय और शिक्षक उसे बहुत कम मदद दे' वर्तमान युग के शिक्षण-कला का प्रमुख उद्देश्य है। 'वर्तमान काल में जिस ज्ञान की आवश्यकता है, उसे सब को सीखना चाहिये' द्वारा इस बात पर जोर दिया जाता है कि शिक्षा में व्यावहारिकता का पुट होना आवश्यक है। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ललित कलाओं के प्रेमी थे और उन्होंने शिक्षा और कला-प्रसार के लिये जागीरें दीं, कवि और चारणों को दरबार में समुचित आदर देकर उन्हें प्रोत्साहित किया। बर्नियर नाम के एक फ्रांसीसी ने शाहजहाँ के समय की शिक्षा के विषय में लिखते हुये लिखा है—'समाज में शिक्षा की प्रगति नहीं थीं। कोई भी विद्यालय या कालेज के लिये दान नहीं देता था।' बर्नियर को भारतवर्ष की शिक्षा-विषयक समस्याओं का कोई विशेष ज्ञान नहीं प्रतीत होता। अतएव बर्नियर का कथन विश्वसनीय नहीं है।

औरंगजेब स्वयं शिक्षित था। उसके पत्र जो उसने अपने लड़कों को लिखे हैं, आज भी साहित्य के उत्तम नमूने हैं। हालांकि औरंगजेब ने हिन्दुओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिया और कभी-कभी मन्दिरों पर आक्रमण भी किये पर उसके यह कार्य साम्राज्य की रक्षा एवं सिंहासन की हिफाजत के दृष्टिकोण से किये गये थे। उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि वह साधारण हिन्दू प्रजा की शिक्षा में कोई अड़ंगा डालता। जन-साधारण की शिक्षा मन्दिरों और मस्जिदों में यथावत चलती रही। औरंगजेब के शिक्षा-सम्बन्धी विचार पर्याप्त स्पष्ट हैं। उसने जो उत्तर अपने शिक्षक मुल्लाशाह को दिया है, वह अब भी शिक्षा-सुधारकों के लिये एक संकेत है विशेषकर कट्टर धर्मान्ध या शिक्षा में राज्य के दखल देने का समर्थन करनेवाले शिक्षा-सुधारकों के लिये। शाह जी औरंगजेब से यह उम्मीद करके गये थे कि साम्राज्य प्राप्ति पर उनका शिष्य उन्हें दक्षिणा देगा, तब उसने अपने शिक्षक मुल्लाशाह को सम्बोधित करके कहा—"मुल्ला जी, कृपा करके यह बताइये कि आप हमसे क्या चाहते हैं। यदि हम आपकी

सेवाओं का और विशेषकर आपकी शिक्षा की ओर ध्यान दें तो हम यह कह सकते हैं कि हम आपके कृतज्ञ नहीं हैं। सुशिक्षित व्यक्ति के शिक्षक का स्थान उसके पिता के स्थान से उच्च है। पर आपने हमें क्या पढ़ाया। आपने मुझे पढ़ाया कि इंगलैंड एक छोटा सा टापू है और फ्रान्स तथा इंगलैंड के राजा हिन्दुस्तान के एक छोटे राजा के बराबर हैं। आपके कथनानुसार भारतवर्ष के ही राजा सारे संसार के सबसे बड़े राजा हैं।" औरंगजेब ने अपने शिक्षक को उस समय की शिक्षा की सारी बुराइयाँ बतायीं और शिक्षक को उसके अल्पज्ञान पर लज्जित किया। शिक्षक को जब अपनी गलती मालूम हुई, तो वह अपना-सा मुँह लेकर चला गया। इससे हमें औरंगजेब के स्वभाव और शिक्षा पर उसके विचार साफ प्रकट होते हैं।

औरंगजेब भी मृत्यु के पश्चात् मुगल साम्राज्य सौ वर्ष से अधिक जीवित रहा; पर उसकी शक्ति नष्ट हो गयी थी। विलासी मुगल सम्राट दिल्ली में ही नाच-रंग में मस्त रहते थे। सूबे स्वतंत्र होने लगे और सूबेदारों ने स्वतन्त्र रूप से अपने राज्य कायम कर लिये। पर इन सरदारों और जागीदारों ने शिक्षा और कला को जीवित रक्खा। कुछ नवाबों ने तो अपने समय का विशेष भाग शिक्षा और विद्वानों का आदर करने में खर्च किया। धीरे-धीरे मुगल नवाब नष्ट हुए और भारत अंगरेजों के चंगुल में फँसा। उन्होंने शिक्षा-प्रचार अपने हाथ में लिया। पर प्राचीन शिक्षण-संस्थाओं को कोई सहायता नहीं दी जिससे वे विनष्ट हो गईं। आजकल की वर्तमान अज्ञानता इसी का फल है।

शिक्षा का विषय

जैसा पहिले कहा गया है, सम्पूर्ण हिन्दू काल में और मुसलमान-युग में शिक्षा पर धर्म का प्रभाव था। शिक्षा का प्रमुख दृष्टिकोण एक संकुचित रूप से चरित्र-निर्माण करना था। चरित्र की व्याख्या धार्मिक व्याख्या के अनुकूल थी। अतएव ऐसी अवस्था में धार्मिक

शिक्षा की प्रधानता थी। हिन्दू अपने मन्दिरों में और मुसलमान अपनी मस्जिदों में अपने धर्म के अनुसार शिक्षा ग्रहण करते थे। साथ ही गणित ज्योतिष, न्याय, दर्शन, मीमांसा, वैद्यक, विज्ञान और कृषि की भी शिक्षा अपने-अपने ढंग से पाठशालाओं और मदरसों में भी दी जाती थी। सरकार शिक्षा में आर्थिक सहायता तो देती थी, पर वर्तमान काल की तरह न तो सरकार ने कोई शिक्षा-विभाग ही संगठित किया था और न तो कोई शिक्षा-संचालक ही था। अकबर और औरंगजेब ऐसे महान शासकों ने शिक्षा पर कभी-कभी अपने विचार अवश्य प्रकट किये और उन्हें कानून की पुस्तकों में भी स्थान दिया, पर उनके दृष्टिकोण का कार्य-प्रणाली पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

शिक्षा-पद्धति

शिक्षा व्यक्तिगत अध्यापकों पर निर्भर थी। मौलवी और पंडित अपने अपने मदरसों में और पाठशालाओं में शिक्षा देते थे। सरकार उन्हें जीविका निर्वाह के लिये जागीर या वजीफा देती थी। पढ़ाने का ढंग कण्ठस्थ कराना था। हर एक मौलवी अपना ज्ञान अपने विद्यार्थियों को कंठस्थ करा दिया करता था, अतएव मौलवी या पंडित की योग्यता पर ही उसे विद्यार्थी मिलते थे और इसी से उनकी आमदनी बढ़ती थी।

मुसलमान-युग की शिक्षा पहिले मुसलमानों तक ही सीमित थी। अधिकतर मुसलमानों की आबादी शहरों में थी। पर मुसलमानों के भारतवर्ष में बस जाने पर और स्थानीय निवासियों का मुसलमान धर्म स्वीकार कर लेने पर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध गाँवों में भी हुआ। मुसलमानों में नवाबों और शाही राजकुमारों के मकतब में पढ़ने का एक उत्सव होता था। यह उत्सव जब लड़का ४ वर्ष ४ माह और ४ दिन का हो जाता था, तब होता था। इसके बाद वह मकतब में बैठाया जाता था। यह संस्कार ठीक हिन्दुओं के उपनयन-संस्कार से मिलता-जुलता था। इससे मालूम होता है कि विद्यारम्भ उस समय शीघ्र हो जाता था।

शिक्षा केन्द्र

मुसलमानों की विशेष आबादी शहरों में संगठित थी, अतएव मुसलमान युग के शिक्षा केन्द्र विशेष रूप से शहरों में ही स्थित थे। इनमें दिल्ली, आगरा, जौनपुर और लखनऊ विशेष प्रसिद्ध हैं। उत्तर भारत में जौनपुर, तथा दक्षिण भारत में बीदर का नाम भारत में ही नहीं, बल्कि सारे मुसलमान देशों में प्रसिद्ध था।



४

वर्तमान शिक्षा का प्रारम्भ

भारत में मुगल साम्राज्य के विनाश एवं ब्रिटिश साम्राज्य की संस्थापना के बीच का समय नितान्त अनिश्चित और अव्यवस्थित रहा है। विशाल मुगल साम्राज्य के स्थान पर छोटे-छोटे प्रान्तीय अधिपति हो गये थे, जिनका पारस्परिक सम्बन्ध द्वेषपूर्ण था। राजाओं में आपस में लड़ाई हुआ करती थी। समाज में उत्तरोत्तर अनिश्चितता बढ़ने के कारण चोर और ठगों का बाहुल्य हो रहा था। ऐसी अवस्था में शिक्षा एवं ललित कलाओं का ह्रास होना प्राकृतिक था। शिक्षा के प्राचीन केन्द्र विनष्ट हो गये थे। मुगल-काल में उनका जीर्णोद्धार नहीं हो पाया। इसी बीच ब्रिटिश व्यापारियों ने राजनैतिक सत्ता हड़पने के लिये कशमकश शुरू की। इस द्वन्द्व में शताब्दियों तक शिक्षा-प्रसार के प्रति किसी भी केन्द्रीय सरकार का ध्यान ही नहीं गया। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी अनिश्चित और अव्यवस्थित अवस्था में भी भारतीय शिक्षा का प्राचीन क्रम नहीं टूटा। इसका रहस्य भारतीय शिक्षा-पद्धति की जीवन-शक्ति में निहित है। एक आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्री ने इस पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है, "संसार के कुछ ही देशों में शिक्षा-पद्धतियाँ इतनी प्राचीन और क्रमिक रही हैं तथा अत्यन्त अल्प सुधारों के साथ जीवित रह सकी हैं, जितनी भारतीय शिक्षा-

पद्धतियाँ हैं। पश्चिमी देशों में तो निश्चित ही ऐसी कोई शिक्षा-पद्धति नहीं थी। इन लम्बी शताब्दियों के बीच जिनमें ऐसी शिक्षा जीवित रह सकी, यह बात साफ प्रकट करती हैं कि उनमें कुछ ऐसे गुण थे जो तत्कालीन समाज के लिये अवश्य ही उपयुक्त थे।"*

मुगल-युगीन शिक्षा के अवरुद्ध क्रम एवं वर्तमान शिक्षा प्रणाली के प्रारम्भ होने के पूर्व का सन्धि-काल शिक्षा और साहित्य की उन्नति के लिये सचमुच ही अनुपयुक्त था। साहित्य और कला की उन्नति समाज पर निर्भर रहती है। शिक्षा समाज को सजीव रखने के लिये सजीवनी है। अतएव मृतक समाज में शिक्षा भी विनष्ट हो जाती है। पर प्राचीन शिक्षा को जीवन शक्ति अद्भुत् थी। इसी कारण वह सामाजिक भूकम्पों के बीच भी जीवित रह सकी। ब्रिटिश शिक्षा-प्रणाली के प्रारम्भ में जिन शिक्षा-शास्त्रियों ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली के विषय में छान-बीन की है उनका यह निश्चित मत है कि प्राचीन शिक्षा प्रणाली तत्कालीन समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी थी और राष्ट्रीय शिक्षा के विकास का श्रेष्ठतम आधार वही शिक्षा-प्रणाली हो सकती थी। वर्तमान युग के प्रारम्भ में इस शिक्षा-प्रणाली के विनष्ट कर देने के कारण ही भारतवर्ष में निरक्षरता बढ़ी और ऐसा अज्ञानान्धकार हुआ जिसको विनष्ट करने के लिये स्वतन्त्र भारत को सम्पूर्ण शक्ति लगानी पड़ेगी।

---

*"Few countries and certainly no western ones, have had systems of education which have had such a long and continuous history with so few modifications as some of the educational systems of India. The long centuries through which they have held sway show that they must have possessed elements which were not unsuited to the needs of those who developed and adopted."

F. E. Keay.

मुनरो, एलिफिन्सटन एवं एडम्स रिपोर्ट

ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली के प्रारम्भ में स्थानीय और देशी शिक्षा के विषय में छान-बीन प्रारम्भ हुई ताकि उसी को आधार बनाकर भविष्य का कार्यक्रम बनाया जा सके। इसके पूर्व भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की कोठियों में उनके भारतीय नौकरों, धर्म-परिवर्तित भारतीय इसाइयों एवं अंगरेजों के लड़कों की शिक्षा के लिये कम्पनी की कोठियों में कुछ स्कूल खोले गये थे। पर उनकी गणना बहुत कम थी। सबसे प्रथम शिक्षा प्रसार के लिये जो प्रयत्न हुए उनके अन्तर्गत मद्रास, बम्बई और कलकत्ता प्रेसिडेन्सियों के अंतर्गत तत्कालीन भारतीय शिक्षा की अवस्था जानने के लिये खोज प्रारम्भ हुई। इनमें तीन रिपोर्टें प्रमुख हैं। सर्वप्रथम मद्रास प्रेसिडेंसी में सर टामस मुनरो की आज्ञा द्वारा प्रत्येक जिले के कलेक्टरों की रिपोर्टों के आधार पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई थी। द्वितीय रिपोर्ट बम्बई प्रेसिडेन्सी में माउन्ट स्टुअर्ट एलिफिन्सटन की आज्ञा द्वारा जिला-जजों की रिपोर्ट के आधार पर तैय्यार की गई और तीसरी रिपोर्ट लार्ड विलियम बेन्टिंग की आज्ञा से विलियम एडम्स नामक एक मिशनरी ने प्रकाशित की। एडम्स ने बंगाल में अपने सहायकों द्वारा प्रत्येक स्कूल की खोज करने के बाद रिपोर्ट तैयार की थी। अतएव एडम्स की रिपोर्ट अधिक विश्वसनीय है। इन रिपोर्टों में तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था और पढ़े-लिखे लोगों की गणना की गई है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में शिक्षा का यह सर्वे नितान्त विश्वसनीय नहीं है और इसीलिये इनके आधार पर विपरीत विचार व्यक्त किये जा सकते हैं पर इन सब रिपोर्टों में एक विचार निश्चित रूप से प्रकट किया गया है और वह है कि, तत्कालीन समाज में प्रारम्भिक शिक्षा की उचित व्यवस्था थी और प्रत्येक मनुष्य को शिक्षा सुलभ हो सकती थी। मुनरो ने लिखा है कि प्राप्त रिपोर्टों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक एक हजार जन संख्या के पीछे एक स्कूल है और यदि इसमें से आधी संख्या औरतों की निकाल दी

जाय तो प्रत्येक पाँच सौ मनुष्यों के पीछे एक स्कूल है। मद्रास में बिलारी जिले के एक कलेक्टर ने विस्तार पूर्वक इसका वर्णन किया था कि लड़का किस तरह विद्यारम्भ करता है।

उसने लिखा है कि ५ वर्ष की अवस्था में लड़कों की शिक्षा प्रारंभ होती है। ५ वर्ष का बालक हो जाने पर शिक्षक को घर पर बुलवाया जाता है और आस-पास के सब पुरजन तथा परिजन एकत्रित होते हैं। बीच में गणेश जी की एक मूर्ति रक्खी जाती है और जिस लड़के को विद्यारम्भ करवाया जाता है उसे मूर्ति के सामने बैठाते हैं। शिक्षक बालक के पास बैठता है। धूप-दीप जलाने के बाद शिक्षक लड़के से गणेश जी की प्रार्थना करवाता है कि गणेश जी बुद्धि प्रदान करें। फिर शिक्षक लड़के का हाथ पकड़ कर चावलों पर 'श्रीगणेश' लिखवाता है। इसके पश्चात् सब लोग लड़के को उपहार देते हैं। दूसरे दिन से लड़के की पढ़ाई शुरू हो जाती है। कुछ लड़के चार पाँच साल तक स्कूल में रहते हैं और कुछ १४-१५ वर्ष तक। लड़कों की पढ़ाई की अवस्था उनकी आर्थिक अवस्था पर निर्भर करती है। माँ-बाप यदि गरीब हुए तो बच्चे की पढ़ाई जल्दी ही खतम हो जाती थी। धनी माँ-बाप के लड़के कई साल तक स्कूल में पढ़ते रहते हैं।

स्कूल का कार्य-क्रम प्रायः सब स्कूलों में एक सा है। पढ़ाई ६ बजे सबेरे प्रारम्भ होती है। जो लड़का सब से पहिले आता है उसकी हथेली पर 'सरस्वती' लिखा जाता है। यह उसके लिये इज्जत की चीज है। बाद में जो लड़का आता है उसके हाथ पर शून्य का निशान बना दिया जाता है। इसका अर्थ है कि लड़का साधारण है। इसके पश्चात् जो लड़का जितनी ही देर से आता है उसके ऊपर उतने ही अधिक बेंत पड़ते हैं।

सब लड़कों के एकत्रित हो जाने पर कक्षा की पढ़ाई शुरू होती है। एक स्कूल में ४ कक्षायें होती हैं। नीचे की कक्षाओं को 'मानीटर' पढ़ाते हैं। पढ़ने में सब से पहिले लड़कों को अक्षर ज्ञान करवाया जाता है और फिर पढ़ाई की जाती है। लिखाई-पढ़ाई के बाद, जोड़, भाग, गुणा

आदि सिखलाया जाता है। इसके बाद विभिन्न प्रकार की लिखावट का अभ्यास करवाया जाता है। फिर उन्हें चिट्ठी-पत्री लिखने का ज्ञान करवाया जाता है, और कहानियाँ तथा प्राचीन पुस्तकों से पद्य याद करवाये जाते हैं।

जिस कम व्यय से स्कूलों में लड़के पढ़ाये जाते हैं और जिस पद्धति से वयस्क और योग्य छात्र छोटे और निम्न श्रेणी के विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं वह वास्तव में अनुकरणीय है। यह अच्छा ही है कि इसका अनुकरण इंग्लैंड में हुआ। स्थानीय स्कूलों का मुख्य अवगुण यह है कि उनमें उपयुक्त पुस्तकें नहीं है और न तो योग्य अध्यापक ही हैं।

इस रिपोर्ट से यह विदित होता है कि प्राचीन-भारतीय शिक्षा का क्रम अब तक चलता आया था और उसमें कुछ ही परिवर्तन हो पाये थे।

एलफिन्सटन ने इसी तरह की एक रिपोर्ट बम्बई प्रेसिडेन्सी में जिला-जजों की मदद से तैयार की। इस रिपोर्ट में भी वैसी ही बातें विदित हुई जैसी कि मद्रास की रिपोर्ट में थीं। इसके द्वारा मालूम हुआ कि बम्बई के इलाके में १,७०५ स्कूल हैं जिनमें ३५,१५३ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते हैं जब कि बम्बई इलाके की कुछ जन-संख्या ४६, ८१,७३५ है।

बंगाल में एड्म्स ने तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं। प्रथम रिपोर्ट में बताया गया कि बंगाल और बिहार के इलाके में करीब एक लाख स्कूल हैं और यदि यह मान लिया जाय कि बंगाल और बिहार की जन-संख्या ४ करोड़ है तब प्रत्येक ४०० जन संख्या के पीछे एक स्कूल था। लेकिन इस रिपोर्ट की सत्यता पर शिक्षा-अधिकारियों को विश्वास नहीं होता और इसे वे एक काल्पनिक कहानी ही मानते हैं। एडम्स ने अपनी द्वितीय रिपोर्ट में बंगाल के केवल एक थाना नाटोर का सर्वे किया, जिसमें उन्हें मालूम पड़ा कि नाटोर थाने में कुल जन-संख्या १,९५,२९६ है। जिसके लिये कुल २७ प्राइमरी स्कूल हैं जिसमें २६२ विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। इसके अलावा यह भी मालूम हुआ कि

१५८८ परिवारों में, जो २३८ गाँवों में रहते हैं, शिक्षा का व्यक्तिगत इन्तजाम है जिसके अन्तर्गत २३४२ बच्चे शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पाठशालाओं में पढ़नेवालों की अपेक्षा घर पर पढ़नेवालों की संख्या प्रायः ६ गुनी है।

तीसरी रिपोर्ट में एडम्स ने अधिक होशियारी से काम लिया और उसने बंगाल, बिहार के प्रत्येक जिलों के एक थाने के अन्तर्गत जितने गाँव थे उनका सर्वे उसने स्वयं अपनी देख-रेख में करवाया। अन्य थानों का सर्वे उसने अपने साथियों की मदद से करवाया। इससे यह विदित हुआ कि पाठशालाओं में पढ़ने वालों की संख्या का अनुपात ७३ मनुष्यों में १ बालक का है और यदि केवल पुरुषों की संख्या से ही अनुपात लगाया जाय तो ३६ पुरुषों के पीछे १ लड़का स्कूल में पढ़ता था। यह मुनरो की संख्या से कुछ ही कम है।

इन रिपोर्टों में सत्य का अंश कितना है इस पर भी लोगों के विभिन्न विचार हैं। कुछ तो इन्हें बिलकुल ही असत्य मानते हैं और कुछ इन पर विश्वास कर फल निकालने का प्रयत्न करते हैं। इन रिपोर्टों में सत्य का अंश चाहे जितना भी हो, पर इनसे तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की एक झाँकी तो अवश्य मिलती है।

शिक्षक

इनसे मालूम होता है कि उस समय शिक्षा का क्रम प्राचीन भारतीय पद्धति पर ही अवलम्बित था। उसमें समय और स्थान के अनुसार कुछ परिवर्तन अवश्य हो गये थे। शिक्षक का समाज में स्थान सर्वोपरि था यद्यपि उसे आर्थिक लाभ अधिक नहीं था। उच्च कक्षा के व्यस्क विद्यार्थी निम्न श्रेणी के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इससे उनका पाठ भी याद हो जाता था और निम्न कक्षा के विद्यार्थी पढ़ भी लेते थे। इस पद्धति को मानिटोरियल (Monitorial system) पद्धति कहते हैं। इसी पद्धति का अनुकरण करके डा० बेल ने इंगलैंड में १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में निम्न श्रेणी के लड़कों को शिक्षा

दी और इंगलैंड में शिक्षा-प्रसार हुआ। यह अभाग्य ही है कि जिस पद्धति का अनुकरण करके इंगलैंड की साक्षरता बढ़ी उसी का विनाश हो जाने से भारतवर्ष में लोग निरक्षर हो गये। भारतीय शिक्षा के गुणों का वर्णन करते हुये एक लेखक ने लिखा है कि वे स्थानीय वातावरण के अनुकूल थीं। उनमें जीवन शक्ति थी और शताब्दियों तक विभिन्न राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तन के बीच भी जीवित रह कर वे सर्वप्रिय हो गई थीं।*

पाठ्यक्रम

पाठशालायें अलग घरों में बहुत कम थीं। प्राचीन क्रम के अनुसार अधिकतर पाठशालायें मन्दिरों अथवा मस्जिदों में लगती थीं। शिक्षक अधिकतर ब्राह्मण ही थे, पर अन्य वर्ग के लोग भी शिक्षक होने लगे थे। कभी-कभी पाठशालायें किसी धनी आदमी के घर में लगती थीं। एडम्स और मुनरो को अपने सर्वे में इस तरह की अनेक पाठशालायें मिली थीं जिनकी संख्या वास्तविक पाठशालाओं से कहीं अधिक थी। स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या कम होती थी। कभी-कभी स्कूलों में एक, दो से लेकर दस या १५ विद्यार्थी तक ही होते थे। कोई भी लड़का कभी भी स्कूल में दाखिल हो जाता और अपने आप पढ़ाई शुरू कर देता। उसकी अलग ही कक्षा बन जाती थी। पाठशाला स्थानीय सुविधा के अनुसार खुलती थी। अधिकतर यह शिक्षक की सुविधा पर निर्भर रहता था। पाठ्य विषय बहुत सीधे-सादे थे।

---

*"The Chief merits of the indigenous system of elementary schools were their adaptibility to local environments and the vitality and popularity they had earned for centuries of existence under a variety of economic conditions or political vicissitudes."

Nurullah and Naik.

लिखना, पढ़ना जोड़, भाग, गुणा, कविता और पत्र-लेख आदि विषय ही प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्य-विषय थे।

पादरियों का शिक्षा-प्रसार

प्रारम्भिक-काल में पादरियों ने भारतीय शिक्षा-प्रचार में सक्रिय भाग लिया। बहुत से मिशनों ने भारत में आकर स्कूल खोले। यद्यपि पादरियों का मुख्य कार्य भारत में ईसाई-धर्म का प्रचार करना था परन्तु इसके लिये शिक्षा आवश्यक थी। प्रथम तो पादरियों को उसी भाषा में धर्म-प्रचार करना था जो भाषा भारत में प्रचलित थीं। इसके अलावा जिन लोगों को वे ईसाई धर्म में परिवर्तन कर लेते थे, उनकी शिक्षा एवं उनका समाज में जीवन-यापन के साधन ढूँढ़ने का कर्तव्य पादरियों का हो जाता था। तीसरे समाज में लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का शिक्षा ही सर्वोत्तम साधन था। अतएव उन्होंने भारतीय शिक्षा के लिये स्कूल खोले। सर्वप्रथम कार्य इस क्षेत्र में डेनिश मिशन ने किया। १७६५ ई० तक जब तक कम्पनी का भारत में साम्राज्य नहीं था कम्पनी इन पादरियों की मदद करती रही। पादरियों को आर्थिक सहायता भी मिल जाती थी। इसके अलावा कम्पनी के नौकरों को स्कूल में काम करने की आज्ञा भी मिल जाती थी। पर १७६५ के बाद जब कम्पनी का भारत में साम्राज्य हो गया तब उन्होंने इस तरह पादरियों को प्रोत्साहित करने का कार्य बन्द कर दिया। १७६५ से १७९३ ई० तक कम्पनी तटस्थ रही। इसी बीच पादरियों ने शिक्षा-प्रसार के लिये बहुत उपयोगी कार्य किये। इसमें बंगाल के अंतर्गत श्रीरामपुर मिशन के पादरियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन लोगों ने सर्वप्रथम भारत में छापे की मशीनों का प्रचार किया और बाइबिल का अनुवाद करीब-करीब ३४ भाषाओं में किया। पर पादरियों के धर्म-प्रचार के जोश के कारण जनता से संघर्ष होने का भय था। अतएव कम्पनी के सरकारी अधिकारी उनसे अपना हाथ खींचने लगे। इस पर पादरियों ने इङ्गलैण्ड में कम्पनी के विरुद्ध प्रचार करना

प्रारम्भ किया। १७६३ ई० में कम्पनी का अधिकार-पत्र पुनः पार्लियामेन्ट के सामने पेश हुआ। उसमें पार्लियामेन्ट ने भारतीय शिक्षा की जिम्मेदारी कम्पनी पर नहीं रक्खी। इसके अलावा कम्पनी के अधिकारियों को धार्मिक झमेलों में उलझने के लिये सख्त मनाही कर दी।

शिक्षा और सरकार

इस पर पादरियों में और कम्पनी में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। १७६३-१८१३ ई० के अन्तर्गत कम्पनी ने निश्चित रूप से किसी भी मिशन या किसी भी पादरी को भारत में आने का आज्ञा-पत्र नहीं दिया। इसके अलावा कम्पनी जो भी आर्थिक सहायता मिशन-स्कूलों अथवा पादरियों को देती थी वह बन्द कर दी गई। इस पर तो पादरी खुले तौर पर कम्पनी के विरुद्ध प्रचार करने लगे। विल्बरफोर्स और चार्ल्स ग्रान्ट आदि लोगों ने उन्हें सहायता दी। अतएव १८१३ ई० में जब पुनः कम्पनी का अधिकार-पत्र परिवर्तित होने के लिये पार्लियामेन्ट के सामने आया तो पार्लियामेन्ट ने बहुत विचार के बाद एक उपनियम बना दिया। जिसके अनुसार गवर्नर जनरल अपनी सलाहकारिणी समिति की सलाह से एक लाख रुपया भारतीय शिक्षा और भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने के लिये खर्च कर सकता है। अतएव इसी १८१३ ई० के आज्ञापत्र से वर्तमान शिक्षा की नींव पड़ी और शिक्षा सरकार का एक विषय बन गई।

प्राचीन शिक्षा की विशेषतायें

वर्तमान शिक्षा के श्रीगणेश एवं प्राचीन शिक्षा के अवसान पर यह उचित होगा कि हम प्राचीन शिक्षा के गुणों का पुनर्वाहन कर लें।

प्राचीन भारतीय शिक्षा की जीवन-शक्ति; जैसा कि लिखा जा चुका है, अद्‌भुत थी। साम्राज्य टूटे, समाज बदला। पर प्राचीन शिक्षा का जो क्रम वशिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रमों में प्रारम्भ हुआ वह अब भी अल्पांश में मौजूद है यद्यपि उसको नष्ट कर उसके स्थान पर

पश्चिमी शिक्षा-प्रणाली के आधार पर भारत में नवीन शिक्षा का प्रारम्भ हुआ।

भारतीय शिक्षा एवं संस्कृति के आधारभूत हैं, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति जीवित है। इसलिये यह प्राकृतिक है कि यह सिद्धान्त भारतीय शिक्षा-पद्धति को भी प्रभावित करें। इस सिद्धान्त का प्राकृतिक फल यह हुआ कि भारतवर्ष में जो जाति-विभाजन हुआ उसी के अनुसार समाज में कार्य-प्रणाली भी निश्चित हो गई। सुनार का लड़का सुनार ही होगा और चमार का चमार ही। अतएव जहाँ पर एक ओर इससे समाज की पुष्टि हुई और प्रत्येक लड़के को पेशे की शिक्षा मिलने लगी उसी के साथ समाज और शिक्षा में जड़ता भी आने लगी। अतएव शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध टूटता गया और उन्नतिशील समाज के लिये शिक्षा उपयोगी नहीं रह पाई।

शिक्षा जीवन के लिये है। कर्म और पुर्नजन्म के सिद्धान्त जीवन में, भविष्य जीवन के लिये, जिसका ध्येय मोक्ष प्राप्त करना है, तैयारी करने पर जोर देते हैं। अतएव प्रत्येक मनुष्य शिक्षा के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की तैयारी करता है। इसका संगठित फल यह हुआ कि शिक्षा के द्वारा मोक्ष की तैयारी का मार्ग प्रशस्त करने में लोग लग गये। अतएव शिक्षा में धार्मिकता और परोक्ष की तैयारी के भाव आ गये और शिक्षा अव्यवहारिक हो गई।

भारतीय शिक्षा में शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध अनुपम है। शिक्षक पिता तुल्य ही नहीं उससे भी श्रेष्ठ है। अतएव उसकी आज्ञा में दैवी आज्ञा का प्रभाव है। शिक्षक और शिष्य का यह नाता संसार में अन्यत्र अप्राप्य है। विद्यार्थी शिक्षक के परिवार का एक अंग था। ब्रह्मचर्य जीवन के अधिकांश भाग में वह शिक्षक के साथ रह कर ही अपना जीवन बिताता था। उसके दुख में दुखी और उसके ही साथ सुखी। प्रारम्भिक काल में शिक्षक के साथ पारिवारिक जीवन

बिताने के कारण शिक्षक और शिष्य के सम्बन्ध आजीवन अटूट रहते थे। इसकी एक आभा मध्य काल में भी मिलती है जब कवि कहता है, 'गुरू गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाँय।' वर्तमान भारतीय शिक्षा का प्रमुख अवगुण यही है कि शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध टूट रहा है। वे एक दूसरे को जानते भी नहीं। ऐसी अवस्था में शिक्षक बालक के व्यक्तित्त्व को किस प्रकार प्रभावित करेगा ?

प्राचीन भारतीय शिक्षा-आश्रम अधिकतर बस्ती से बाहर जंगलों में स्थित थे। अतएव उनमें समाज का कटु प्रभाव नहीं पड़ता था। यदि वर्तमान काल में भी इस प्रकार के सिद्धान्तों पर कुछ स्कूल खोल कर उन पर अनुसन्धान किया जाय तो सम्भव है वर्तमान सामज के कटु अनुभवों से विद्यार्थियों की रक्षा हो सके।



५

वर्तमान शिक्षा के प्रारम्भिक प्रयोग

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में वर्तमान शिक्षा का सूत्रपात हुआ। परन्तु उसका अन्तिम रूप निश्चित होने में ४० वर्ष लग गए। १८१३ ई० के कम्पनी के अधिकार-पत्र में पार्लियामेंट ने यह निश्चित कर दिया था कि कम्पनी एक लाख रुपया शिक्षा-प्रचार में और भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन में खर्च करेगी। इस धन से भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार और शिक्षा के प्रारम्भिक प्रयोग प्रारम्भ हुए। अगले ४० वर्षों में अनेक प्रयोग और गम्भीर वाद-विवाद होने के पश्चात शिक्षा-सिद्धान्त निश्चित हो सके। १८५३ ई० में पुनः कम्पनी के अधिकार-पत्र पर पार्लियामेंट ने विचार करना प्रारम्भ किया। इस बार इंग्लैंड की लोक-सभा (House of Commons) ने भारतीय शिक्षा के विभिन्न अंगों पर विस्तारपूर्वक विचार किया। फलस्वरूप १८५४ ई० में शिक्षा-सिद्धान्त को निश्चित करते हुए कम्पनी को एक आदेश-पत्र दिया गया। इस आदेश-पत्र में तत्कालीन विवादों को निश्चित किया गया था और शिक्षा-प्रसार में सरकार की क्या नीति होगी, इसका निर्धारण किया गया था। इस आदेश-पत्र की तिथि १६ जुलाई १८५४ ई० है। इस आदेश-पत्र के लिखवाने में चार्ल्स उड नामक व्यक्ति को जो उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड आफ कंट्रोल (Board of

control) के सभापति थे, प्रमुख हाथ था। अतएव इस आदेश पत्र को उड्स का आदेश-पत्र (Wood's-dispatch) कहते हैं।

शिक्षा के उद्देश्य :

शिक्षा की सर्वप्रमुख समस्या है शिक्षा के उद्देश्य। वर्तमान शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं, इस पर भी प्रारम्भिक काल में विचार-भेद थे। निश्चित रूप से शिक्षा का कोई एक उद्देश्य नहीं था। शिक्षा के उद्देश्यों में राजनैतिक, व्यापारिक और सामाजिक उद्देश्यों का समावेश था। सर्व प्रथम राजनैतिक उद्देश्यों में कम्पनी के अधिकारियों का यह विचार था कि वे समाज के उस भाग को शिक्षित करके नौकरी में लगा लें जिन्हें कम्पनी के राज्य-प्राप्ति से सब से अधिक हानि हुई है। यह वर्ग समाज का उच्च-वर्ग था। अतएव वे समाज के उच्च-स्तर को शिक्षित करना चाहते थे। उनका विचार था कि शिक्षा का प्रसार उच्च-स्तर से निम्न स्तर में धीरे-धीरे स्वयं हो जाता है। इस सिद्धान्त को उच्च-स्तर से निम्न-स्तर में शिक्षा-प्रवाह का सिद्धान्त (Downward filteration theory) कहते हैं। कम्पनी के अधिकारियों का यह विचार था कि इस तरह से उच्च-वर्ग को शासन के साथ सम्बन्धित कर लेने पर उनमें असन्तोष की मात्रा कम हो जावेगी। दूसरे कम्पनी को पढ़े-लिखे नौकरों की आवश्यकता थी। अँगरेज नौकर न तो उतनी अधिक संख्या में जितनी कम्पनी को आवश्यकता थी, प्राप्त ही होते थे और उनको तनख्वाह तथा भत्ता भी अधिक देना पड़ता था। अतएव अधिकारियों ने सोचा कि स्थानीय निवासियों को पढ़ा-लिखा कर उन्हें कम्पनी की नौकरी में लगा लिया जाय। इस प्रकार कम्पनी को सस्ते नौकर मिल जाते थे। यह नौकर छोटी-मोटी जगहों में काम करते थे। अधिकारियों का यह इरादा कभी भी नहीं था कि भारतीयों को प्रारम्भ में उच्च नौकरियों में भर्त्ती किया जाय। तीसरे कम्पनी का राज्य भारतवर्ष में बढ़ता जा रहा था। प्राचीन राजे और नवाब स्थानीय-शिक्षा के लिए दान देते थे। उनका स्थान अब कम्पनी ने ग्रहण कर लिया था। अत-

एव कम्पनी का यह नैतिक कर्त्तव्य हो जाता था कि वह स्थानीय शिक्षा का प्रबन्ध करे। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि प्रारम्भ में शिक्षा का कोई एक उद्देश्य नहीं था। उसमें विभिन्न उद्देश्यों का समावेश था जिसके अन्तर्गत तीन उद्देश्य प्रमुख थे :—

(१) पश्चिमी शिक्षा का प्रसार।
(२) कम्पनी के लिये नौकरों को शिक्षित करना।
(३) राजा का कर्त्तव्य-निर्वाहन।

"भारतवर्ष में शिक्षा का प्रसार विशेष कर साधारण शिक्षा का प्रसार पश्चिमी-ज्ञान-प्रसार और भारतीयों को सरकारी नौकरी की ट्रेनिंग देने के लिए किया गया था।"

उच्चस्तर से निम्नस्तर में शिक्षा-प्रवार के सिद्धान्त के अनुसार, जैसा लिखा जा चुका है, कम्पनी का इरादा उन राजाओं और नवाबों तथा सरदारों की शिक्षा से था जिनकी राजनैतिक सत्ता कम्पनी ने छीन ली थी। दूसरे सभ्यता का प्रसार उच्चस्तर से निम्नस्तर को होता है अतएव शिक्षा-प्रसार उच्चस्तर से निम्नस्तर को हो जावेगा। तीसरे कम्पनी चाहती थी कि कुछ लोगों को अच्छी शिक्षा दी जाय। फिर वे स्वयम् निम्नस्तर के लोगों को शिक्षित कर लेंगे। जन-शिक्षा का भार कम्पनी नहीं लेना चाहती थी। उस समय इंगलैण्ड में भी साधारण जनता की शिक्षा का भार सरकार पर नहीं था। इसमें खर्च भी अधिक पड़ता। अतएव एक व्यापारी संस्था ऐसा कार्य क्यों प्रारम्भ करे जिसमें व्यय की अधिकत हो?

पहिले तो निम्नस्तर में शिक्षा-प्रवाह के सिद्धान्त (Downward-filteration theory) ने आशा-प्रद कार्य नहीं किया। जिन लोगों को साधारण शिक्षा तथा अँगरेजी-शिक्षा मिली उनको सरकारी नौकरियाँ मिल जाती थीं। अतएव उन्हें शिक्षा-प्रसार की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई, और न तो उन्हें समय ही मिला। दूसरे जिन्हें अँगरेजी की शिक्षा मिली उनकी एक अलग ही जाति बन गई जो अन्य लोगों को घृणा की दृष्टि से देखती थी। पुनश्च भारतीय वातावरण

में जहां पर जाति और समाज के बन्धन इतने कठोर थे वहाँ पर यह आशा करना कि शिक्षित अशिक्षित को पढ़ा देंगे नितांत असंभव था।

पर धीरे-धीरे कुछ समय पश्चात इस सिद्धान्त का कुछ प्रभाव हुआ और कुछ भारतीय देश-भक्तों ने, जिन्हें अँगरेजी शिक्षा मिली थी, देश में शिक्षा-प्रसार का आन्दोलन प्रारम्भ किया। आजकल की सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा जिसमें जन-साधारण का विशेष हाथ है कुछ भारतीयों ने ही संगठित करना प्रारम्भ किया था। शिक्षा के लिए उस समय धन भी बहुत कम मिलता था। अतएव ऐसी अवस्था में यह आशा करना कि उस धन से जन-साधारण में शिक्षा का प्रचार होगा, नितान्त असम्भव था। अतएव तत्कालीन अवस्था के लिये यही सिद्धान्त उपयुक्त था।

शिक्षा का माध्यम

इसी काल में शिक्षा के माध्यम एवं पाठ्य-विषय पर गम्भीर वाद-विवाद हुये जो करीब सम्पूर्ण ४० वर्ष तक किसी-न-किसी रूप में जीवित रहे और जिसका निदान उड्स के आदेश-पत्र से ही हो सका। इस विवाद में दो मत थे। एक तो प्राचीन भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाकर, जिसमें संस्कृत और अरबी तथा फारसी मुख्य थे, भारतीयों को शिक्षा देना चाहता था। इनका यह भी मत था कि शिक्षण-विषयों में भी अधिकतर पूर्वी दर्शन और विज्ञान का समावेश रहे। पश्चिमी-ज्ञान और विज्ञान की भी शिक्षा संस्कृत और फारसी के ही माध्यम से दी जाय और इसके लिये पश्चिमी भाषा की पुस्तकों का संस्कृत और फारसी में अनुवाद किया जाय। इस मत को मानने वाले कम्पनी के प्राचीन नौकर थे, जो प्राचीन भारतीय शिक्षा को आदर्श की दृष्टि से देखते थे। इनका आधार १८१३ ई० का कम्पनी का अधिकार-पत्र था जिसमें "शिक्षा का पुनरुत्थान और भारतीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने के लिये" एक लाख रुपया प्रदान किया गया था। उनका कहना था कि "शिक्षा के पुनरुत्थान", से तात्पर्य है,

"भारतीय 'शिक्षा का पुनरुत्थान", और प्रोत्साहन से मतलब है' "भारतीय विद्वानों का प्रोत्साहन' । इस पार्टी का नेता एच० टी० प्रिन्सेप थे, जो तत्कालीन बंगाल की शिक्षा-समिति के मंत्री थे ।

दूसरी ओर कम्पनी के नवीन नौकर थे जिनमें नवीन उत्साह था और जो भारत में पश्चिमी शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे। उनका कहना था कि शिक्षा-प्रसार के लिये अँगरेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय और इसके आधार पर भारत में पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान का प्रसार किया जाय। उनका कहना था कि भारतीय भाषाओं में कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसे पढ़ाया जा सके। संपूर्ण पूर्वीय-पुस्तकों में अन्धविश्वास का समावेश है। इस पार्टी के नेता मैकाले थे। मैकाले तत्कालीन शिक्षा-समिति के सभापति और गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के कानूनी-सदस्य थे। यह विवाद पूर्वी और पश्चिमी शिक्षा के विवाद (Anglicist-orietalist controversy) के नाम से प्रख्यात है। यह विवाद बंगाल-प्रान्त में ही विशेष उग्र रहा। इस विवाद में दोनों दलों की ओर से अनेक तर्क-वितर्क हुये। अन्त में जब कोई निश्चित नीति निर्धारित नहीं हो सकी तो यह विवाद अंतिम आदेश के लिये गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी को सौंप दिया गया। लार्ड विलियम बेन्टिग उस समय भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल थे।

जब यह विवाद गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में पहुँचा तब मैकाले ने कार्यकरिणी के सदस्य के रूप में अपना प्रसिद्ध मत प्रकट किया। उनका ही मत मान्य हुआ परन्तु कार्यकरिणी में यह भी निश्चित हुआ कि संस्कृत और फारसी पढ़ाने के लिये जो संस्थायें, जैसे बनारस का संस्कृत महाविद्यालय और कलकत्ता का मदरसा है; बन्द न किये जायँ। पर उनमें भविष्य में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति न दी जायगी और न तो नये अध्यापक ही रक्खे जायँगे। यदि किसी अध्यापक की मृत्यु हो जायेगी या वह कार्य-मुक्त हो जायेगा तो उसके स्थान पर नये अध्यापकों का चुनाव करने लिये कार्यकारिणी की सलाह ली जायगी। संस्कृत भाषा या फारसी में पश्चिमी पुस्तकों

का अनुवाद बन्द कर दिया गया और यह निश्चित किया गया कि भारत में सरकारी नीति पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान का प्रचार होगी। अंगरेजी भाषा ही शिक्षा की माध्यम होगी।

मैकाले ने अपना मत प्रकट करते हुये पूर्वी भाषा और साहित्य की तीव्र आलोचना की और कहा कि "योरूप की किसी भी पुस्तकालय की एक अलमारी की ही पुस्तकें भारत या अरब की सम्पूर्ण अच्छी पुस्तकों के बराबर हैं।" उसने यह भी कहा कि भारत में अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से एक ऐसी श्रेणी का विकास होगा जो भारत में अँगरेजी राज्य के स्तम्भ होंगे। जिनका वाह्य स्वरूप तो भारतीय होगा पर जो मस्तिष्क और हृदय से पश्चिमी संस्कृति के उपासक होंगे।

कार्यकारिणी के इस निश्चय में तत्कालीन भारतीय नेता, जिन्हें अँगरेजी की शिक्षा मिली थी, अधिक सक्रिय थे। इसमें राजा राम-मोहन राय का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उनका विश्वास था कि इस प्रकार से पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति के योग से भारत में एक नवीन संस्कृति का प्रादुर्भाव होगा जो भारतीय-सामाजिक परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल होगी। बंगाल में इस निश्चय के अनुसार कार्य प्रारम्भ हुआ।

बम्बई में इस विवाद का दूसरी ही स्वरूप था। बम्बई में विवाद अँगरेजी और स्थानीय भाषाओं में था। बंगाल में निश्चय अँगरेजी के ही पक्ष में रहा। अतएव बम्बई और मद्रास के निश्चय भी बंगाल के निश्चय से प्रभावित हुये। सरकारी सहायता विशेषतः अँगरेजी स्कूलों को दी जाती थी। मातृभाषा में शिक्षा देने वाले स्थानीय पाठ-शालाएँ अपने भाग्य पर ही छोड़ दी गईं। फल स्वरूप धीरे-धीरे वे बिना किसी आर्थिक सहायता के विनष्ट हो गईं।

अँगरेजी और संस्कृत के विवाद में दोनों पक्ष गलत रास्ते पर थे। वास्तविक अवस्था यह थी कि शिक्षा के लिये सरकारी आर्थिक सहा-यता बहुत कम थी। अतएव दोनों पक्ष यह चाहते थे कि एक को सहायता बन्द करके दूसरे को सारा धन दे दिया जाय। सत्य तो यह

था कि अँगरेजी और संस्कृत तथा फारसी के बजाय स्थानीय भाषा में जो उस भाग की बोल-चाल की भाषा थी, शिक्षा दी जाती। पर दोनों पक्ष यह समझते रहे कि स्थानीय भाषाओं में इतना साहित्य नहीं है कि उसको माध्यम बनाकर शिक्षा दी जा सके। इस विषय में उत्तर पश्चिम प्रदेश अधिक भाग्यशाली रहा। यहाँ पर शिक्षा-प्रसार का प्रश्न बम्बई और बंगाल के बाद प्रारम्भ हुआ। अतएव यहाँ पर माध्यमिक-शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषायें ही मान ली गईं।

पादरियों का शिक्षा-सहयोग :

पादरियों ने शिक्षा में योग देना बहुत पहिले से प्रारम्भ किया था। पर अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राजनैतिक कारणों से कम्पनी और पादरियों में अनबन हो गई। कम्पनी की नीति थी कि जनता के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न किया जाय और न उनके धार्मिक भावों को ठेस लगे। पादरियों का मुख्य उद्देश्य था कि वे ईसाई धर्म का प्रचार करें। अतएव कम्पनी ने पादरियों को भारत में आने और धार्मिक-प्रचार में रोक लगा दी। १७६३ ई० से १८१३ ई० कम्पनी ने पादरियों पर रोक रक्खी। पर १८१३ ई० के कम्पनी के अधिकार-पत्र के द्वारा पादरियों को भारत में आने की पुनः स्वतन्त्रता हो गई। अतएव इङ्गलैण्ड से ही नहीं, डेनमार्क, जर्मनी और अमेरिका आदि सब देशों से पादरियों का समूह भारत आया।

जनता से सहयोग और सम्पर्क स्थापित करने के लिये शिक्षा सबसे उत्तम माध्यम था। अतएव पादरियों ने बहुत-से स्कूल और कालेज खोले। उनका विशेष महत्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने शिक्षा का माध्यम तत्कालीन भारतीय भाषाओं को बनाया और बाइबिल का अनुवाद कर उसे छापा। पादरियों ने ही पहिले भारतवर्ष में छापे की मशीनों का प्रचार किया। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने नये-नये प्रयोग किये। प्रान्तीय भाषाओं में सबसे पहिले उन्होंने ही पाठ्य-पुस्तकें बनाईं।

उन्होंने अँगरेजी और प्रान्तीय भाषाओं के शब्द-कोष बनाये। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने ही सर्व-प्रथम कार्य किया। पादरियों की औरतों ने जनानखानों में जाकर औरतों को पढ़ाया। लड़कियों के लिये दैनिक स्कूल खोले और गरीब बच्चों के लिये अनाथालयों की स्थापना की।

इस युग में (१८१३-१८५४) पादरियों और कम्पनी के कर्मचारियों का सम्बन्ध अच्छा रहा और वे एक दूसरे से सहयोग करते रहे। कम्पनी को स्थानीय-भावनाओं को ठेस पहुँचने का डर भी जाता रहा। सती-प्रथा को लेकर उन्हें निश्चित हो गया था कि पढ़े-लिखे भारतीय भी समाज-सुधार में उनका साथ देंगे। अतएव डर कम हो गया था और वे पादरियों को पर्याप्त सहयोग देते थे और कभी-कभी उन्हें आर्थिक सहायता देते थे। इङ्गलैंड में भी इस युग में शिक्षा-प्रसार के लिए सरकार चर्च को आर्थिक सहायता देती थी। अतएव उसी आधार पर पादरी कम्पनी से आर्थिक सहायता प्राप्त करना चाहते थे। पर पादरियों का यह कहना है कि वे शिक्षा-प्रचार के लिए भारत में वही कार्य करते हैं जो चर्च इङ्गलैंड में करता सर्वथा है सर्वथा अमान्य है।

जनता का सहयोग :

सरकारी प्रयोगों के साथ-साथ पादरियों और जनता ने भी शिक्षा-कार्य में हाथ बटाया। ऊपर हम पादरियों के प्रयास का वर्णन कर चुके हैं। बहुत से अँगरेज अधिकारियों ने अपने व्यक्तिगत प्रयास के द्वारा शिक्षा-प्रचार किया। इनमें डेविड हेयर और मि० वेथून के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। हेयर एक घड़ीसाज था जो १८०० ई० के लगभग भारतवर्ष में आया। १५ वर्षों में ही उन्होंने इतनी संम्पत्ति एकत्रित कर ली कि अन्त में सारा जीवन उन्होंने शिक्षा-प्रसार के लिए व्यतीत किया। डेविड हेयर साहब अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे पर उन्होंने व्यक्तिगत उद्योग से बहुत-से लेखकों की कृतियाँ पढ़ डाली थीं। उन्होंने अपना वर्णन स्वयं ही किया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि "वह एक अशिक्षित व्यक्ति हैं जिन्हें शिक्षा से प्रेम है।" हेयर साहब

ने सर्वप्रथम ऐसा कालेज चलाया जो धर्म-निरपेक्ष था अर्थात् जिसमें धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। हेयर साहब को पादरियों से बहुत चिढ़ थी अतएव उन्होंने अपने कालेज में धार्मिक शिक्षा नहीं दी। यह कालेज कलकत्ते में कई साल तक चला। इसका नाम उन्होंने हिन्दू-विद्यालय रक्खा। पर अन्त में आर्थिक कठिनाइयों के कारण कालेज सरकार को सौंप दिया गया। आज कल यही कालेज प्रेसिडेन्सी कालेज के नाम से प्रसिद्ध है। बेथून साहब ने स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान दिया। वे गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के कानूनी सदस्य थे। पर शिक्षा से उन्हें प्रेम था, विशेषकर स्त्री-शिक्षा से। अपने पैसों से उन्होंने कलकत्ते में एक कालेज लड़कियों के लिये प्रारम्भ किया। पर १८५१ ई० में उनकी मृत्यु हो गई। अपनी सनद में उन्होंने कलकत्ते की सारी जायदाद कालेज को दे दी थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् कुछ समय तक डलहौजी ने यह कालेज अपने निजी खर्च से चलाया। अन्त में यह कालेज भी सरकार को सौंप दिया गया। बेथून साहब की मृत्यु के उपरान्त अब भी उन्हीं की यादगार में यह बेथून कालेज के नाम से प्रसिद्ध है।

इस काल में शिक्षा की ओर यद्यपि भारतीय प्रगतिशील थे परंतु वे कोई स्कूल या कालेज नहीं चला सके। क्योंकि शिक्षा का माध्यम अँगरेजी था और जनता में इतने शिक्षित व्यक्ति नहीं थे जो शिक्षा में हाथ बटा सकते। कालेज या स्कूल के प्रिन्सपल अधिकतर अँगरेज होते थे। अतएव इस युग में भारतीयों ने उदार अँगरेजों और पादरियों के साथ शिक्षा-प्रसार में सहयोग दिया। इस क्षेत्र में बंगाल में राजा राममोहन राय का नाम अग्रगण्य है। वे ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने यह समझा कि भारत की आवश्यकता है, पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता में सामञ्जस्य स्थापित करना। इसके लिये उन्होंने प्रयत्न भी किये। उन्होंने अनेक सामाजिक सुधार किये। सती-प्रथा बन्द करवाने में उनका प्रमुख हाथ था। इसके अलावा उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना की।

स्थानीय शिक्षा का ह्रास :

अँगरेजी और संस्कृत तथा फारसी के वाद-विवाद में बहुत दिनों तक किसी ने प्रारम्भिक शिक्षा की ओर ध्यान ही नहीं दिया। प्रारंभिक शिक्षा गाँवों में जनता अथवा धनी जमीन्दारों और सरदारों की सहायता से चलती थी। इसके लिये स्थानीय राजाओं से भी कुछ सहायता मिल जाती थी। इस प्रकार स्थानीय-प्रयत्न के द्वारा जनता का एक बहुत बड़ा भाग शिक्षित हो जाता था। राजाओं के हाथ से राजनैतिक सत्ता छिन गई। जमींदारों और सरदारों की भी हालत अब अच्छी नहीं रही। उनका स्थान कम्पनी की सरकार ने ग्रहण कर लिया। कम्पनी ने यह निश्चित किया कि वे अँगरेजी माध्यम से पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा भारतीयों को देंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि वह प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के स्थान पर एक नवीन-शिक्षा प्रणाली का विकास करना चाहते थे। अतएव उन्होंने स्थानीय पाठशालाओं को आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया। आथिक संकट के कारण इन संस्थाओं का विनाश हो गया। प्राचीन काल में यही संस्थायें शिक्षा-प्रचार के लिये उत्तरदायी थीं और इनके ही सहारे भारत में साक्षरता की वृद्धि होती थी। प्रारम्भ में शिक्षा के जो आंकड़े एकत्रित किये गये थे उनसे विदित है कि वर्तमान शिक्षा के प्रारम्भ में भारतवर्ष में साक्षर-संख्या बहुत अधिक थी। इन संस्थाओं के नष्ट हो जाने से स्थानीय जनता को शिक्षा के कोई साधन उपलब्ध नहीं हुये और निरक्षरता बढ़ती गई। वर्तमान निरक्षरता अधिकांशतः स्थानीय शिक्षण संस्थाओं के विनाश के कारण ही बढ़ी है। इन संस्थाओं को नष्ट कर सरकार ने सबसे बड़ी गलती की।

उड्स का आदेश-पत्र :

शिक्षण की इस पृष्ठभूमि में उडस का आदेश-पत्र आया जिसने वर्तमान शिक्षण संगठन की नींव डाली। इस आदेश-पत्र में शिक्षण-

नीति स्पष्ट घोषित थी अतएव स्थानीय अधिकारियों को आदेश-पालन में कोई भ्रम नहीं हुआ। वर्तमान शिक्षा-संचालन की रूप-रेखा उसी समय (१८५४ ई०) निश्चित हुई।

इस आदेश-पत्र के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य भारत में पश्चिमी सभ्यता, ज्ञान और विज्ञान का प्रसार था। शिक्षा के माध्यम के लिये उन्होंने अँगरेजी और स्थानीय भाषाओं को रक्खा। अब तक अँगरेजी और संस्कृत तथा फारसी के बीच वाद-विवाद शान्त हो चुका था। उत्तर-पश्चिम प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में स्थानीय भाषायें भी शिक्षा का माध्यम हो चुकी थीं। अतएव उन्होंने अँगरेजी और (वर्नाक्युलर) स्थानीय भाषायें दोनों को शिक्षा में स्थान दिया। इस आदेश से प्रत्येक प्रान्त—बंगाल, मद्रास, बम्बई, उत्तर-पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में शिक्षा विभाग की स्थापना हुई। प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा-संचालक और उसकी सहायता के लिये निरिक्षक नियुक्त हुए। सरकारी सहायता के आधार पर प्रान्त भर में पाठशालयें खोली गईं और शिक्षा की नीति सर्व-साधारण में शिक्षा-प्रसार की हो गई और उच्च-स्तर से निम्नस्तर में शिक्षा के प्रचार का सिद्धान्त छोड़ दिया गया। इसी आदेश से कलकत्ता, बम्बई और मद्रास विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सर्व प्रथम यह विश्वविद्यालय सिर्फ परीक्षण संस्थायें ही थीं और लन्दन विश्वविद्यालय के आधार पर संगठित की गई थीं। इसके अलावा शिक्षण-कला के लिये भी विद्यालय खोले गये और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया।

इस प्रकार १८५४ ई० के आदेश पत्र के द्वारा शिक्षा के प्रारम्भिक प्रयोगों को अन्तिम रूप दिया गया और शिक्षा-नीति, शिक्षा-विधि और शिक्षा-विभाग का वर्तमान संगठन प्रारम्भ हुआ।



६

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा

१८५४ ई० के आदेश-पत्र से भारतीय शिक्षा की रूप-रेखा निश्चित हुई। इसके अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भारत में पश्चिमी साहित्य और विज्ञान का प्रचार निश्चित हुआ। सरकार ने शिक्षा के व्यय की जिम्मेदारी ली। प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना की गई और एक शिक्षा संचालक तथा उनके अन्य सहयोगी शिक्षा-प्रचार एवं शिक्षा-संगठन के लिये रक्खे गये। परन्तु सरकार का मूल उद्देश्य यही था कि शिक्षा-प्रसार करने वाले पादरियों एवं अन्य स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाय और सरकार स्वयं शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण भार न वहन करे। न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा की यही नीति रही।

१८५७ ई० में भारत में अँगरेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हुआ। इस विद्रोह की पृष्ठभूमि राजनैतिक थी। भारतीय नेताओं ने अँगरेजी सत्ता को भारत से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया, पर असफल रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत की राजनैतिक सत्ता कम्पनी के हाथ से छिन गई और शासन की बागडोर इंगलैण्ड के सम्राट् के हाथ में चली गई। अतएव इंगलैण्ड की पार्लियामेन्ट का शासन में हस्तक्षेप होने लगा और एक सचिव के द्वारा, जो ब्रिटिश-मंत्रिमंडल का सदस्य

होता था, पार्लियामेन्ट शासन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने लगी। सत्ता-हस्तान्तरित होने के समय सम्पूर्ण नीति पर पर पुनः विचार किया गया और सम्राज्ञी विक्टोरिया ने अपनी प्रमुख घोषणा की जो भारतीय वैधानिक विकास की आधार-शिला है और जिसको दृष्टिकोण में रख कर शासन की अन्य नीतियाँ निर्धारित की गईं। विद्रोह के बाद लार्ड-एलेनबरो ने, जो उस समय कम्पनी के बोर्ड-आव-कन्ट्रोल, के सभापति थे, १८५८ ई० में एक आज्ञापत्र भेजकर १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र द्वारा निर्धारित नीति को बदलना चाहते थे। पर १८५६ में लार्ड स्टैनली ने एक दूसरा आज्ञापत्र भेजा जिसके द्वारा १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र की नीति पुनः निश्चित की गई और उसी नीति पर १८८२ ई० तक कार्य होता रहा। १८८२ ई० में शिक्षा की उन्नति मालूम करने और समयानुकूल नीति में परिवर्तन करने के लिये भारतीय-सरकार ने एक शिक्षा-आयोग की घोषणा की जिसका उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक-शिक्षा की उन्नति एवं उसके संगठन के लिये सिफारिश करना था तथा सरकार को इस बात की सलाह देनी थी कि सरकार शिक्षा का पूर्ण खर्च उठावे अथवा पादरियों एवं अन्य जनता की संस्थाओं को जो शिक्षा-प्रचार कर रही हैं उनकी आर्थिक सहायता करती रहे। दूसरे तात्कालिक अवस्थाओं में धार्मिक-शिक्षा देना कहाँ तक उपयुक्त होगा? क्योंकि धार्मिक-निरपेक्षिता की नीति घोषित कर देने के पश्चात् सरकार कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाना चाहती थी जिससे जनता की धार्मिक-भावना को ठेस लगे। इसके विरुद्ध इंगलैण्ड में पादरी इसका प्रचार कर रहे थे कि धार्मिक-शिक्षा-विहीन शिक्षा का कोई मूल्य ही नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्रोह के पश्चात् अगले ५० वर्षों में भारतीय शिक्षा की नीति निम्नलिखित ३ आज्ञा पत्रों के द्वारा निर्धारित होती रही।

(१) १८५४ ई० का उड्स का आज्ञा-पत्र।

(२) १८५८ ई० का लार्ड एलनबरो और १८५६ ई० का लार्ड स्टैनली का आज्ञापत्र।

(३) १८८२ ई० के भारतीय-शिक्षा-आयोग की सिफारिशें।

इस युग में शिक्षा के क्षेत्र में निम्नलिखित प्रमुख विकास हुयेः—

(१) शिक्षा-विभाग का संगठन।

(२) शिक्षा-प्रसार की संस्थाओं का भारतीयकरण।

(३) शिक्षण-संस्थाओं के आर्थिक सहायता देने के नियमों का संगठन।

(४) भारतीय-विश्वविद्यालयों की संस्थापना।

(५) पाठ्य-क्रम में पश्चिमी शिक्षा-सिद्धान्तों का समावेश।

(६) प्राचीन देशी शिक्षण-संस्थाओं का विनाश।

(७) स्त्रियों, हरिजनों एवं आदिवासियों में शिक्षा-प्रचार।

शिक्षा-विभाग

१८५४ ई० के आज्ञा पत्र के द्वारा ही प्रत्येक प्रांत में शिक्षा-विभाग की स्थापना की गई थी। अब यह शिक्षा-विभाग और भी संगठित किये गये तथा इनका कार्यक्षेत्र बढ़ाया गया। शिक्षा-विभाग प्रमुख रूप में सरकार को शिक्षण सम्बन्धी विषयों पर सलाह देता था और सरकार द्वारा मजूर शिक्षा-व्यय का पूर्ण विभाजन करता था। इसके अलावा विभाग सरकारी स्कूलों का जिसे सरकार स्वयं स्थापित करती थी, उसके शासन का प्रबन्ध करता था और जिन पाठशालाओं को सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी उनका निरीक्षण करता था। अपने प्रान्त का वार्षिक शिक्षा-विवरण तैयार करना और शिक्षा संबंधी अन्य सब कार्य करना जिससे शिक्षा की उन्नति हो तथा शिक्षा का प्रसार हो, यह सब कार्य भी शिक्षा विभाग के ही जिम्मे था।

इस काल में शिक्षा-विभाग के सब प्रमुख स्थानों पर योरोपियन थे। १८९६ ई० में भारत-सचिव ने अखिल-भारतीय शिक्षा-सर्विस की स्थापना की। जिसका उद्देश्य था कि योग्य अँगरेज भारतवर्ष में शिक्षा-विभाग की सेवा करने जाँय। इसकी तनख्वाह भी अच्छी थी, फिर भी योग्य अँगरेज पदाधिकारी शिक्षा-विभाग में कम ही आये।

यद्यपि इस सर्विस में भारतीय भी जा सकते थे परन्तु एक लम्बे समय तक कोई भारतीय इस सर्विस में नहीं आ सका और शिक्षा विभाग अँगरेजों के ही हाथ में रहा।

शिक्षण संस्थायें

उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा-प्रचार की प्रायः निम्न-प्रकार की संस्थायें थीं :—

(१) पादरियों एवं मिशनों की शिक्षण-संस्थायें।

(२) सरकारी अफसरों का व्यक्तिगत रूप में शिक्षा-प्रचार।

(३) भारतीय शिक्षण-संस्थाओं का पश्चिमी शिक्षा-पद्धति के आधार पर शिक्षा-प्रचार।

(४) शिक्षा-विभाग द्वारा शासित शिक्षण-संस्थायें।

(५) प्राचीन देशी शिक्षण संस्थाएँ।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है पादरियों ने शिक्षा-क्षेत्र में सर्व-प्रथम पदार्पण किया। पादरियों का मुख्य उद्देश्य ईसाई-धर्म का प्रचार था। उसके लिये वे लोगों का धर्म-परिवर्तन करना चाहते थे। शिक्षा इसके लिये एक साधन मात्र थी। अतएव उन्होंने अनेक शिक्षण-संस्थायें खोलीं। प्रेस खोले, पुस्तकें छापीं और अनेक प्रकार से भारतीय भाषाओं का प्रचार किया। पर उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग तक पादरियों को यह निश्चित हो गया कि शिक्षा प्रसार में जितना व्यय अथवा परिश्रम उठाना पड़ता है उतना लाभ नहीं होता। मुश्किल से एक या दो आदमियों को वे ईसाई बना पाते थे। इसके अलावा शिक्षा-विभाग एवं अन्य सरकारी अधिकारियों से उनका संघर्ष होने लगा। पादरी चाहते थे कि सरकार केवल उन्हीं को आर्थिक सहायता दे और वे ही शिक्षा-प्रचार करें। इसके विरुद्ध शिक्षा-विभाग ने भी पाठशालायें खोलनी प्रारम्भ कर दीं। अतएव संघर्ष निश्चित था। इसके अलावा पादरियों के धर्म-प्रचार से जनता की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचने की सम्भावना थी। अतएव उच्चसरकारी पदाधिकारी

भी उनकी ओर उदासीन होने लगे। १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग ने भी यह सिफारिश की कि सरकार को पादरियों पर ही शिक्षा की सारी जिम्मेदारी नहीं छोड़ देनी चाहिये।

इन सब का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि पादरी शिक्षा से हाथ खींचने लगे। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उन्होंने अपनी नीति परिवर्वित कर दी। उन्होंने कुछ ही शिक्षण-संस्थाओं को चलाना स्वीकार किया। उनका उद्देश्य अब यह हो गया कि कुछ ही शिक्षण-संस्थायें खोली जायँ पर उनको बड़े उच्च स्तर पर रक्खा जाय ताकि साधारण जनता उनकी ओर आकर्षित हो। शिक्षा-क्षेत्र में एकाधिपत्य जमाने का स्वप्न उन्होंने छोड़ दिया। तब से आज तक पादरियों और मिशनों की यही शिक्षण-नीति रही है।

कम्पनी द्वारा सत्ता हस्तान्तरित हो जाने पर सरकारी-पदाधिकारियों के व्यक्ति-गत आधार पर शिक्षा-कार्य करने में शिथिलता आ गई और उन्होंने शिक्षा-प्रसार में सक्रिय भाग लेना छोड़ दिया। प्रथम तो शिक्षा-विभाग की स्थापना हो गयी और सरकार शिक्षा पर पर्याप्त व्यय करने लगी। दूसरे सरकारी कर्मचारियों के आचार-नियम बन गये। अतएव उनको अब व्यक्तिगत स्वतंत्रता रह ही नहीं गयी। फिर भी यदि किसी सरकारी कर्मचारी को शिक्षा में रुचि होती थी तो वह अपने व्यक्तिगत प्रभाव से विभाग को इस बात के लिये बाध्य करता था कि शिक्षा विभाग कोई सुधार करे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय समाजसुधारकों एवं राजनैतिक नेताओं ने शिक्षा-प्रचार में भाग लेना प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में वे पादरियों एवं सरकार से इस क्षेत्र में आगे निकल गये। इस समय समाज में एक धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उथल-पुथल हो रही थी। भारतीय नेता राष्ट्र का पुनरुत्थान करना चाहते थे। परन्तु बिना शिक्षा के जागृति और पुनरुत्थान असम्भव था। अतएव सम्पूर्ण नेताओं ने शिक्षा-प्रसार की ओर पर्याप्त

ध्यान दिया। भारतीय शिक्षा-आयोग ने १८८१-८२ में शिक्षा के निम्न-लिखित आँकड़े एकत्रित किये थे :—

संस्थायें	भारतीय-प्रबन्धकों के हाथ में	अन्य प्रबन्धकों के हाथ में
कालेज	५	१८
माध्यमिक पाठशालायें	१३४१	७५७
प्राथमिक पाठशालायें	५४,६६२	१,८४२
व्यावसायिक कालेज औरस्कूल	१०	१८
योग	५६,०१८	२,६३५

इस आंकड़े में कुछ देशी रियासतों और वर्मा के अंक भी शामिल हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय प्रबन्धक आगे थे। यद्यपि उस समय पाश्चात्य ढंग पर पाठशालाएँ खोलना कठिन था क्योंकि पाठशालाओं के प्रधान, और विशेषकर महाविद्यालयों के प्रधान तो अँगरेज ही हुआ करते थे जिनको मोटी तनख्वाहें देनी पड़ती थीं और सरकार के आर्थिक सहायता के नियम कठोर थे। फिर भी अनेक स्थानों में चन्दे से और कही-कहीं तो व्यक्तिगत दान से ही स्कूल खोले गये।

यद्यपि सरकार की नीति शिक्षा-प्रसार में स्पष्ट थी कि आर्थिक सहायता देकर स्थानीय-जनता की सहायता से शिक्षा-प्रचार किया जाय पर इस नीति पर शिक्षा विभाग ने कार्य नहीं किया। प्रत्येक प्रांत में स्थान-स्थान पर प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाएँ खोली गयीं जिनका उद्देश्य जनता की पाठशालाओं के सम्मुख उदाहरण रखना था। ये पाठशालाएँ सीधे शिक्षा-विभाग के शासन में थीं और अधिक खर्चीली थीं। अतएव १८८२ ई० में शिक्षा-आयोग ने यह सिफारिश की कि सरकार जहाँ तक सम्भव हो शिक्षा क्षेत्र में सीधे व्यय न करे बल्कि जनता की पाठशालाओं को आर्थिक सहायता देती रहे। इस प्रकार सरकार थोड़े से व्यय में अधिक शिक्षा-प्रसार का कार्य कर

सकेगी। शिक्षा-आयोग ने यह भी सिफारिश की कि (१) प्राथमिक-शिक्षा स्थानीय जिला बोर्डों को या नगरपालिकाओं को सौंप दी जायं और (२) धीरे-धीरे माध्यमिक शिक्षा से भी सरकार हाथ खींच ले और उन्हें जन-संस्थाओं को सौंप दे। इस काल में सरकार की यह नीति होते हुए भी इस पर भली प्रकार कार्य नहीं हो सका और सरकार को प्रत्येक क्षेत्र में स्कूल खोलने ही पड़े।

आर्थिक सहायता के नियम

सरकार ने जनता के पाठशालाओं को आर्थिक सहायता देने के जो नियम बनाये वह बड़े ही कठोर थे और उनके आधार पर कार्य करना मुश्किल था। पुनःश्च आर्थिक सहायता देने के नियमों में परीक्षा को प्रधानता दी गई थी। अतएव शिक्षा का विकास बड़ा मुश्किल हो गया। फिर सरकारी स्कूलों के होने के कारण शिक्षा-विभाग जनता की पाठ-शालाओं के साथ सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव नहीं करता था जिससे शिक्षा-विकास में कठिनाई हुई।

भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थापना

१८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के द्वारा ही भारवर्ष के तीन प्रमुख निगमों में, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित करने की आज्ञा प्रदान की गई थी और उस पर कार्य भी हो रहा था। १८५७ ई० में इन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इन विश्वविद्यालयों के अधिनियम लन्दनविश्वविद्यालय के ढाँचे पर बनाये गये थे। इनका प्रमुख कार्य परीक्षा लेना और उपाधि-वितरण करना था। प्रारंभ में इनके कार्य कारणी में सरकारी सदस्यों एवं अँगरेज अधिकारियों की अधिकता थी। इन विश्वविद्यालयों की स्थापना लन्दन विश्वविद्या-लय के ढाँचे पर हुई जो बहुत ही असन्तोषजनक थी। १८५८ ई० में उस विश्वविद्यालय का पुनर्सङ्गठन किया गया और उसमें मुख्य सुधार किये गये। अब इस विश्वविद्यालय का कार्य केवल परीक्षा लेना ही

क्षेत्र में सीधे दखल न दे। बल्कि जनता की शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देती रहे। सरकार की इस नीति से साधारण जनता ने फायदा उठाया और १८८२ ई० के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा की अत्यधिक प्रगति हुई जैसा कि निम्नांकित आंकड़ों से स्पष्ट है:—

	१८८१—८२	१९०१—०२
१. माध्यमिक पाठशालाओं की संख्या	३, ९१६	५,१२४
२. माध्यमिक पाठशालाओं में छात्रों की संख्या	२.१४,०७७	५,९०,१२९

माध्यमिक शिक्षा के दोषों में भारतीय भाषाओं के द्वारा शिक्षा का न देना, सुयोग्य प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी एवं व्यावसायिक और औद्योगिक पाठ्य-क्रम की कमी थी। सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा-काल में अंगरेजी का पठन-पाठन ही प्रमुख था।

प्राथमिक शिक्षा

इस काल की सरकारी नीति, माध्यमिक शिक्षा से हटकर प्राथमिक शिक्षा का प्रचार था। माध्यमिक शिक्षा तो मध्यमवर्ग के लोगों तक ही सीमित थी जो अधिकतर शहरों में रहते थे। प्राथमिक शिक्षा जन-साधारण की आवश्यकता थी। अतएव प्रत्येक सरकारी आदेश-पत्र में प्राथमिक शिक्षा के प्रचार के लिये जोर दिया गया था। १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के द्वारा और पुनः १८५९ के आज्ञा-पत्र के द्वारा प्राथमिक शिक्षा-प्रचार सरकार की प्रथम जिम्मेदारी हो गयी। अतएव शिक्षा-विभाग ने प्राथमिक शिक्षा प्रचार का प्रयत्न किया और सब स्थानों पर नवीन प्राथमिक पाठशालायें खोलीं। लार्ड रिपन के समय में स्थानीय स्वराज्य-अधिनियम पास हो जाने पर प्राथमिक शिक्षा का भार पूर्ण रूप से नगरपालिकाओं और जिला-बोर्डों को सौंप दिया

गया। सरकार की जिम्मेदारी प्राथमिक शिक्षा-प्रसार की सीधे नहीं रही। प्राथमिक शिक्षा-प्रचार जिला-बोर्डों का प्रथम कर्त्तव्य निश्चित कर दिया गया। कहीं-कहीं पर तो उनकी आय की एक निश्चित रकम प्राथमिक-शिक्षा-प्रसार के लिये निश्चित कर दी गई। इसके लिये स्थानीय बोर्डों ने स्थानीय कर लगाये। सरकार भी एक निश्चित सहायता प्रदान करती थी। शिक्षा-विभाग के कर्मचारी भी प्रयत्न-शील हुये। पर प्राथमिक शिक्षा का प्रचार पूर्णरूप से नहीं हो सका, क्योंकि स्थानीय बोर्डों की आन्तरिक और आर्थिक हालत ठीक नहीं थी। सरकार की सहायता पर्याप्त नहीं थी और स्थानीय करों की आय निश्चित नहीं था। प्राथमिक शिक्षा की देशी संस्थाओं का ह्रास हो गया था। अतएव निरक्षरता बढ़ी। अगर स्थानीय बोर्डों के पास पर्याप्त आर्थिक सहायता के साधन होते और सरकारी कर्मचारी सहानुभूति पूर्वक प्राचीन संस्थाओं को जाग्रत करते तो प्राथमिक शिक्षा का प्रचार सम्भव होता। बिना पर्याप्त आर्थिक साधन के स्थानीय संस्थाओं पर प्राथमिक शिक्षा की जिम्मेदारी टाल कर सरकार ने महान भूल की।

इसी सन्धि-काल में प्राचीन संस्थाओं का ह्रास हो गया और उनके स्थान पर जो नवीन पाठशालायें खोली गईं उनकी जड़ जम नहीं सकीं अतएव आज तक निरक्षरता का नाश नहीं हो पाया।

फिर भी प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ सुधार हुये। अभी तक प्राथमिक पाठशालाओं के लिये अलग भवन नहीं होते थे और न योग्य शिक्षक ही। शिक्षा-विभाग के संगठन के पश्चात् अंगरेज-पदाधिकारियों ने भवन-निर्माण की ओर सबसे पहिले ध्यान दिया क्योंकि उनकी दृष्टि से बिना पाठशाला-भवन के पढ़ाई सम्भव ही नहीं है। दूसरे अध्यापकों की योग्यता और उनको प्रशिक्षा पर भी ध्यान दिया गया। प्राचीन गुरुओं की शिक्षा नाम-मात्र को थी। अब अध्यापक तैनात करते समय उनकी योग्यता को प्रमुख रूप से देखा जाता था। १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-आयोग ने भी प्रमुख रूप से प्राथमिक

शिक्षा के प्रचार और उसके प्रोत्साहन के लिये सिफारिश की थी। इसके अलावा अब प्राथमिक पाठशालाओं का पाठ्यक्रम निश्चित हो गया। छपी हुई पुस्तकों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया और पाठन-विधि की नवीन पद्धतियों का प्रयोग होने लगा। प्राथमिक शिक्षा की प्रमुख विशेषता यह हुई कि अब बालिकायें भी प्राथमिक पाठशालाओं में पढ़ने लगीं।

सरकार ने प्रारम्भ से ही हरिजनों और अन्य पिछड़ी जातियों की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जो प्राचीन भारतीय शिक्षा से वर्जित थे।

प्राथमिक शिक्षा का जो सबसे बड़ा अवगुण था वह यह था कि १९ वीं शताब्दी के अन्त तक भारतवर्ष में प्राथमिक शिक्षा सैद्धान्तिक रूप से अनिवार्य नहीं मानी गई थी हालाँकि इंगलैण्ड में १८७० ई० में ही अनिवार्य शिक्षा-विधेयक पास हो चुका था और भारतवर्ष के एक देशी राज्य, बड़ौदा में भी प्राथमिक-शिक्षा एक डिविजन में अनिवार्य कर दी गई थी। यदि उसी समय से प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य हो जाती तो आज भारत में साक्षर-संख्या प्रतिशत अधिक होती।

१९वीं शताब्दी में शिक्षा की विशेषतायें

भारतवर्ष में १९वीं शताब्दी में अंगरेजी शिक्षा-पद्धति की नींव जम चुकी थी। प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा के विभिन्न विभागों का संगठन भी हो चुका था। कई आलेखों और आज्ञा-पत्रों के द्वारा नीतिनिर्धारण भी हो चुका था। प्रत्येक विभाग में शिक्षा की प्रगति हो रही थी। अतएव उस काल की शिक्षा की विशेषताओं की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

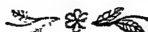
भारतीय जन-क्रान्ति और स्वतन्त्रता-संग्राम यदि इस शिक्षा का सीधा फल नहीं है तो भी उन्नीसवीं शताब्दी में अंगरेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण इसे अधिक सफलता मिली। अंगरेजी शिक्षा में शिक्षित भारतीय अंगरेजों से समानता की आशा करते थे, पर अंगरेजों के दुर्व्यवहार से उनके आत्मसम्मान को धक्का लगता था।

अतएव जन-क्रान्ति और स्वराज्य के मांग की नींव भारतीय कांग्रेस के रूप में १८८७ ई० में पड़ चुकी थी।

इस शिक्षा से तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक सुधार सम्भव हो सके। ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज के रूप में अनेक समाजसुधारक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ और समाज के अनेक वर्ग इससे प्रभावित हुये।

भारत में प्रेस और छपी पुस्तकों का प्रचार साधारण हो गया जिससे शिक्षा-प्रसार में सुविधा हुई और भारतीय भाषाओं का विकास सम्भव हो सका।

इस युग में जो सब से बड़ा कार्य हुआ वह यह है कि पूर्व और पश्चिम दोनों ओर कुछ ऐसे विद्वान हुये जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी देशों की सभ्यता को समझने का प्रयत्न किया जिससे पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता के सामञ्जस्य की नींव पड़ी।



७

बीसवीं शताब्दी में शिक्षा

भारतीय जन-क्रान्ति (१८५७) के पश्चात् भारतवर्ष में अँगरेजी शासन की नींव जम गई। शासन की सर्वोच्च सत्ता भारतीयों के हाथ से निकल कर अँगरेजों के हाथ में पहुँच गई। भारतीय राजे और नवाब भी अँगरेजी शासन के इशारे पर ही अपना आन्तरिक शासन करने लगे। संगठित शासन एवं केन्द्रीयकरण का समुचित प्रभाव यह हुआ कि देश में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना बढ़ी। विद्या और कला-कौशल के प्रचार की ओर सरकार एवं जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। भारत में अँगरेजी शिक्षा के प्रसार, पच्छिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा, पाश्चात्य देशों के सम्पर्क, सब देश में यातायात के साधनों के विस्तार के कारण भारत में एकता एवं राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास हुआ। राजनैतिक उथल-पुथल प्रारम्भ हो गयी और भारतीय नेता शासन के भारतीयकरण की माँग करने लगे तथा शिक्षा के राष्ट्रीयकरण पर जोर देने लगे। फलस्वरूप भारतीय शिक्षण की नीति एवं शासन में भी एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिसका अन्त तभी हो सका जब शिक्षा का सम्पूर्ण नियंत्रण भारतीयों के हाथ में पहुँच गया।

युग विशेषता

इस युग की विशेषताओं में सर्व प्रथम यह स्पष्ट है कि शिक्षा पर दिन प्रतिदिन अधिकाधिक रुपया खर्च किया जाने लगा। राष्ट्रीय आय की वृद्धि हो रही थी और इस युग के बजट अक्सर बचत दिखलाते थे। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध निश्चित हो गये थे, अतएव शिक्षण-व्यय की उचित व्यवस्था हो गई थी। यही कारण है कि प्रति वर्ष शिक्षा पर अधिक व्यय हो सका। केन्द्रीय सरकार भी प्रान्तीय सरकारों के शिक्षण-व्यय में हाथ बटाने लगी और शिक्षा का व्यय बढ़ गया। दूसरे भारत में जागृति बढ़ रही थी। अँगरेजी शिक्षा में शिक्षित व्यक्ति देश को जाग्रत करना चाहते थे। अतएव शिक्षा में व्यक्तिगत दान की मात्रा बढ़ गई। जिला-बोर्डों और नगर पालिकाओं के संगठन के कारण स्थानीय स्वराज्य की नींव पड़ चुकी थी, अतएव स्थानीय शासन भी प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय करने लगा। फलस्वरूप शिक्षण-व्यय में अधिकाधिक वृद्धि हुई। १६०१-०२ ई० में शिक्षण का सम्पूर्ण व्यय केवल ४०१ लाख था। वह १६२१-२२ में बढ़ कर १८३७ लाख हो गया।

शिक्षण-व्यय की वृद्धि के साथ शिक्षण नीति के मूल सिद्धान्तों में भी परिवर्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में सरकार की नीति थी कि व्यक्तिगत एवं गैरसरकारी प्रयत्नों तथा पादरियों के शिक्षा-प्रयत्नों को सरकारी सहायता देकर प्रोत्साहन दिया जाय। जहाँ तक सम्भव हो सरकार स्वयं शिक्षा में सीधे हाथ न बटावे। अब इसके स्थान पर सरकार ने यह निश्चय किया कि जहाँ तक सम्भव हो आदर्श विद्यालयों की स्थापना की जाय और शिक्षा पर पूर्ण-नियन्त्रण रक्खा जाय। शिक्षा-प्रसार सरकार का एक कर्त्तव्य है और इसमें सब को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। अतएव सरकार शिक्षण-संस्थाओं पर नियन्त्रण, उनके शासन, विद्यार्थियों के रहन-सहन एवं उनके चारित्रिक विकास की ओर अधिक सतर्क रहने लगी। इस सतर्कता का

मूल कारण राजनैतिक भी था। देश में राजनैतिक जागृति होने के कारण सरकार के शिक्षण-संस्थाओं के नियन्त्रण के प्रयत्न को जनता ने भ्रम-पूर्ण दृष्टि से देखा। फलतः सरकार और जनता में एक संघर्ष प्रारम्भ हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा-प्रसार की नीति में भी परिवर्तन किया गया। सरकार का ध्यान अब शिक्षण-संस्थाओं एवं शिक्षण के गुणों में वृद्धि करने का था। प्रसार के स्थान पर अब तत्कालीन संस्थाओं की आर्थिक स्थिति एवं उनके साधनों में वृद्धि का प्रयत्न किया गया। भारत की आवश्कता शिक्षा की वृद्धि थी, अतएव सरकार के यह प्रयत्न भी जनता के हित के विरुद्ध थे। परन्तु इन सब प्रयत्नों के बावजूद भी शिक्षा की अत्यधिक वृद्धि हुई। १६०१-२ में सभी प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं की संख्या १,४७,७०८ थी जिनमें कुल ४५,२१,६०० विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। यही संख्या १६२१—२२ में बढ़कर १,८२,४५२ हो गई जिनमें ७८,१८,७२५ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने लग गये।

इस युग की सर्व-प्रमुख विशेषता थी राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव। उस समय लार्ड कर्जन भारत का वाइसराय था। कर्जन स्वयं एक सभ्य और सुशिक्षित व्यक्ति था तथा वह भारत का हित चाहता था। पर अभाग्यवश उसे पूर्वी शिक्षा और पूर्वी सभ्यता में विश्वास नहीं था। अतएव वह भारतीय सभ्यता की खिल्ली उड़ाया करता था। राष्ट्रीय-जागरण के कारण भारतीय नेताओं को उसका मजाक असहनीय था। अतएव कर्जन की सद्भावनाओं के बावजूद भी उसके प्रयत्न सफल नहीं हो सके और भारतीय नेताओं एवं नौकरशाही के बीच शिक्षा के प्रश्न पर मतभेद बढ़ता ही गया। लार्ड कर्जन भारतीय नेताओं को राष्ट्र का प्रतिनिधि भी नहीं मानता था। प्रारम्भ में तो अँगरेजी शासन ने यह प्रयत्न किया कि उच्च स्तर से निम्न स्तर पर शिक्षा का प्रसार किया जाय। इसके लिये उन्होंने एक ऐसा समुदाय बनाने का प्रयत्न किया जो साधारण जनता में शिक्षा-प्रसार की जिम्मेदारी उठा सके। पर जब समाज में ऐसे समुदाय का निर्माण हो चुका तो नौकरशाही

उनके प्रयत्नों को भ्रमपूर्ण दृष्टि से देखने लगी तथा शासकों में ऐसे नेताओं के प्रति द्वेष-भाव फैलने लगा और वे नेताओं को शिक्षा की जिम्मेदारी देने को तैय्यार नहीं हुए।

फिर भी लार्ड कर्जन के सद्प्रयत्नों एवं भारतीय नेताओं के सक्रिय सहयोग से भारत में इसी युग में राष्ट्रीय शिक्षा का सूत्रपात हुआ। इसी युग में शिक्षा की वर्तमान बुराइयाँ दृष्टिगोचर होने लगीं और शिक्षा-शास्त्री इस ओर प्रयत्नशील होने लगे कि शिक्षा की बुराइयों को दूर कर भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रारम्भ करें।

विश्वविद्यालयों में सुधार

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, सरकारी नीति शिक्षा-सुधार और शिक्षा में विशिष्ट गुणों के सामावेश की ओर केन्द्रित थी। शिक्षा प्रसार की ओर उनका ध्यान इतना अधिक न था। अतएव सरकार ने शिक्षा-सुधार के लिये अनेक प्रयत्न किये। इसमें सर्व प्रथम विश्वविद्यालयों की शिक्षा आती है। २० वर्ष के अल्पकाल में विश्वविद्यालयों के शिक्षा-सुधार के लिये दो आयोग बैठाये गये। एक आयोग जो भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के नाम से प्रख्यात है, १६०२ में बिठलाया गया जिसने अपनी रिपोर्ट उसी साल दे दी और उसी के अधार पर १६०४ ई० में भारतीय विश्वविद्यालयों के लिये एक कानून पास किया गया जिसके अनुसार विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन, अनुसन्धान, प्रयोगशाला, पुस्तकालय एवं अजायबघरों के उचित एवं व्यवस्थित रूप से स्थापना की योजना की गयी। विश्वविद्यालयों के 'फेलोज' की संख्या निर्धारित कर दी गयी। अब किसी भी विश्वविद्यालय में न तो ५० से कम और न तो १०० से अधिक फेलो निश्चित किये जा सकते थे। इनका कार्य काल ५ साल निश्चित कर दिया गया। विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी-समिति को कानूनी तौर पर स्थायित्व प्रदान किया गया। विश्वविद्यालयों में निर्वाचन-प्रथा का प्रारम्भ हुआ। सरकार को यह शक्ति मिल गयी कि वह विश्वविद्यालय के बनाये

नियमो में परिवर्तन कर सकती है। प्रत्येक विश्वविद्यालय का क्षेत्र निश्चित कर दिया गया तथा महाविद्यालयों के विश्वविद्यालय के निरीक्षण में आने के नियम कठोर कर दिये गये। उस समय इस नियम की भारतीय जनता के बीच बड़ी कटु आलोचना हुई और लोगों की यह भावना हुई कि सरकार भारतीय शिक्षा की प्रगति को रोकने तथा अपने मनमाने ढंग के कार्य करने के लिये यह नियम बना रही है। पर कुछ न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ अब भी यह नियम भारतीय विश्वविद्यालयों की शासन-नीति निर्धारण करता है। इसी नियम को लागू करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयों को सरकारी सहायता देना आरम्भ किया जिससे शिक्षा को केन्द्रीय सहायता देने का श्रीगणेश हुआ।

१९१७ ई० में कलकत्ता-विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना हुई। इसे शिक्षण इतिहास में सैडलर-आयोग भी कहते हैं; क्योंकि इस आयोग के सभापति श्री एम० इ० सैडलर थे जो लीड्स विश्वविद्यालय के उप-कुलपति थे। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य कलकत्ता-विश्वविद्यालय के लिये सुधार-योजना प्रस्तुत करना था। पर सम्पूर्ण भारतीय विश्वविद्यालयों की समस्यायें एक ही थीं। अतएव इस आयोग की सिफारिशें अन्य विश्वविद्यालयों में भी लागू की गई। शिक्षण-इतिहास में इस आयोग का कार्य और उसकी सिफारिशें स्थान रखती हैं।

माध्यमिक शिक्षा

इसकी सिफारिशों के अनुसार माध्यमिक शिक्षा का अन्त इन्टरमीडियेट माना गया और यह सिफारिश की गई कि एक इन्टरमीडियेट बोर्ड की स्थापना की जाय जो प्रान्त में माध्यमिक शिक्षा का संगठन करे। बी० ए० की अवधि बढ़ाकर तीन साल कर दी जाय और योग्य विद्यार्थियों के लिये विशेष योग्यता के कोर्स (Honour's Course) की स्थापना की जाय। चूंकि कलकत्ता विश्वविद्यालय का आकार बहुत वृहत हो गया, अतएव इस आयोग ने यह भी निश्चय

कि उच्च शिक्षा के संगठन के लिये ढाका में एक शिक्षण-विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय। विश्वविद्यालय के अध्यक्षों एवं आचार्यों का चुनाव एक विशेष सलाहकारिणी-समिति के अनुसार होना चाहिये जिसके सदस्य उस विषय के विशेषज्ञ हों। विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने के लिये एक शारीरिक शिक्षा-संचालक की नियुक्ति की जाय।

इन सिफारिशों के अनुसार अनेक प्रान्तों में इन्टरमीडियेट बोर्ड की स्थापना की गई। इसी समय सरकार का ध्यान विश्वविद्यालयों की शिक्षा में सुधार की ओर भी आकर्षित हुआ। प्राचीन ५ विश्वविद्यालयों का आकार बहुत बढ़ गया था। अतएव उनके सुधार के लिये प्रत्येक प्रान्त में एक विश्वविद्यालय खुले जिसमें मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढाका, लखनऊ और उसमानियाँ विश्वविद्यालय प्रमुख हैं।

इस युग में माध्यमिक शिक्षा की विशेष प्रगति हुई। शिक्षण का नेतृत्व अब भारतीय नेताओं और भारतीय जनता के हाथ में आ रहा था। इसी समय लार्ड कर्जन ने इस बात पर जोर दिया कि शिक्षा में सुधार पहिले किया जाय, विस्तार बाद में। इसके अनुसार सरकार ने शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के नियमों को कठोर कर दिया और सरकारी तथा गैर-सरकारी विद्यालयों को, जिन्हें सरकार आर्थिक सहायता देती थी, उनके निरीक्षण एवं नियन्त्रण के नियम कठोर कर लिये। निरीक्षकों एवं शिक्षा-संचालकों की नियुक्ति हुई। कर्जन ने केन्द्र में भी एक प्रमुख शिक्षा-संचालक (Director General of Education) की नियुक्ति की। इसी नियुक्ति से केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रणालय का प्रारम्भ होता है। सरकार शिक्षा में सुधार चाहती थी। अतएव विद्यालयों की आर्थिक सहायता करना आवश्यक था। इसीलिये सरकार का शिक्षा-व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इन सब प्रयत्नों का संगठित प्रभाव यह हुआ कि प्रत्येक विद्यालय में योग्य शिक्षक, पठन-पाठन की समुचित सामग्री और विद्यालयों के लिये सुन्दर भवनों का निर्माण हुआ। १६२१-२२ ई० में माध्यमिक पाठशालाओं में शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों

की संख्या ११,०६,८०३ हो गयी थी तथा पाठशालाओं की संख्या ७,५३० थी।

प्राथमिक शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम बीस वर्षों में प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय शासन के अन्तर्गत कर दी गयी थी। नगरपालिकायें और जिला-बोर्ड इसका प्रबन्ध करते थे। सरकार एक-तिहाई आर्थिक सहायता करती थी। कर्जन प्रारम्भिक शिक्षा का पक्षपाती था और चाहता था कि सरकार इसके प्रसार के लिये स्वयं अग्रगण्य हो। अतएव उसने सरकारी आर्थिक सहायता बढ़ाकर आधी कर दी। प्रारम्भिक शिक्षण-विद्यालयों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। कर्जन का यह इरादा था कि ग्रामीण पाठशालाओं का पाठ्य-क्रम शहर की पाठशालाओं से भिन्न होना चाहिये। ग्रामीण विद्यालयों में कृषि-शिक्षा पर जोर देना चाहिये; क्योंकि भारतवर्ष की अधिकांश जनता ग्रामों में रहती है। अतएव प्राथमिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम दुहराया गया। उसमें उपयोगी विषय जोड़े गये। उचित पुस्तकों का संकलन हुआ और प्राथमिक शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई।

इसी युग में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। इसके पहिले इंगलैण्ड में १८७० ई० में और आयरलैण्ड में १८६६ ई० में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के नियम बन चुके थे। पाश्चात्य उदाहरणों से उत्साहित होकर भारतीय नेताओं ने भारतवर्ष में भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के नियम बनाने चाहे। इस ओर गोपाल कृष्ण गोखले का नाम अग्रगण्य है। सर्वप्रथम १६१० ई० में गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का बिल केन्द्रीय धारा सभा में पेश किया; पर सरकार की ओर से इस पर विचार करने की सूचना मिलने के कारण उन्होंने अपना बिल वापस ले लिया। सरकार राजनैतिक और आर्थिक कारणों से अनिवार्य शिक्षा के लिये तैय्यार नहीं थी। अतएव मार्च १६११ ई० में उन्होंने पुनः बिल पेश किया। काफी बहस हुई। श्री गोखले ने बिल पेश करते हुए जो भाषण दिया था वह शिक्षण-

इतिहास की एक अपूर्व घटना है। पर सरकारी बहुमत होने के कारण अनिवार्य शिक्षा का बिल पास न हो सका। फिर भी सरकार ने यह समझ लिया कि जनता जागृत हो चुकी है और अनिवार्य शिक्षा के लिये कुछ करना चाहिये। अतएव जार्ज फिफ्त के राज्यारोहण के अवसर पर प्राथमिक शिक्षा के लिये ५० लाख रुपया व्यय करने का वचन दिया गया। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रयत्न होते रहे। सब से पहिले बम्बई प्रान्त में विट्ठल भाई पटेल के नेतृत्व में १६१८ ई० में अनिवार्य शिक्षा का विधेयक पास किया गया। इसके पश्चात् भारत के अन्य प्रान्तों ने भी अनुसरण किया और १६२१ ई० तक भारत के सम्पूर्ण बड़े-बड़े प्रान्तों की नगरपालिकाओं एवं बड़े-बड़े शहरों में प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता के लिये नियम बन चुके थे।

राष्ट्रीय शिक्षा

लार्ड कर्जन ने भारतवर्ष में पुरातत्व-विभाग की स्थापना की जिससे भारत की प्राचीन इमारतों की रक्षा हो सकी। उसने कृषि-विद्यालय की स्थापना के लिये प्रत्येक प्रान्तों को प्रोत्साहित किया और कृषि की उच्च शिक्षा के लिए पूसा में कृषि का एक सर्वोच्च विश्वविद्यालय खोला। विश्वविद्यालयों में कई सुधार किये, माध्यमिक शिक्षा का संगठन किया और प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त सहायता दी। परन्तु अभाग्यवश उसके भाषणों और वंग-विच्छेद के कारण जाग्रत भारतीय नेता उसके विरुद्ध हो गये। १६२० ई० तक पाश्चात्य ढंग की अंगरेजी शिक्षा के, जिसमें अंगरेजी पर अधिक जोर दिया जाता था, अवगुण स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगे। भारतीयों में बेकारी का सूत्रपात प्रारम्भ हुआ; अतएव नेताओं का यह प्रयत्न हुआ कि शिक्षा में सुधार किया जाय। उसी समय भारत में स्वतंत्रता की लहर फैल रही थी। अतएव शिक्षा-सुधारकों ने राष्ट्रीय आधार पर भारत की राष्ट्रीय शिक्षा संगठित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य से अनेक विद्यालय खोले गये। इस शिक्षा की निम्नलिखित विशेषतायें थीं :—

(१) शिक्षा का शासन भारतीय जनता के हाथ में था।
(२) संस्थापकों में आत्मबलिदान की भावना थी।
(३) धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की गयी।
(४) सांस्कृतिक विकास के लिये पाठ्य-विषय निर्धारित किये गये।
(५) संस्कृत, फारसी और अन्य भारतीय भाषाओं के गम्भीर अध्ययन की व्यवस्था की गई।
(६) भारतीय भाषाओं की ओर अधिक ध्यान दिया गया।
(७) फीस कम थी।

१९२१-२२ में जो खिलाफत-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, उसके वेग में अनेक विद्यापीठ खुल गये। विद्यार्थियों ने सरकारी पाठशालायें छोड़कर राष्ट्रीय विद्यापीठ में पढ़ना प्रारम्भ किया। पर जब गान्धी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया तो आर्थिक संकटों के कारण बहुत-से विद्यापीठ बन्द हो गये और अनेक विद्यालयों को सरकारी सहायता लेने की अनुमति मिल गयी। यद्यपि राष्ट्रीय शिक्षा के संगठन का यह आन्दोलन बन्द हो गया, फिर भी इससे यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय शिक्षा किन-किन सिद्धान्तों पर संगठित करनी चाहिये। राष्ट्रीय शिक्षा संगठित करने की यह प्रथम क्रान्ति थी, जो बुझ तो गई, पर रास्ता दिखा गई।

१९२० ई० तक देश के प्रत्येक क्षेत्र में अशान्ति का एक वातावरण पैदा हो गया था। प्रथम महायुद्ध से भारत में और जागृति फैल गई थी। भारतीय सिपाही तथा अफसर पश्चिमी देशों के संसर्ग से अधिक जाग्रत हो गये थे। भारत में राजनैतिक सुधारों के लिये आन्दोलन चल ही रहे थे। इनका प्रभाव शिक्षा पर पड़ना अनिवार्य था। अतएव १९२२ ई० में जो शासन-सुधार हुआ, उसमें शिक्षा कुछ शर्तों के साथ भारतीय मंत्रियों के हाथ में सौंप दी गई। इससे शिक्षण-क्षेत्र में क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।



८

द्वैत शासन एवं भारतीय शिक्षा

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के राजनैतिक क्षेत्रों में काफी उथल-पुथल रही। जनतंत्र एवं राष्ट्रीय भावनाओं से प्रभावित युवक स्वतंत्रता के इच्छुक थे। भारत में इसके लिये संघर्ष हो रहा था। युद्ध में भारत ने ग्रेट-ब्रिटेन की पर्याप्त सहायता की थी। अतएव ब्रिटेन की सरकार भारतीय सहायता के लिये कृतज्ञ थी। ब्रिटेन में कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो भारतीय भावनाओं और विचारों से सहानुभूति रखते थे और वे इस बात के पक्ष में थे कि भारत की माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाय। इसके अलावा ब्रिटेन पहिले से ही इस बात के लिये बचनबद्ध था कि भारत को ब्रिटिश राष्ट्र-समुदाय के अन्तर्गत एक स्वशासित उपनिवेश का स्थान दिया जाय। इसके लिये वे क्रमशः भारतीयों के हाथ में शासन-सत्ता हस्तान्तरित करने के पक्ष में थे और प्रत्येक दस साल पश्चात् वे शासन की देख-रेख करके शासन-अधिकार अर्पित करने की ओर कदम उठाते थे। इन सब कारणों का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि सन् १६१६ ई० में भारतीय-शासन में परिवर्तन करने के लिये एक कानून पास हुआ। इसके अनुसार प्रान्तों के शासन को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। कुछ विभाग जैसे पुलिस, शान्ति एवं अनुशासन, अर्थ इत्यादि

ऐसे थे जिनका शासन गवर्नर अपने सलाहकारों की मदद से करता था। इन्हें सुरक्षित विभाग कहते थे। शिक्षा, स्वायत्त-शासन, एवं अन्य राष्ट्र-निर्माणकारी विभाग भारतीय मंत्रियों के हाथ में सौंप दिये गये। मंत्री अपने विभाग के शासन के लिये प्रजा के प्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेदार थे। शिक्षा-विभाग राष्ट्र-निर्माणकारी विभाग होने के कारण प्रान्तीय मंत्रियों के आधीन रहा। विषयों का बँटवारा केन्द्र और प्रान्त में भी हो गया था। कुछ विषय जैसे सुरक्षा, सेना और रेल इत्यादि केन्द्रीय विषय हो गये। भूमि-सुधार, भूमि-कर एवं अन्य निर्माणकारी विभाग प्रान्तों के अन्तर्गत रहे। विषयों का बंटवारा होने के कारण प्रान्त और केन्द्र की आय में भी बंटवारा हो गया। आय के अधिकांश विभाग प्रान्तों को मिल गये। अतएव केन्द्र की आमदनी कम हो गई और केन्द्र को आय के अन्य जरिये ढूँढ़ने पड़े।

शासन के इस सुधार से न तो नौकरशाही के ही लोग प्रसन्न हुये, क्योंकि उनके अधिकारों में कमी पड़ने लगी और न तो राजनैतिक नेता ही प्रसन्न हुये। देश की सबसे महान संस्था, राष्ट्रीय-काँग्रेस ने शासन के साथ सहयोग करने से इंकार कर दिया। फल यह हुआ कि शासन को जनता के वास्तविक प्रतिनिधियों का सहयोग प्राप्त न हो सका। इन सब का सम्मिलित प्रभाव शिक्षा पर स्पष्ट रूप से पड़ा।

अर्थ-विभाग गवर्नर और उसके सलाहकारों के हाथ में था। जिसमें प्रान्तीय मंत्री दखल नहीं दे सकते थे। अतएव शिक्षा को इतना रुपया नहीं प्राप्त हो सकता था जितनी शिक्षा-प्रसार के लिये आवश्यकता थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि शिक्षा की प्रगति रुक गई। दूसरे शिक्षा प्रान्तीय विषय हो गया था। अतएव केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा-प्रसार में ध्यान देना बन्द कर दिया। केन्द्र से शिक्षा को आर्थिक सहायता मिलनी भी बन्द हो गई। इसका फल भी शिक्षा-प्रसार पर बुरा पड़ा। इसी समय अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आर्थिक उथल-पुथल आई। सस्ती और बेकारी बढ़ी। अतएव बहुत से निर्माण के कार्यों में खर्च की कमी करनी पड़ी। जब कभी भी आर्थिक संकट

आया शिक्षा विभाग में सबसे पहिले इसका प्रभाव पड़ा। अतएव शिक्षा की सर्वतोमुखी-विकास में अवरोध पड़ा। परन्तु इन सब कठिनाइयों के बावजूद भी शिक्षा की वृद्धि हुई? इसका क्या कारण था? राष्ट्रीयता के विकास के कारण भारतीय नेता यह मानने लग गये थे कि शिक्षा-प्रसार में ही राष्ट्र का कल्याण है। अतएव वे सब एकमत होकर शिक्षा-प्रसार की ओर ध्यान दे रहे थे। १६१० ई० में गोखले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का एक विधेयक पेश किया था। सरकारी विरोध होने के कारण यद्यपि वह बिल पास नहीं हो सका था फिर भी इससे यह स्पष्ट था कि राष्ट्रीय नेता इस ओर काफी सक्रिय थे। दूसरे जनता में शिक्षा के प्रति अभिरुचि पैदा हो गई थी। गैर सरकारी संस्थायें शिक्षा-प्रसार में काफी भाग ले रही थीं। सरकारी सहायता प्राप्त होने के कारण उनको उत्साह भी मिलता था। अतएव शिक्षा की जो भी प्रगति हुई वह राष्ट्रीय भावनाओं एवं गैरसरकारी संस्थाओं के सहयोग से सम्भव हो सकी।

शिक्षा की प्रगति को जानने और उसको उचित रास्ते पर ले जाने के लिये इसी काल में एक आयोग स्थापित किया गया, जिसे हारटोग कमेटी कहते हैं; क्योंकि सर फिलिप हारटोग (Sir Philip Hartog) इस समिति के अध्यक्ष थे। इस समिति ने अपनी जो रिपोर्ट प्रकाशित की उसका सरकारी क्षेत्रों ने तो बहुत सत्कार किया क्योंकि उनका कहना था कि मन्त्रियों की शिक्षा-प्रसार की नीति से शिक्षा को काफी क्षति पहुँची है और काफी रुपया व्यर्थ नष्ट हुआ है। इस समिति ने यह रिपोर्ट दी थी कि शिक्षा-प्रसार से हटकर सरकार का ध्यान शिक्षा सुधार की ओर जाना चाहिये। पर राष्ट्रीय नेता इसके विरोधी थे। उनका कहना था कि देश में शिक्षा-प्रसार की अभी आवश्यकता है अतएव शिक्षा-सुधार की ओर अभी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। दूसरे इसी काल में माध्यमिक शिक्षा में व्यावसायिक विषयों में पठन-पाठन का इन्तजाम करने के लिये सरकार ने एक समिति की स्थापना की। इसके सदस्य मेसर्स एबट और उड थे (Messrs Abbot

& Wood) इस समिति की सिफारिश के आधार पर माध्यमिक-शिक्षा में अनेक व्यावसायिक विषय जैसे काष्ठ-कला, वाणिज्य एवं व्यवसाय कृषि और बागवानी इत्यादि का पढ़ाया जाना प्रारम्भ किया गया।

इस युग में विश्वविद्यालयों की शिक्षा में भी प्रगति हुई। प्राचीन विश्वविद्यालयों के रूप में परिवर्तन किया गया। जो विश्वविद्यालय पहिले परीक्षा लेते थे उन्हें विशेष रूप से पठन-पाठन की ओर लगाया गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय और मद्रास विश्वविद्यालय के स्वरूप में परिवर्तन किया गया और उनमें पढ़ाई और खोज का इन्तजाम किया गया। प्रयाग-विश्वविद्यालय में प्रमुख रूप से पढ़ाई का ही प्रबन्ध किया गया। विश्वविद्यालयों में नये विभाग खोले गये। अनु-संधान की सुविधा के लिये पुस्तकालायों एवं प्रयोगशालाओं का उत्तम प्रबन्ध किया गया। इसके अलावा दिल्ली आन्ध्र, नागपुर, अनामलाई और आगरा विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। इन विश्वविद्या-लयों में लड़कों के रहने और पढ़ने के उत्तम प्रबन्ध पर जोर दिया गया। विश्वविद्यालयों में सैनिक-शिक्षा का प्रबन्ध भी किया गया।

इसी युग में विश्वविद्यालयों की शिक्षा को संगठित करने के लिये तथा उनके शिक्षा के स्तर को समतल बनाये रखने के लिये और विश्वविद्यालयों में उचित सहयोग रखने के लिये इन्टर युनिवर्सिटी बोर्ड (Inter-University-Board) की स्थापना सन् १६२४ में की गयी। तब से लगातार इस बोर्ड की बैठक हुआ करती है। इससे विश्वविद्यालयों के पारस्परिक सम्बन्ध में सुधार हुआ है तथा उनमें सहयोग की भावना बढ़ी।

इस बीच बिहार, यू० पी० और पंजाब प्रान्तों में इंटरमीडियेट बोर्ड (Intermediate Board) की स्थापना की गई। बोर्ड की स्था-पना का उद्देश्य हाई स्कूल और इन्टरमीडियेट की परीक्षा एवं पाठ्य-क्रम का संगठन करना था। शिक्षा-वैज्ञानिकों का मत था की इन्ट्रेन्स की परीक्षा पास करने के पश्चात् विद्यार्थी का मस्तिष्क इतना परिपक्व

नहीं होता कि वह विश्वविद्यालयों की शिक्षा से लाभ उठा सके। उसका मस्तिष्क अभी इन्ट्रेन्स के तरीके से पढ़ाने के योग्य होता है। तब से अब तब कई बार इस बोर्ड की उपयोगिता पर विचार किया गया है। पर उत्तर प्रदेश को छोड़कर और किसी भी राज्य ने इसकी उपयोगिता पर अपने निश्चित मत नहीं प्रकट किये हैं। विहार, उत्तर प्रदेश एवं पंजाब को छोड़कर और अन्य प्रान्तों में इन्टरमीडियेट की परीक्षा अब भी विश्वविद्यालयों के अधीन है।

जैसा कि पहिले कहा गया है सरकारी सहायता इस युग में कम हो गई थी फिर भी माध्यमिक शिक्षा की प्रगति होती रही क्योंकि लोगों में जागृति हो गई थी। शहरों और गाँवों में संगठित-समुदाय शिक्षा के लिये प्रयत्नशील थे तथा बढ़ती हुई बेकारी से भी इस प्रगति में सहायता मिली। स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार बढ़ा। इस युग में माध्यमिक शिक्षा राष्ट्रीय-भाषाओं में दी जाने लगी। परन्तु विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होने के कारण इस ओर विशेष प्रगति नहीं हो सकी और बहुत से स्कूलों ने अँगरेजी से ही पठन-पाठन जारी रक्खा। इसके अलावा अँगरेजी की उपयोगिता अब भी बनी हुई थी। सरकारी नौकरियों के लिये अँगरेजी में योग्य होना आवश्यक था। ऐसे क्षेत्र में जहाँ पर अनेक भाषायें बोली जाती थीं वहाँ पर अँगरेजी ही एक ऐसी भाषा थी जिसके द्वारा सब को पढ़ाय जा सकता था। अन्य भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली की कमी थी अतएव राष्ट्रीय भाषाओं में पढ़ाई शुरू हो जाने पर भी अँगरेजी की प्रभुता बनी रही। इन सबकी जड़ में विश्वविद्यालयों में अँगरेजी के माध्यम् से पढ़ाई थी। अतएव राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान अब विश्वविद्यालयों में शिक्षा के माध्यम् की ओर केन्द्रित हुआ। इस युग में माध्यमिक शिक्षा में व्यवसायिक शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित हुआ क्योंकि अँगरेजी शिक्षा के कटु परिणाम अब स्पष्ट हो गये थे।

प्राथमिक शिक्षा में अब प्रसार प्रारम्भ हो चुका था और मन्त्री जिनके हाथ में शिक्षा विभाग था, इस बात के लिये उत्सुक थे कि

शिक्षा-प्रसार हो। इसके लिये प्रत्येक प्रान्त में अनिवार्य शिक्षा विधेयक पास किये गये। अधिकांश प्रान्तों में जिनमें अनिवार्य शिक्षा विधेयक पास हो चुके थे उनपर अब कार्य प्रारम्भ हुआ। अनिवार्य शिक्षा के कार्य विशेष रूप से शहरों में ही शुरू हुए क्योंकि यह काम वहीं पर आसान था। एक प्रकार से "प्रत्येक प्रांत में निरक्षरता के विरुद्ध एक युद्ध प्रारम्भ हो गया।" पर व्यय और प्रयत्न करने पर भी फल बहुत उत्साह-वर्धक नहीं रहा क्योंकि प्राथमिक शिक्षा अधिकांशतः अब स्वायत्त शासन का एक भाग हो चुकी थी और उत्तरदायी शासन में आर्थिक संकटों के कारण यह पनप नहीं सकी।

शिक्षा-विभाग में यद्यपि अब (I. E. S.) इण्डियन एडुकेशनल सर्विस की भर्ती बन्द थी फिर भी पुराने सदस्य अब भी बच रहे थे जिन्हें शासन की ओर से काफी सुभीता प्राप्त था। न तो वे साधारणतः निकाले ही जा सकते थे और न तो उनके विरुद्ध कोई आदेश ही दिया जा सकता था। पुराने अधिकारी अधिकतर मन्त्रियों की नीति के विरुद्ध थे अतएव वे काम में अडंगा लगाते थे। इसलिए सरकार की नीति साधारणतः कार्यान्वित नहीं होती थी। अतएव इसी काल में प्रत्येक प्रान्त में सरकारी नौकरियों के लिये प्रान्तीय एडुकेशनल सर्विश (Provincial Educational Service) की स्थापना की गयी।

अँगरेजी-शिक्षा-पद्धति भारतीय-भावना एवं राष्ट्रीय-विकास के विरुद्ध थी। उसके दुर्गुण स्पष्ट हो गये थे। इन्हें विनष्ट करने के लिये राष्ट्रीय-शिक्षा-सदनों की स्थापना की गई थी। पर अँगरेजी शासन के विरुद्ध स्वतन्त्र रूप से यह सदन बहुत दिन तक कार्य नहीं कर सके। अतएव उनमें से अधिकांश सरकारी कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आ गये थे। पर कुछ ऐसी संस्थायें अब भी थीं जिनमें राष्ट्रीय भावना जीवित थी और जो सरकारी कार्यक्षेत्र के बाहर रह कर भी कार्य कर रही थी। इनमें जामिया मिलिया इस्लामिया दिल्ली, विश्व-भारती एवं गुरुकुल कांगडी तथा दारुल उलूम लखनऊ आदि प्रमुख हैं। जामिया

मिलिया गान्धी जी के सिद्धान्तों पर शिक्षा देती है। विश्व-भारती की स्थापना ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने की थी और इसका प्रमुख उद्देश्य पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति का सम्मिलन था। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्वावधान में १६०२ ई० में हुई। १६२४ ई० में यह कांगड़ी ले आया गया। इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति के आधार पर शिक्षा-संगठन था। इसी प्रकार दारुल उलूम लखनऊ और अन्य संस्थायें मुसलमान संस्कृति की सुरक्षा में लग्न थीं। इन सब का प्रभाव यह हुआ कि भारतीय-राष्ट्रीय-शिक्षा का स्वरूप निश्चित हो गया और उसके पूर्ति की चेष्टा होने लगी।

भारतीय मन्त्रियों से तत्वावधान में ही १६२७ में प्रौढ़ शिक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ और यह उन्हीं के परिश्रम का फल है कि प्रौढ़ शिक्षा की नई योजनायें कार्यान्वित की गईं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय-मन्त्रियों के हाथ में १६३७ ई० में पूर्ण शासन आने के पूर्व शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में एक अजीब उथल-पुथल प्रारम्भ हो गई थी। असन्तोष की भावना बढ़ती जा रही थी और उसका सुधार होना आवश्यक था। शिक्षा की वह सब कठिनाइयाँ जिनका हल आज हमें अब भी निकालना है, उसी समय दृष्टिगोचर होने लगीं थीं।



९

शिक्षा-प्रसार के प्रान्तीय प्रयत्न

बीसवीं शताब्दी के तृतीय दशाब्दि में भारतीय जन-क्रान्ति का सर्व-व्यापी प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर हो रहा था। १६१६ के शासन-सुधार से न तो राजकीय अधिकारी ही प्रसन्न थे और न तो राजनैतिक नेता ही। भारत ब्रिटिश-सत्ता को हटाने के लिए अहिंसात्मक लड़ाई लड़ रहा था और यह लड़ाई जोर पकड़ रही थी। जनता असन्तुष्ट थी। द्वैत शासन के अवगुण स्पष्ट हो रहे थे। १६३० ई० में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में एक वृहत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिससे शासन की जड़ें हिल गईं। भारतीय जागृति को देखकर अधिकारियों ने यह अन्दाज लगाया कि शासन में सुधार करना आवश्यक है और अधिकाधिक शासनाधिकार भारतीयों के हाथ में सौंप देना चाहिये। बहुत वाद-विवाद के पश्चात इंगलिश पार्लियामेंट ने भारत के लिये एक विधान तैयार किया जो १६३५ ई० के संविधान के नाम से प्रख्यात है। इस संविधान के अनुसार प्रान्तों में द्वैत-शासन का अन्त हो गया। सारी सत्ता भारतीय मन्त्रियों के हाथ में सौंप दी गई जो जनता के चुने हुये प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी थे। पर इसमें गवर्नर के कुछ विशिष्ट अधिकार थे और वह जिस विषय में चाहता हस्तक्षेप कर सकता था। केन्द्र में अब द्वैत शासन प्रारम्भ

हुआ। वाइसराय कुछ केन्द्रीय विषयों के लिये स्वतः इंगलिश पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी था। केन्द्र में कुछ विषय भारतीय प्रतिनिधियों को सौंप दिये गये जिस पर केन्द्र के भारतीय प्रतिनिधि वाद-विवाद कर सकते थे।

१९३५ के संविधान के अन्तर्गत १९३७ ई० में सर्वप्रथम प्रान्तीय धारा सभाओं के लिये चुनाव हुये। जिसमें सात प्रान्तों में राष्ट्रीय कांग्रेस का बहुमत रहा। पर गवर्नर के विशेषाधिकार के कारण सर्वप्रथम कांग्रेस ने प्रान्तों में मन्त्रिमंडल बनाने से इन्कार कर दिया। एक राजनैतिक अड़चन उत्पन्न हो गई। दोनों ओर से समझौते के प्रयत्न होने लगे और अन्त में सरकार के इस आश्वासन पर कि गवर्नर मन्त्रियों के कार्यों में अड़ंगा नहीं लगावेंगे, कांग्रेस ने प्रांतों में कांग्रेस-सरकार बनाना मंजूर कर लिया, फलस्वरूप सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार हो गई। इसके अलावा अन्य प्रान्तों में भी मन्त्रि-मंडल बने। शासन में उथल-पुथल हुई। सर्वप्रथम राजनैतिक नेताओं के हाथ में शासन-सत्ता आई, जिससे वे किसी भी क्षेत्र में सुधार कर सकें। इस दृष्टि से शिक्षा पर भारतीय नेताओं की दृष्टि सर्वप्रथम पड़ी; क्योंकि उनका विश्वास था कि बिना शिक्षा-सुधार के शिक्षा-प्रचार के अन्य क्षेत्रों में सुधार करना असम्भव है।

शिक्षा प्रान्तीय विषय था, जिसमें भारतीय मन्त्री सुधार और प्रयोग के लिये स्वतन्त्र थे। पर उनके सामने सब से बड़ी कठिनाई अब भी यह थी कि अखिल भारतीय शिक्षा सेवा के कुछ सदस्य अब भी शिक्षा-विभाग में मोजूद थे, जिनके विचार प्रान्तीय थे और वे सुधारों और प्रयोग के लिये पूर्णरूप से तैयार नहीं थे। इसके अलावा आर्थिक अड़चनें भी थीं। शासन जितना रुपया शिक्षा पर व्यय करना चाहता था, उतना व्यय नहीं कर सकता था। फिर भी शिक्षा भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आ जाने से उसमें एक नवीन स्फूर्ति आ गई और नवीन प्रयोग प्रारम्भ हो गये।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा में अधिकाधिक प्रसार हुआ। विश्व-

विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या प्रायः दुगुनी हो गई। १६३३-३७ में भारतीय विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या १२६, २९८ थी। १६४६-'४७ में बढ़कर यह संख्या २४१, ७६७ हो गई। उच्च-शिक्षा के दोषों के कारण उच्च-शिक्षा-प्राप्त नवयुवकों में बेकारी बढ़ने लगी। सरकारी नौकरियों के भूखे भारतीय विश्वविद्यालयों के ग्रेजुएट निराशा के शिकार होने लगे। अतएव भारतीय नेताओं का ध्यान विश्वविद्यालयों के सुधार की ओर आकर्षित हुआ। इस पर भारतीय नेताओं के दो विचार थे। एक तो यह कि अब वह अवस्था आ चुकी है जब उच्च शिक्षा का प्रसार रोक दिया जाय। भारतीय समाज में पर्याप्त ग्रेजुएट हैं। दूसरे यह कि उच्च शिक्षा में वैज्ञानिक शिक्षा एवं टेकनिकल शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाय। वास्तव में दूसरा ही मत ठीक है। इस विषय पर मत प्रकट करते हुए सर जान सार्जेन्ट, जो उस समय भरतीय शिक्षा के केन्द्रीय सलाहकार थे, लिखते हैं कि यह कहना कि भारतीय समाज में उच्च शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार हो गया है, गलत है। अगर भारतीय ग्रेजुएटों की संख्या जन-संख्या के अनुपात में ली जाय तो विदित होगा कि भारत उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सबसे पिछड़ा हुआ है। लड़ाई से पहिले जर्मनी में विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का अनुपात ६६० नागरिकों में १ नागरिक का था, ग्रेट ब्रिटेन में ८३८ में १ का, अमेरिका में २२५ में १ का, रूस में ३०० में १ का, परन्तु भारत में २२०६ व्यक्तियों के पीछे एक व्यक्ति विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहा है।

इंगलैण्ड में ४.१ करोड़ जनता के लिये १२ विश्वविद्यालय हैं, कनाडा में ८.२ करोड़ के लिये १३ विश्वविद्यालय हैं; अमेरिका में १३ करोड़ जनता के लिये १७२० उच्च शिक्षा-सम्बन्धी विश्वविद्यालय हैं, परन्तु भारतवर्ष में ४० करोड़ जनता के लिये केवल १८ विश्वविद्यालय हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जब भारतवर्ष में ठीक तरह की शिक्षा का प्रचार होगा, तब उसे और भी अधिक उच्च शिक्षा के विद्यालयों की आवश्यकता होगी।

उच्च शिक्षा के अवगुण अब दृष्टिगोचर हो रहे थे। अतएव समाज-सुधारकों एवं शिक्षा-वैज्ञानिकों ने उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। उच्च शिक्षा में अब वैज्ञानिक शिक्षा और अनुसन्धान तथा कृषि, इन्जीनियरिंग आदि की ओर शासकों का ध्यान आकर्षित हुआ। उच्च शिक्षा का माध्यम क्या हो, इस पर अधिकाधिक विवाद प्रारम्भ हुए और आज भी इस विवाद का पूर्ण अन्त नहीं हो सका है।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी विस्तार हुआ और माध्यमिक पाठशालाओं में पढ़नेवाले लड़कों की की संख्या बढ़ी। माध्यमिक शिक्षा का माध्यम अब प्रान्तीय भाषायें निश्चित रूप से बन गईं। माध्यमिक शिक्षा में अब ऐसे विषय बढ़ाये गये, जो लड़कों को भविष्य में अपने जीविकोपार्जन के लिये सहायक हो सकें। कला, काष्ठ-कला, कृषि, कताई-बुनाई आदि अब माध्यमिक शिक्षा के परीक्षा-विषय हो गये।

प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिये तो देश कटिबद्ध था। अतएव जैसे ही भारतीय मंत्रियों के हाथ में शक्ति आई, उन्होंने प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिये प्रयत्न किये। देश के प्रायः सभी प्रान्त अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विधेयक पास ही कर चुके थे। पर उनको कार्य रूप में परिणत करने में कठिनाइयाँ थीं। अतएव प्रान्तीय सरकारों ने स्थानीय सरकारों को प्राथमिक शिक्षा प्रसार के लिये अधिकाधिक आर्थिक सहायता दी। इसी युग में प्रान्तीय शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी प्रयोग हुआ। महात्मा गान्धी ने बेसिक शिक्षा की सूझ दी और यह सलाह दी कि प्राथमिक शिक्षा का आधार बेसिक-कला-कौशल होना चाहिये। इससे बच्चों को हाथ की एक दस्तकारी मालूम हो जायगी जिससे यदि वे आगे अपनी पढ़ाई समाप्त कर दें, तो अपनी रोजी कमा सकें और वे नौकरियों की तलाश के लिये इधर-उधर न घूमें। बेसिक-कला-कौशल की शिक्षा की मदद से शिक्षा-प्रसार आसान हो जायगा; क्योंकि इसके सहारे शिक्षा का खर्च स्कूल ही उठा लेंगे। १९३७ ई० में प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना होने के साथ ही प्रायः प्रत्येक प्रान्त ने इस पर

कार्य प्रारम्भ किया। उत्तर प्रदेश इसमें सबसे आगे रहा। तब से आज तक बेसिक-शिक्षा की नीति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पर अब यह राष्ट्रीय नीति हो गई है कि भारत की राष्ट्रीय शिक्षा की नीति बेसिक शिक्षा-प्रणाली ही होगी।

जनतंत्रीय शासन के लिये शिक्षित नागरिक प्राथमिक आवश्यकता हैं। भारत में सिर्फ ८ प्रतिशत लोग १६३७ ई० में शिक्षित थे। अतएव प्रान्तीय सरकारों ने आते ही इस बात का प्रयत्न किया कि शीघ्र-से-शीघ्र कम खर्चे में भारत की सम्पूर्ण जनता शिक्षित हो जाय। अतएव उन्होंने प्रौढ़-शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न किये। हर एक प्रान्त ने प्रौढ़ शिक्षा की योजना बनाई और उस पर काम प्रारम्भ किया।

काँग्रेसी सरकार दो साल तक ही शासनारूढ़ रह पाई थी कि द्वितीय विश्वव्यापी महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। सरकार से युद्धनीति में मतभेद होने के कारण प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया और सरकार का कार्य गवर्नर अपने सलाहकारों के साथ चलाने लगे। १६४२ ई० में कांग्रेस ने 'भारत-छोड़ो' का जन-संग्राम प्रारम्भ किया और देश के महान नेता तथा समाज-सेवी जेल की दीवारों के भीतर चले गये। महायुद्ध की बिभीषिका बढ़ती ही गई और देश का सम्पूर्ण धन एवं शक्ति महासमर में व्यय होने लगी। अतएव युद्ध-प्रयत्नों के बीच शिक्षा ऐसे निर्माणकारी विभाग पर देश का ध्यान ही नहीं रहा। इसी बीच में भारत में शिक्षा के पुनर्निर्माण के लिये शिक्षा के केन्द्रीय सलाहकार सर जान सार्जेन्ट ने एक योजना तैयार की। इस योजना के आधार पर भारत को पूर्ण शिक्षित होने में ४० वर्ष से अधिक लग जाते। अतएव शिक्षा की सार्जेन्ट-योजना में मूल सुधार करना पड़ा।

१६४७ ई० में अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण अंग्रेजों ने भारतियों को पूर्ण स्वराज्य दे दिया। केन्द्र तथा प्रान्त में जनता का राज्य हो गया अतएव देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् शिक्षण-क्षेत्र में नवीन क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।



१०

भारतीय शिक्षा की समस्यायें

सन् '३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ और यह भयंकर रक्त-पात' ४५ तक चलता रहा। स्वतंत्रता एवं जनतंत्र की रक्षा के उद्देश्य से ब्रिटेन भी युद्ध में शामिल हुआ और भारत की ओर से, बिना भारतीय नेताओं की सलाह के ब्रिटेन ने युद्ध-घोषणा कर दी। ब्रिटेन संसार में जिन सिद्धान्तों की रक्षा के लिये लड़ रहा था, भारतीय जनता के विरुद्ध उन्हीं सिद्धान्तों को वह दबा रहा था। अतएव भारतीय जनता का युद्ध में सहायता न देना स्वाभाविक ही था। युद्ध-काल में भारतीय नेता जेल में रहे। सरकार ने सम्पूर्ण निर्माणकारी विभागों की उन्नति एवं प्रसार बन्द कर दिया। अतएव शिक्षा की उन्नति रुकी रही। पर युद्ध-काल में भी शिक्षा के विस्तार के लिये योजनायें बनाई जा रही थीं ताकि युद्ध के पश्चात् शीघ्र ही शिक्षा की उन्नति की जा सके। युद्ध के पश्चात भारत में शिक्षा प्रसार की जो योजना तैयार की गयी थी, उसे साधारण तौर पर 'सारजेन्ट-रिपोर्ट' कहते हैं क्योंकि सर जान सार्जेन्ट उस समय भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे और उन्हीं के सभापतित्व में यह योजना तैयार की गई थी।

सार्जेन्ट-रिपोर्ट

इस योजना का मूल उद्देश्य ४० वर्ष के अन्दर भारत में उतनी ही

शिक्षा का प्रसार कर देना था जितनी शिक्षा का प्रसार ब्रिटेन में था। इस उद्देश्य से इस योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित अंगों का समावेश किया गया :—

(१) ३ वर्ष से लेकर ६ वर्ष के बालकों के लिये शिशु-शालाओं की व्यवस्था।

(२) ६ वर्ष से १४ वर्ष के बालकों के लिये निःशुल्क, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा। इस शिक्षा का माध्यम बेसिक शिक्षा-प्रणाली होगी और इसे दो भागों में विभाजित किया जायगा। ६ वर्ष से ११ वर्ष तक जूनियर बेसिक शिक्षा होगी और ११ वर्ष से १४ वर्ष तक सीनियर बेसिक शिक्षा होगी।

(३) चुने हुए योग्य बालकों को ११ वर्ष से १७ वर्ष तक हाई स्कूल की उच्च शिक्षा दी जायगी।

(४) इन्टरमीडियेट के बाद ३ साल तक चुने हुए विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों की शिक्षा दी जायगी।

(५) उचित रूप से शिल्प, कला एवं व्यवसाय की शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

(६) २० साल में निरक्षरता-निवारण एवं साधारण जनता के लिये पुस्तकालयों की व्यवस्था।

(७) शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था।

(८) बच्चों के अनिवार्य शारीरिक शिक्षा की व्यवस्था जिसमें उनकी चिकित्सा, दूध एवं दोपहर में अल्पाहार की व्यवस्था हो।

(९) काम-पर लगाने वाली सलाहकार समितियों का (Employment Bureaus) निर्माण।

(१०) मानसिक एवं शारीरिक विकारों से पीड़ित बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था।

(११) पर्याप्त मात्रा में मनोरंजन एवं सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था।

भारतीय शिक्षा की समस्याओं को हल करने के लिये यह प्रथम संगठत योजना थी। इस योजना के द्वारा शिक्षण-क्षेत्र में सब के

लिये बराबरी का दर्जा दिया गया और सब को इस बात का मौका मिल सकने की व्यवस्था की गई कि वह अपनी योग्यता के द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके। शिक्षकों की हालत सुधारने के लिये भी इस योजना के द्वारा उचित व्यवस्था की गई और उनकी तनख्वाहें बढ़ाई गयीं। पर इस योजना में प्रमुख अवगुण यह था कि शिक्षा की समस्याओं को हल करने के लिये ४० वर्ष का लम्बा समय निश्चित किया गया था और इस काल में यदि जनता का जीवन-स्तर बढ़ता जाय और भारत की जनसंख्या भी बढ़ती जाय तो अवधि के अन्त में भारत को प्रतिवर्ष शिक्षा पर ६०० करोड़ रुपया खर्च करना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में भारत ऐसे देश के लिये यह असम्भव हो जायगा कि वह शिक्षा की उचित व्यवस्था कर सके।

'४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय नेताओं ने इस योजना को पुनः दुहराया और इसका राष्ट्रीयकरण किया। अब भारत ने १५ वर्षों के अन्तर्गत निरक्षरता-निवारण का निश्चय किया है।

भारत की अपनी शिक्षा-समस्यायें हैं जो भारतीय वातावरण की निज की हैं। भारत ने जनतन्त्रवादी सरकार को अपनाया है। जनतन्त्र में अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में निहित होती है। अतएव ऐसी सरकार के नागरिकों में अपनी अच्छाई और बुराई का ज्ञान होना अति आवश्यक है। शिक्षा जनतन्त्र के लिये आधार-शिला है। ऐसे देश में जहाँ पर ८५ प्रतिशत लोग निरक्षर हों, जनतंत्र का सफल प्रयोग कठिन है। अतएव भारत की सर्वप्रमुख समस्या है कि अल्पकाल में, कम से कम खर्च पर, सम्पूर्ण जनता को कैसे शिक्षित किया जा सकता है? इसका एक मात्र उत्तर है कि निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर बनाया जाय और उन्हें शिक्षित किया जाय तथा बच्चों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजना लागू की जाय। प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये सामाजिक शिक्षा का प्रसार करना आवश्यक है और बालकों की शिक्षा के लिये बेसिक शिक्षा का।

बेसिक शिक्षा

बहुत सोच-विचार के बाद भारतीय सरकार ने यह निश्चिय किया है कि शिक्षा-प्रणाली बेसिक शिक्षा सिद्धान्तों पर अवलम्बित रहेगी। इस प्रणाली में किसी बुनियादी कारीगरी को केन्द्र मान कर सम्पूर्ण शिक्षण-विषयों को उसी कारीगरी के चारों ओर समन्वित करते हैं। शिक्षा की इस पद्धति के प्रवर्तक हमारे राष्ट्रपिता बापू थे। इस शिक्षण-पद्धति के चाहे और अवगुण क्यों न हों, पर इस प्रकार की शिक्षा बालक के जीवन से सम्बन्धित रहती है और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। बालक जीवन और शिक्षा में कोई विभेद नहीं पाता। अतएव यदि वह चाहे तो अपने जीवन सम्बन्धी समस्याओं का मूल हल शिक्षा के द्वारा निकाल ले। हमारी वर्तमान शिक्षा बनावटी है और विषयों के सूक्ष्म ज्ञान पर आधारित है। सूक्ष्म ज्ञान सफल जीवन के लिये अकर्मण्य बनाता है। फलतः राष्ट्र में बेकारी और जीवन समस्या सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। बेसिक शिक्षा से और नहीं तो बालक अपनी निजी रोटी की समस्या तो हल कर ही सकता है।

समाज-शिक्षा

समाज-शिक्षा का मूल उद्देश्य ग्रामीण जनता को जागरूक करके उन्हें अपने जीवन सम्बन्धी समस्याओं का उचित हल निकालना एवं नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का उपयोग बताना है। शिक्षा और साक्षरता में भेद है। सम्भव है एक शिक्षित मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा न हो या निरक्षर ही हो। जो मनुष्य अपने कर्त्तव्य एवं अधिकारों का सदुपयोग कर सकता है और अपने जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का पालन करता है वह निरक्षर होते हुये भी शिक्षित है। साक्षरता तो शिक्षा की एक श्रेणी है। प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों के प्रारम्भ होने के साथ उनका ध्यान अशिक्षित जनता की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने साक्षरता आन्दोलन प्रारम्भ किया। पर बाद में उन्हें मालूम

हुआ कि साक्षरता आन्दोलन के साथ नागरिकों को उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण अंगों पर शिक्षित करना अत्यावश्यक है। अतएव साक्षरता से बदलकर उन्होंने इस आन्दोलन को समाज-शिक्षा का अन्दोलन बनाया। इसके लिये प्रत्येक प्रान्त ने शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत एक अलग विभाग ही खोल लिया जिसे समाज-शिक्षा-विभाग कहते हैं। इस विभाग का कार्य भजन-कीर्तन, सिनेमा, प्रदर्शनी एवं सम्मेलनों के द्वारा जनता में स्वास्थ्य, कृषि एवं अन्य लोकोपयोगी सूचनायें प्रसारित करना है। भारत ऐसे देश में इस प्रकार की सूचनायें प्रसारित करने वाले विभाग की उपयोगिता का क्या कहना ?

स्त्री-शिक्षा

शिक्षा की अन्य समस्याओं में स्त्री-शिक्षा एवं शिशु-पालन की शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में निरक्षरता अधिक है। सामाजिक बन्धनों के कारण उनकी जागृति अत्यन्त कठिन भी है। स्त्रियाँ समाज की एक प्रमुख अंग हैं और उनकी जनसंख्या देश की जनसंख्या की आधी है। देश के आधे भाग को अपंगु करके देश की स्वतन्त्रता, सुरक्षा एवं समुन्नति का स्वप्न देखना असम्भव है। फिर स्त्रियाँ ही मातायें होती हैं जिनके हाथ में बच्चों का पालन-पोषण रहता है। बाल्यकाल के प्रारम्भिक दिनों में माता-पिता का और विशेषकर माता का बालक पर प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। अतएव यदि मातायें अशिक्षित रहेंगी तो निश्चय ही वे देश के भावी नागरिकों को अपंगु बना देंगी। इसलिये उनमें शिक्षा और समाज-शिक्षा का प्रसार नितान्त आवश्यक है। स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी जितनी समस्यायें हैं वे विशेषतया समाज-सुधार से सम्बन्धित हैं। शिक्षित स्त्रियों को समाज-सेवा एवं शिक्षा-प्रसार के लिये तैयार होना और भी दुरूह है। समस्या कठिन है, पर उसका हल सम्भव है और यदि बालकों की निरक्षरता की समस्या हल करना है तो हमें स्त्री-शिक्षा की समस्या पहिले हल करनी पड़ेगी।

बाबूगीरी की शिक्षा

भारतवर्ष की शिक्षा का वर्तमान स्वरूप 'बाबूगीरी' की शिक्षा पर आश्रित है। वास्तव में इसका प्रारम्भ भी इसीलिये हुआ था। अतएव ऐसी शिक्षा से राष्ट्र के लिये सुपुष्ट अवयव तैयार होंगे, ऐसी आशा करना नितान्त भ्रान्ति है। देश में पढ़े लिखे बेकारों की समस्या दिनों-दिन जटिल होती जा रही है। बेकारी देश के लिये हानिकर है, फिर पढ़े-लिखों की बेकारी। इससे देश की आर्थिक, नैतिक एवं जन-शक्ति का जो अपव्यय होता है, उसकी कल्पन करना कठिन है। शिक्षा की यह कमजोरी आज नहीं, आज से ५० वर्ष पहिले दृष्टि-गोचर हो चुकी है और राष्ट्र-सेवी इसका सुधार करने में जुटे हुये हैं। पर इस प्रकार की शिक्षा में सुधार की नहीं, क्रान्ति की आवश्यकता है। जिस घर की नींव ही दलदल में हो, उस पर टिपकारी करने से क्या फायदा हो सकता है?

व्यवसायिक शिक्षा

भारत की उच्च-शिक्षा एवं भारत में ग्रेजुएटों की संख्या, भारत की जनसंख्या को दृष्टिकोण में रखकर अधिक नहीं है, पर वास्तविक कठिनाई है कि इसका सामाजिक सन्तुलन नहीं है। शिक्षा-विशारदों के लिये यह साधारण बात है कि वे उच्च शिक्षा एवं माध्यमिक शिक्षा की कठिनाइयों पर वाद-विवाद करें। इसमें शक नहीं कि हमें और अधिक ग्रेजुयट पैदा करने हैं। पर प्रश्न है किस तरह के? ऐसे ग्रेजु-यट जिनके हाथ-पैर पुष्ट हों और जो हाथ से फावड़ा और कुदाल चलाकर राष्ट्र के नव-निर्माण में सक्रिय भाग ले सकें। हमें डाक्टर और इञ्जिनीयर चाहिये। हमें नव-चेतना से जागृत शिक्षक भी चाहिये।

जन-चेतना

किसी देश की शिक्षा की सम्पूर्ण समस्यायें देश की सरकार अकेले हल नहीं कर सकती; फिर भारत ऐसे विशाल देश की समस्यायें जितनी

ही विशद हैं, उतनी ही विभिन्न भी। ऐसी अवस्था में यह आशा करना कि सरकार ही हमारे लिये सब कुछ कर देगी, भ्रमात्मक है। सरकार सक्रिय सहयोग देगी, इसमें शक नहीं। अतएव शिक्षा की सर्वप्रमुख समस्या है जनता में शिक्षा के लिये आवश्यकता पैदा करना। सरकार का मुख्य कार्य यह कि वह प्रचार एवं प्रसार के द्वारा जनता में शिक्षा के लिये भूख पैदा कर दे। मनुष्य स्वभावतः अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अतएव यदि एक बार इस प्रकार की क्षुधा तीव्र हो जाय तो उसकी शान्ति शीघ्र ही होगी। सम्भव है, जो कार्य रूस, जापान या टर्की ने कुछ समय में किये हैं, वह कार्य हम उससे भी शीघ्र कर लें।



११

राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप

राष्ट्र-निर्माण एवं राष्ट्र के सर्वाङ्गीण विकास के लिये शिक्षा-प्रसार ही प्रथम सीढ़ी है। बिना शिक्षा-प्रसार के सामाजिक एवं वयक्तिक विकास असम्भव है। अतएव यदि हम भव्य भारत के नव-निर्माण के लिये सक्रिय एवं चिन्तित हैं तो हमारा प्रथम कर्त्तव्य है कि हम शिक्षा के स्तर को उठावें एवं शीघ्रातिशीघ्र शिक्षा का कोने-कोने में प्रसार करें। एक दीपक से ही दूसरा दीपक जलता है। अतएव हमारा कर्तव्य है कि शिक्षा की ऐसी दीप-शिखा प्रज्वलित करें कि उसके प्रकाश से हमारा राष्ट्र प्रज्वलित हो जाय।

शिक्षा और विश्वशान्ति

शिक्षा के सार्वभौमिक एवं कल्याणकारी स्वरूप को प्रायः प्रत्येक सभ्य राष्ट्र एवं प्रत्येक नागरिक जानता है। अतएव शिक्षा का मूल अधिकार हमारे संविधान में अंकित कर दिया गया है। शिक्षा के द्वारा राष्ट्र-कल्याण ही नहीं उससे विश्व-शान्ति की प्रमुख समस्या, जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र क्लेशित हैं, हल हो सकती है। इसीलिये संयुक्त राष्ट्र-संघ ने मानव के मूल अधिकारों की घोषणा में शिक्षा के अधि-

कार का समावेश विशेषरूप से किया है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शिक्षा-प्रसार एवं शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रों में सहयोग स्थापित करने के लिए (U. N. E. S. C. O.) यूनेस्को नामक एक उपसंस्था का निर्माण किया है।

शिक्षा और जन तन्त्र

जन-तंत्रीय सरकार के संगठन, निर्माण एवं संचालन के लिये तो देश के प्रत्येक नागरिक का शिक्षित होना नितान्त आवश्यक है। जन-तन्त्र में नागरिक केवल मूकनागरिक ही नहीं बल्कि सरकार का एक अंग भी है; क्योंकि राष्ट्र की अन्तिम सत्ता नागरिक अधिकारों में ही निहित है। अतएव जन-तन्त्र में प्रत्येक नागरिक का इतना शिक्षित होना आवश्यक है कि वह यह जान सके कि राष्ट्र-नीति सुयोग्य नेताओं के हाथ में है और आवश्यकता पड़ने पर अपने अधिकारों का सदुपयोग कर सके।

शिक्षा और साक्षरता

शिक्षा एवं साक्षरता में भेद है। शिक्षा एक विशद शब्द है जिसके अन्तर्गत मनुष्य की सर्वाङ्गीण उन्नति निहित है। साक्षरता तो शिक्षा का एक साधनमात्र है जिससे मनुष्य की शिक्षा सहज हो जाती है। यह सम्भव है कि एक शिक्षित आदमी निरक्षर हो जैसे जगत-प्रसिद्ध सम्राट् अकबर। पर साक्षर होकर अशिक्षित रहना सम्भव नहीं। यों तो विद्वान मूर्खों के कारनामों से सारा इतिहास भरा पड़ा है पर उनकी गणना हम अशिक्षितों में नहीं कर सकते। हमारा ध्येय शिक्षित करना है साक्षर करना उतना नहीं। पर साक्षरता सरल साधन एवं प्रथम साधन होने के कारण किसी भी शिक्षा की योजना में सर्वप्रथम आती है और इसीलिये साक्षरता एवं शिक्षा पर्यायवाची शब्द हो गये हैं।

शिक्षा और समाज

शिक्षा का समाज से विशेष सम्बन्ध है। कहावत है जैसा देश वैसा वेष। समाज अपने संगठन एवं संचालन के लिये अपनी आव-

श्यकता के अनुसार नवयुवकों को तैयार करता है। समाज में जिस उद्देश्य एवं जीवन के जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का बाहुल्य होगा शिक्षा में उनकी स्पष्ट एवं अमिट छाप रहेगी। तानाशाही राष्ट्र अपने नागरिकों में स्वतन्त्र भावना एवं स्वतन्त्र विचार की परम्परा का समावेश कभी नहीं होने देंगे। वे तो अधिकांशतः अपने नागरिकों में मूक अनुशासन की भावना को ही प्रोत्साहित करेगें। जनतंत्र में तो स्वतंत्र कार्य-परम्परा एवं स्वतंत्र विचार उसके जीवन के लिये ही आवश्यक हैं। राष्ट्र को जिसकी विशेष आवश्यकता होती है उसी के अनुसार शिक्षा के मूल उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता रहता है। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में शिक्षा में राष्ट्रीय विचार-धारा का बाहुल्य था। उन्नीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक प्रभाव स्पष्ट था। बीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये सामाजिक एवं सहकारिता की भावना की आवश्यकता है। अतएव शिक्षा में आजकल सामाजिक भावना के विकास पर जोर दिया जाता है।

शिक्षा और संस्कृति

समाज का ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक विचारों का भी शिक्षा-विधान पर प्रभाव पड़ता है। संस्कृति के अन्तर्गत कालान्तर में संग्रहीत राष्ट्रीय कला, संगीत एवं साहित्य, आदि की गणना होती है। ललित कलाओं का सामूहिक स्रोत ही संस्कृति है और हमारी संस्कृति स्पष्ट एवं निश्चित रूप से हमारे उन विचार-स्रोतों को प्रभावित करती रहती है जो वाह्य जगत में हमारे कार्य का संचालन करते हैं। संस्कृति हमारे शिक्षा को ही प्रभावित नहीं करती बल्कि शिक्षा भी संस्कृति का संचय, परिमार्जन एवं परिवर्धन करती है। अतएव शिक्षा और संस्कृति सामाजिक निर्माण के दो प्रमुख स्रोत हैं।

शिक्षा का उद्देश्य

फलतः शिक्षा की किसी भी राष्ट्रीय-शिक्षा-योजना में देश की तत्कालीन आवश्यकता, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा, एवं बौद्धिक

विचार धारा का समावेश होना अत्यावश्यक है। यदि शिक्षा में इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से नहीं रहेगा तो वह शिक्षा विदेशी ही रहेगी और देश के उर्वर जमीन में भी पनप न सकेगी।

भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के उद्देश्यों पर अपने विचार प्रकट करते हुये माध्यमिक शिक्षा आयोग ने शिक्षा के उद्देश्य निम्न शब्दों में व्यक्त किये हैं, "वर्तमान काल में भारतीय शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह विद्यार्थियों में ऐसे चरित्र का निर्माण करे कि वे विकसित होने वाली जनतंत्रीय राष्ट्र-पद्धति में एक सुयोग्य नागरिक की भाँति भाग ले सकें; उनके व्यवसायिक गुण इस भाँति विकसित किये जायँ कि वे देश की आर्थिक उन्नति में सहायक हों एवं उनकी साहित्यिक कलात्मक एवं सांस्कृतिक रुचियों का इस भाँति विकास किया जाय जो मनुष्य के प्राकृतिक गुणों के प्रकटीकरण के लिये आवश्यक हैं और जिनके बिना पूर्ण विकास सम्भव नहीं तथा जिसके बिना एक जीवित राष्ट्रीय संस्कृति का जन्म नहीं हो सकता।"*

यदि शिक्षा के इन उद्देश्यों को दृष्टिकोण में रखकर हम वर्तमान भारतीय शिक्षा पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो हमें महान निराशा

---

*"The training of character to" fit the Students, to participate creatively as citizens in the emerging Social order; the improvement of their practical and Vocational efficiency so that they may play their part in building up the economic prosperity of their country and the development of their literary, artistic and cultural interests which are necessary for the self expression and for the full development of human personality without which a living national culture can not come into bei ng."

होगी। अभी तक राष्ट्रीय शिक्षा का सूत्रपात ही नहीं हो पाया है। शिक्षा के क्षेत्र में तो भारत की अन्य सभ्य राष्ट्रों से कोई समता ही नहीं। अभी तक शिक्षा सम्बन्धी जो भी सुधार हुये हैं, अथवा जो भी कमीशन अथवा कमेटियाँ बैठी हैं, उन्होंने शिक्षा में आमूल संगठन करने के अलावा उसमें थिगड़े लगाने (patch-work) की चेष्टा की है। अमेरिका, इंगलैण्ड अथवा अन्य पश्चिमी देशों की शिक्षा-पद्धति से प्रभावित भारतीय शिक्षा-वैज्ञानिकों ने राष्ट्रीय पृष्ठ-भूमि में कहीं इंगलैंड और कहीं अमेरिका की शिक्षा-पद्धति का अनुकरण कर उसमें जोड़-गाँठ लगाने की चेष्टा की है। फल यह हुआ कि वह अपनी वास्तविक शकल छोड़ भद्दा और भोंडा हो गया है। ऐसा जामा जिसमें अनेक थिगड़े लगे हों, चाहे कितनी ही मिहनत से क्यों न बनाया जाय, हमेशा हास्यास्पद रहेगा। इससे समयानुकूल काम भले ही निकल जाय; पर यह कभी फलेगा नहीं। भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पश्चिमी देशों से अतिरंजित शिक्षा न तो शोभा ही देगी और न तो वह हमारा चारित्रिक और नैतिक विकास ही कर सकेगी जो शिक्षा का सर्व प्रमुख उद्देश्य है। भारतीय शिक्षा के निर्माण के लिये तो हमें उसमें आधारभूत परिवर्तन करने की आवश्यकता है। समझौते से काम न चलेगा।

शिक्षा प्रसार का प्रयत्न युद्ध-स्तर पर

ऐतिहासिक रूप से भी यह शिक्षा असफल रही है। भारतवर्ष में आज-कल निरक्षरों की संख्या—या यों कहिये अशिक्षितों की संख्या ८० प्रतिशत से अधिक है। निरक्षरता के इस महान अन्धकार को दूर करने के लिये हमें अपने सम्पूर्ण साधनों का उपयोग युद्ध के प्रयत्नों की भाँति करना होगा। सरकार और समाज का संगठित सहयोग नितान्त आवश्यक है।

शिक्षा-विकास-योजना को किस भाँति आर्थिक सहायता दी जाय, इस पर भारत सरकार ने एक उपसमिति की स्थापना की थी। इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए उपसमिति ने यह प्रकट किया था कि

स्थानीय संस्थाओं में स्थानीय जनता शिक्षा-प्रसार एवं अपने लड़कों की शिक्षा में सीधे रुचि लेती थी। शिक्षा का भार सारी जनता पर था। अतएव वे उसकी आर्थिक सहायता भी करते थे। शिक्षक का समाज में सम्मान था अतएव उसकी आर्थिक कमी उसको खलती नहीं थी। पिछले १५० वर्षों में सरकार ने शिक्षा का सारा भार अपने ऊपर लेने की चेष्टा की—कुछ स्थानीय संस्थाओं को सौंपा। इसका फल यह हुआ कि स्थानीय जनता की अपनी शिक्षा में जो रुचि और उत्साह था वह नष्ट हो गया। जनता ने जो कार्य सरकार पर छोड़ा सरकार उसे सम्भाल न सकी। इसका वर्णन एक भारतीय शिक्षा वैज्ञानिक ने इस प्रकार की है। "एक विदेशी को जिसकी शिक्षण-संस्थायें सुगठित रूप से बनी हैं, यह कल्पना करना कि हमारे बच्चे अपने जीवन के निर्माण-काल में किन कठोर परिस्थितियों में शिक्षा में ग्रहण करते हैं, कठिन है। विशेषकर गाँवों में अधिकांश पाठशालायें मिट्टी के झोंपड़ों में स्थित हैं जिसमें मुश्किल से दो या तीन छोटे-छोटे कमरे हैं, जिनकी दीवालें नंगी हैं, जिनका फर्श कच्चा है और जिसमें शायद ही कोई मेज या कुर्सी है। बच्चों को अपने कपड़े धोने की या दोपहर के खाने की कोई सुविधा नहीं रहती। शिक्षक के पास न तो कोई पुस्तक ही रहती है और न तो कोई सहायक साधन ही है। बच्चों को जलवायु की कठोरताओं से बचाने का कोई चारा नहीं है। इस तरह के अरुचिकर वातावरण में आशा की जाती है कि अध्यापक बच्चों को शिक्षा दें जिसके शाब्दिक अर्थ हैं बच्चों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक गुणों का विकास किया जाय। इस हालत में अध्यापकों के वेतन का ख्याल कीजिये। गरीब अध्यापक को मुश्किल से ३० रुपया प्रति माह मिलता है। भारतवर्ष में प्रति बालक की शिक्षा पर मुश्किल से ६ रुपया प्रति-वर्ष खर्च किया जाता है। 'जब कि इङ्गलैंड में प्रति बालक की शिक्षा पर करीब ४०० रुपया प्रतिवर्ष खर्च किया जाता है। भारतवर्ष में शिक्षा पर उतना ही रुपया खर्च किया जाता है जितना केवल लन्दन की सम्पूर्ण शिक्षा पर व्यय होता है।"

यही नहीं वर्तमान शिक्षा से बेकारी बढ़ी। यह शिक्षा मस्तिष्क के विकास की ओर अधिक ध्यान देती है और इससे समाज तथा जीवन सम्बन्धी किसी भी समस्या का पूर्ण हल नहीं प्राप्त होता। शिक्षा जीवन से परे है। प्रारम्भ से अन्त तक शिक्षा का एकमात्र ध्येय विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए तैय्यार करना तथा अगली कक्षा में प्रवेश पाने के योग्य बनाना है। शिक्षा की यह अपूर्णतायें उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक स्पष्ट हो गयी थीं। अतएव देश के प्रत्येक विचार-मनीषी एवं शिक्षा-सुधारकों का ध्यान शिक्षा की इन त्रुटियों की ओर आकर्षित हुआ। जब तक देश स्वतंत्र नहीं था शिक्षा की कमी को दूर करने के लिए तथा शिक्षा का तीव्र गति से प्रसार करने के छुट-पुट प्रयत्न होते रहे। पर आशातीत सफलता नहीं मिली। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सारी समस्या का दूसरा स्वरूप हो गया है। अब केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें अल्पकाल में भारत की निरक्षता का कलंक दूर करना चाहती हैं। इसके लिये पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विस्तृत योजनायें तैय्यार की गई हैं और यह निश्चित किया गया है कि पन्द्रह वर्ष में सम्पूर्ण देश में सब बच्चों के लिये अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था हो जायगी और निरक्षता नष्ट कर दी जायगी। स्वप्न सुन्दर है।



१

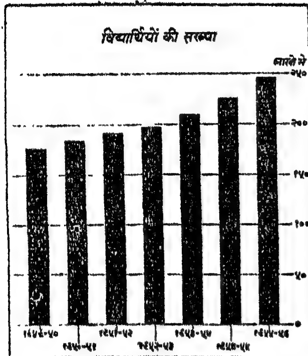
प्राथमिक-शिक्षा

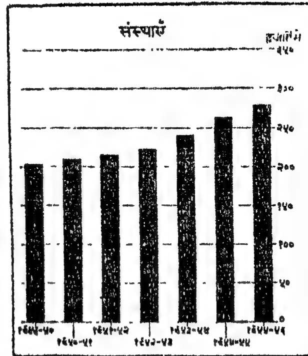
शिक्षा जन-तन्त्र की आधार शिला है। जन-तन्त्र में राज्य की अन्तिम सत्ता नागरिकों के हाथ में रहती है। अतएव उन्हें इतना शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है कि वे इस बात का निर्णय कर सकें कि उनके प्रतिनिधि राज्य शक्ति का उचित उपयोग कर रहे हैं। उनमें अपनी आवश्यकताओं को सरकार के सम्मुख रख सकने की क्षमता हो। आवश्यकता पड़ने पर नागरिक अपने प्रतिनिधियों का भी मार्ग निर्देशन कर सकें। अतएव वर्त्तमान युग में प्रत्येक राष्ट्र इस बात का प्रयत्न करता है कि उसके प्रत्येक नागरिक को कम से कम इतनी शिक्षा अवश्य मिल जाय कि वह अपना निर्णय स्वयं कर सके, अपने मत का उचित उपयोग कर सके। इसके लिये सरकार निम्नतम, अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करती है।

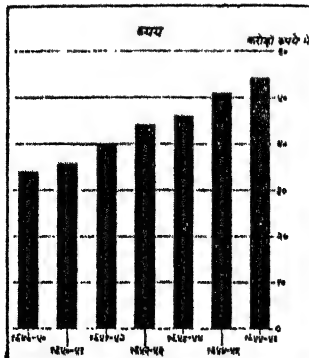
संविधान में आश्वासन

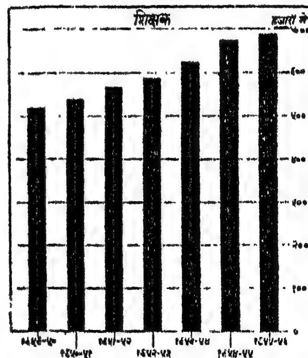
भारतीय संविधान में शिक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी राज्य पर है। प्रत्येक नागरिक को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। संविधान की धारा ४५ में स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि "राज्य इस बात का प्रयत्न करेगा कि 'संविधान लागू होने के दस साल के अन्तर्गत,

प्राथमिक-शिक्षा की प्रगति









प्रदेश	क्षेत्रफल वर्ग मीलों में	जन-संख्या हजारों में
आन्ध्र	१,०५,९६२	३,१३,६०
आसाम	८५,०१२	९१,६०
बिहार	६७,१००	४,०८,६०
बम्बई	१,९०,९१९	४,९१,६०
केरल	१५,०३५	१,४७,१०
मध्य प्रदेश	१,७१,२०१	२,७२,५०
मद्रास	५०,११०	३,३२,५०
मैसूर	७४,३४७	२,१३,००
उड़ीसा	६०,१३३	१,४६,२०
पंजाब	४७,४५६	१,६१,३०
राजस्थान	१,३२,०७८	१,७२,९०
उत्तर प्रदेश	१,१३,४०९	६,७७,९०
प० बंगाल	३४,९०६	२,६१,००
देहली	५७८	२०,५०
हिमाचल प्रदेश	१०,९०४	११,४०
मनीपुर	८,६२८	६,२०
त्रिपुरा	४,०३२	७,२०
भारत कुल	१२,६१,६२१	३,८१,८५०

प्रत्येक बालक को १४ वर्ष की आयु तक निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हो'। अतएव सरकार इस ओर सक्रिय है कि संविधान के अन्तर्गत दिये गये आश्वासन का पूर्ण रूप से पालन किया जाय।

प्राचीन काल में प्राथमिक शिक्षा

प्राचीन काल में शिक्षा का आधार सामाजिक व्यवस्था थी और वर्ण विशेष का यह धार्मिक कर्त्तव्य था कि वह जन-शिक्षा में योग दें। द्विज वर्णों का और विशेषकर ब्राह्मणों का यह कर्त्तव्य था कि वह अध्ययन और अध्यापन करें। राज्य और समाज ऐसे व्यक्तियों की आर्थिक सहायता करता था और विद्यार्थी विद्यार्जन के पश्चात् गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु को कुछ भेंट देते थे। शिक्षक का समाज में उच्च स्थान था। अतएव अत्यधिक संख्या में लोग शिक्षण-कार्य में जीवन व्यतीत करते थे। शिक्षा वर्त्तमान युग की तरह तो अनिवार्य नहीं थी पर वर्णाश्रम धर्म में २५ वर्ष तक सब लोग ब्रह्मचारी की तरह जीवन बिताते थे और अपना समय गुरु आश्रम में रहकर अध्ययन में व्यतीत करते थे। पाठ्य-क्रम सरल था तथा उसमें वही कलायें सिखाई जाती थीं जिसका विद्यार्थी जीवन में उपयोग करें। धर्म का जीवन में विशेष स्थान था और शिक्षार्जन एक धार्मिक कृत्य होने के नाते इस बात की कल्पना की जा सकती है कि प्राचीन काल में शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था।

मध्य काल में प्राथमिक शिक्षा

मध्य कालीन समाज में भी शिक्षा की वही व्यवस्था रही आई जो प्रचीन काल में थी। मुसलमान-काल में मुसलमान लोग मकतब और मदरसों में उर्दू और फारसी पढ़ते थे। हिन्दू लोग पाठशालाओं में संस्कृत का अध्ययन करते थे। राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। कभी-कभी जमींदार और सामन्त लोग भी सम्राट का

अनुकरण करके शिक्षकों को आर्थिक सहायता देते थे। प्रत्येक गाँव में धनी आदमी के घर या मन्दिर में एक पाठशाला लगती थी। जिसमें पढ़ने के लिये आस-पास के लड़के एकत्रित हो जाते थे। इस प्रकार शिक्षा-प्रसार प्रर्याप्त रूप से था शिक्षा में एक जीवन शक्ति थी जो शदियों की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था के परिवर्त्तन के फल-स्वरूप की अक्षुण्य रही। के (F. E. Keay) महोदय ने इस प्रकार भारतीय-शिक्षण पद्धति की प्रशंसा की है :—

श्री के० महोदय का मत

"संसार के बहुत थोड़े से राष्ट्रों ने और पश्चिम के तो किसी भी राष्ट्र ने—ऐसी शिक्षण व्यवस्था का विकास नहीं किया था जिसका इतना लम्बा इतिहास हो और जो इतने समय तक इतने कम परि-वर्त्तनों के साथ जीवित हों—जैसी भारत की शिक्षण व्यवस्था थी। इतनी लम्बी शताब्दियों के जीवन से यह प्रकट होता है कि इस शिक्षा में कुछ मूल्यवान तत्व अवश्य थे तथा वे उस समाज की आवश्य-कताओं के उपयुक्त थे जिसने उनका विकास किया था।"†

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राथमिक शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब अँगरेजों ने भारत वर्ष में वर्त्तमान शिक्षा का प्रारम्भ किया उस समय भारतवर्ष में प्राथमिक

---

†"Few countries, and certainly no western one have had a system of education which have had such a long and continuous history with so few modifications, as some of the educational systems of India. For long centuries through which they have held sway show that they must have possessed elements which were of value and that they were not unsuited to the needs of those who developed and adopted them."—F. E. keay.

शिक्षा की उचित व्यवस्था थी। उस समय बंगाल, मद्रास और बम्बई के गर्वनरों की आज्ञानुसार शिक्षा के जो सर्वे हुये उनसे स्पष्ट है कि उस समय प्राथमिक शिक्षा का प्रसार वर्त्तमान काल से अधिक था और प्रायः प्रत्येक बालक को जो शिक्षा ग्रहण करना चाहता था उसे शिक्षा की सुविधा उपलब्ध थी। बंगाल में एडम्स ने, मद्रास में मुनरों ने और बम्बई में एलिफिन्सटन ने शिक्षा सम्बन्धी सर्वे किये थे। एडम्स ने जो सर्वे बंगाल में किया था उससे तो यह पता चलता है कि प्रायः प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला थी। यह सम्भव है कि पाठशाला का जो अर्थ आज कल लिया जाता है, उस अर्थ में सर्वत्र पाठशालायें न हों पर यह मानना ही पड़ेगा कि शिक्षित पुरुषों की संख्या जितनी १८३३-३८ में थी उतनी वर्त्तमान शिक्षा प्रारम्भ होने के १०० साल बाद भी नहीं थी।

वर्त्तमान शिक्षा के लिये सरकारी रूप से प्रयत्न १८१३ ई० में प्रारम्भ हुआ जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार पत्र में सरकारी तौर पर यह लिख दिया गया कि कम्पनी, "भारतीय साहित्य की उन्नति के लिये, विद्वान भारतीयों को प्रोत्साहित करने के लिये और ज्ञान-प्रसार तथा शिक्षा और विज्ञान की अभिवृद्धि के लिये भारत वर्ष के अंगरेजी-शासन क्षेत्र में प्रति वर्ष एक लाख से कम रुपया खर्च नहीं करेगी।"

अगले २० वर्ष तक शिक्षा के क्षेत्र में यह विवाद रहा कि भारत-वासियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। उन्हें अंगरेजी के माध्यम से पाश्चात्य विज्ञान और दर्शन पढ़ाया जाय या भारतीय साहित्य का जिसमें संस्कृत और अरबी सम्मिलित थे, ज्ञान कराया जाय।

मैकाले की सलाह

भारतीय शिक्षा के इतिहास में यह विवाद "प्राच्यपाश्चात्य-शिक्षा-विवाद" 'ओरन्टलिस्ट और एंग्लिसिस्ट' (Orientalist versus Anglicist Controversy) विवाद के नाम से प्रख्यात है। अन्त में

मैकाले की सलाह से उस समय के गर्वनर जनरल श्री विलियम बेंन्टिंग ने यह निश्चिय किया कि भारतवर्ष में अंगरेजी शिक्षा की नीति, अंगरेजी के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान और विज्ञान का प्रसार करना होगा। परन्तु तत्कालीन संस्कृत और अरबी के पाठशालाओं को आर्थिक सहायता मिलती रहेगी, हालांकि उन्हें नवीन आर्थिक सहायता प्राप्त न होगी।

उच्च स्तर से निम्न-स्तर में शिक्षा प्रवाह की नीति

शिक्षा-प्रसार के लिये उनका विश्वास था कि शिक्षा उच्च स्तर से निम्न स्तर में फैलती है। इसलिये यदि ऊपर के स्तर के व्यक्तियों को पढ़ा दिया जाय तो जनता में वे स्वयं शिक्षा का प्रसार कर देंगे। अतएव उन्होंने प्राथमिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया और माध्यमिक शिक्षा के ही स्कूल खोले। इसे शिक्षा में 'उच्च स्तर से निम्न स्तर में शिक्षा प्रवाह' की नीति (Downward Filteration Theory) कहते हैं। इस नीति से प्राथमिक शिक्षा का प्रसार नगण्य रहा क्योंकि उच्च स्तर के व्यक्तियों ने शिक्षा प्रसार का प्रयत्न ही नहीं किया और जितने व्यक्तियों को अंगरेजी शिक्षा मिली उन्होंने सरकारी दफ्तरों में नौकरी कर ली। फिर भारत में जाति-भेद और सामाजिक रूढ़ियों के कारण इस नीति की सफलता की कोई आशा भी नहीं थी। पर १८५४ तक सरकारी रूप से इस नीति पर काम होता रहा हालाँकि इसका प्रभाव १८८२ तक बना रहा।

ईसाई पादरियों के प्रयत्न

इस काल में ईसाई पादरियों ने प्राथमिक शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न किया। पादरियों का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष में ईसाई धर्म का प्रसार करना था और शिक्षा के माध्यम से ही वे जन साधारण से सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर भारतीय ईसाइयों का आर्थिक और सामाजिक सन्तुलन करना भी उनका कर्तव्य था।

अतएव उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष प्रयत्न किये। प्रारम्भ में विदेशी फैक्टरियों में उन्होंने ही प्राथमिक पाठशालायें प्रारम्भ की। भारतीय भाषा में पुस्तकें लिखी। भारत में छापेखाने कायम किये। उन्होंने बाइबिल का ३२ भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया। शुरू में कम्पनी पादरियों की मदद करती रही पर जब भारत में कम्पनी की राजनैतिक सत्ता स्थापित हो गई तो उन्होंने पादरियों का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि डर था कि पादरियों के धर्म प्रसार से भारतीय समाज में अशान्ति फैले। अतएव कुछ समय तक तो कम्पनी के अधिकारी पादरियों को भारत आने ही नहीं देते थे। इस पर पादरियों ने इंगलैण्ड में बड़ा अन्दोलन किया और अन्त में पार्लियामेन्ट ने विवश होकर पादरियों को भारत आने और धर्म प्रसार करने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता दे दी। शिक्षा के प्रारम्भिक काल में पादरियों ने भारत में शिक्षा प्रसार और विशेष कर प्राथमिक शिक्षा प्रसार के विशेष प्रयत्न किये।

प्राथमिक शिक्षा के असफलता का कारण

परन्तु १९ वीं शताब्दी के प्रथम ५० वर्षों में प्राथमिक शिक्षा का विकास नहीं हो पाया। क्योंकि :—

(१) कम्पनी की सरकार ने शिक्षा का विकास उच्च स्तर के शिक्षित भारतवासियों पर छोड़ दिया था।

(२) सरकार का उद्देश्य अंग्रेजी के माध्यम से उच्च शिक्षा का प्रसार करना था। अतएव अधिकांशतः सरकारी रुपया उच्च शिक्षा में व्यय होता था।

(३) स्थानीय देशी प्रारम्भिक पाठशालाओं को प्रोत्साहन नहीं दिया गया। १८५४ में शिक्षा विभाग की स्थापना के पश्चात् विभाग स्थानीय पाठशालाओं (Indigenous schools) के विरुद्ध हो गया।

(४) ब्रिटिश शासन का झुकाव केन्द्रीकरण की ओर एवम् शहरी था। अतएव ग्रामीण शिक्षा का विकास नहीं हो सका।
(५) नागरिकों की रहन-सहन में वृद्धि नहीं हुई। अधिकतर लोग गरीब रहे। अतएव प्राथमिक शिक्षा के विकास में असुविधा रही।
(६) इस काल के शासन की आर्थिक नीति शिक्षा के विकास के विपरीत थी। १६०१–०२ शिक्षा पर केवल देश की आय का केवल ०·८८ दशमलव प्रतिशत ही खर्च होता था।

"इन सबका सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत जो अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा शिक्षा के क्षेत्र में अग्रिम था वह अवस्था समाप्त हो गई। शिक्षा की उन्नति के क्षेत्र में भारत की असफलता तथा अन्य देशों की तीव्र उन्नति के कारण, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत एक पिछड़ा हुआ राष्ट्र हो गया और यह कमी अत्यधिक परिश्रम करके भी वह पूरा नहीं कर सका।"

१८५४ का आदेश पत्र

१८५४ के आदेश पत्र (Woods-Despatch) ने शिक्षा नीति में परिवर्त्तन प्रारम्भ किए। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा-प्रसार तथा जन साधारण की शिक्षा-विकास की घोषणा की। आदेश पत्र में यह स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया कि, "अब हमारा ध्यान उस उद्देश्य की ओर लगना चाहिये, जो बहुत ही महत्वशाली है और जिसे हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि अब तक भुलाया गया है, वह है, किस प्रकार उपयोगी और व्यवहारिक शिक्षा जो प्रत्येक मनुष्य के उपयुक्त हैं जन साधारण तक पहुँचाई जाय जो बिना सरकारी सहायता के किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अयोग्य हैं। हम चाहते हैं कि भविष्य में सरकार इस ओर सक्रिय प्रयत्न करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम व्यय में अधिक वृद्धि करने के लिये तैयार हैं।"

१८५४ के आदेश-पत्र के आधार पर प्रान्तों में शिक्षा-विभाग की स्थापना हुई और शिक्षा विभाग ने प्राथमिक-शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न किया। पर विभाग का ढाँचा इङ्गलैंड के आधार पर संगठित था और शिक्षा संचालकों के सम्मुख इङ्गलैंड के आदर्श थे। अतएव उन्होंने प्राथमिक पाठशालाओं के लिए नवीन भवन बनवाने का प्रयत्न किया। योग्य अध्यापक और अच्छी पाठ्य पुस्तकें चलाईं। शिक्षकों के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया। परन्तु उन्होंने स्थानीय शिक्षा-शालाओं की उपेक्षा की और उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया। फलतः प्राथमिक शिक्षा की अभिवृद्धि में ह्रास ही हुआ। सरकार की यह नीति १८८२ तक चलती रही।

इसी बीच प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम १८५७ में हुआ। राज्य शक्ति कम्पनी के हाथ से निकल कर इङ्गलैण्ड के सम्राट तथा पार्लियामेंट में केन्द्रित हो गई और भारतीय शासन का पुर्नगठन प्रारभ हुआ।

शिक्षा व्यवस्था के विषय में रिपोर्ट देने के लिये १८८२ में एक भारतीय-शिक्षण-आयोग (Indian Education Commission) की स्थापना की गई। इस आयोग के सभापति श्री विलियम इन्टर थे। अतएव इसे इन्टर कमीशन भी कहते हैं। इस आयोग ने भारतीय शिक्षा का पूरा सर्वे किया और पुनः शिक्षा संगठन के लिये सिफारिशें की। भारतीय शिक्षा आयोग के अनुसार शिक्षा की प्रथम नीति जन साधारण में शिक्षा का प्रसार करना है। सरकार को प्राथमिक शिक्षा पर ही अधिक व्यय करना चाहिए। स्थानीय आय पर भी प्राथमिक शिक्षा का प्रथम हक है और शिक्षा पर व्यय इसी आधार पर होना चाहिए। उन्होंने लिखा है :—

"प्राथमिक शिक्षा को जन साधारण की शिक्षा समझनी चाहिये जिसका माध्यम देशी भाषाएँ हों और उसमें वही विषय पढ़ाए जाँय जो उनके जीवन में उपयोगी सिद्ध हों। इसे विश्वविद्यालयों की शिक्षा का एक अंग न समझा जाना चाहिये।"

"यद्यपि शिक्षा के प्रत्येक विभाग राज्य की सहायता चाहते हैं पर यह उचित और देश के वर्तमान वातावरण के अनुकूल है कि जन साधारण की शिक्षा उसका प्रसार और उसकी अभिवृद्धि पर राज्य की अधिकाधिक शक्ति व्यय की जाय। यह अभी तक नहीं किया गया है। भविष्य में प्राथमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिये।"

आयोग ने यह भी सिफारिश की, कि शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न आदिवासियों और पिछड़ी जातियों में भी करना चाहिये। परन्तु उन्होंने प्राथमिक शिक्षा की प्रमुख जिम्मेवारी स्थानीय शासन पर रखी और यह सिफारिश की स्वायत्त-शासन का प्रथम कर्तव्य प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करना है। उन्होंने शिफारिस की :

"प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की प्रथम जिम्मेवारी स्थानीय आय पर है और प्रान्तीय सरकारों का हिस्सा गौण है। प्रान्तीय सरकारों को उचित आर्थिक सहायता के द्वारा स्थानीय शासन की सहायता करनी चाहिए।"

इसी आयोग ने सिफारिश की कि प्राचीन प्राथमिक शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर उन्हें प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

अनिवार्य शिक्षा का प्रारम्भ

आयोग की सिफारिशों पर सरकार कार्य कर रही थी। इसी बीच द्रुतगति से भारतीय समाज में पुर्नजागृति हो रही थी। भारतीय नेता, जनता और समाज को उपर उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित होने के कारण उनके विचारों में परिवर्तन हो गया था और वे चाहते थे भारत में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ की जाय।

प्रारम्भ में एलिफिन्सटन ने सर्व प्रथम अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ (१८१९-२७) करने का प्रयत्न किया था। पर उस समय यह विचार भारतीय वातावरण के लिए हास्यास्पद समझा गया था।

सरकार का विश्वास था कि अनिवार्य शिक्षा भारतीय वातावरण के सर्वथा अनुपयुक्त है और यह भारतीय समाज में पनप ही नहीं सकती। दूसरे विदेशी सरकार अनिवार्य शिक्षा के विषय में सोच ही नहीं सकती थी। क्योंकि इससे हम लोगों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप होता था। तीसरे शिक्षा पर आर्थिक व्यय इतना था कि सरकार उसके लिए तैयार ही नहीं थी। भारतीय सामाजिक प्रवृत्तियाँ जैसे—बाल-विवाह और परदा-प्रथा इसके विपरीत थीं विशेष कर लड़कियों की शिक्षा में यह विशेष रूप से बाधक थीं।

तत्कालीन शिक्षा-विद् अनिवार्य शिक्षा की महत्ता को नहीं समझते थे और उनका विचार था कि शिक्षा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर ही छोड़ देनी चाहिए। बहुत समय तक इंग्लैन्ड में भी शिक्षा की अनिवार्यता पर विचार नहीं किया गया। पर इंग्लैंड के १८७० के प्राथमिक शिक्षा के अधिनियम के कारण भारत में भी अब सरकारी विरोध नष्ट हो गया था। भारतीय पुरुत्थान एवं भारतीय अखबारों ने प्रचार कर अनिवार्य शिक्षा के लिए एक क्षेत्र तैयार कर दिया था।

१८२८ में विलियम एडम्स ने प्राथमिक शिक्षा की अनिवार्यता की ओर संकेत किया था। १८५२ में कैप्टन विंगेट ने जो बम्बई के राजस्व आयुक्त थे उन्होंने पाँच प्रतिशत का कर प्राथमिक शिक्षा के लिए लगाने की सिफारिश की। पर १८५१-७० के बीच अनिवार्य शिक्षा का कार्य स्थगित रहा।

बड़ौदा का उदाहरण

इसी बीच समाज में जागृति और पुरुत्थान का कार्य चलता रहा। इस ओर सबसे पहले बड़ौदा राज्य में कार्य प्रारम्भ किया गया। बड़ौदा के राजा महाराज संजीवाराव गायकवाड़ ने १८८१ से १८६२ तक प्राथमिक शिक्षा पर अपने विचारों द्वारा कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य में उन्हें इतनी सफता मिली कि १६०७ में उन्होंने राज्य में शिक्षा

अनिवार्य कर दी। अतएव प्रारम्भिक शिक्षा को सर्वप्रथम अनिवार्यता देने का श्रेय बड़ौदा राज्य को प्राप्त है।

प्रथम-प्रयास

इसका भारतीय अखबारों में काफी प्रचार हुआ और भारतीय नेता प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने की माँग करने लगे। बड़ौदा के उदाहरण पर बम्बई में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करने के लिए सर इब्राहीम रहिमतुल्ला और सर चिम्मनदास शीतल वाद ने माँग की। इसपर सरकार ने एक उपसमिति नियुक्त कर दी। इस उपसमिति ने निर्णय दिया कि अनिवार्य शिक्षा के लिए अभी समय उपयुक्त नहीं है। हिन्दू और मुसलमानों के पिछड़े वर्ग अभी इसके लिए तैयार नहीं हैं। इसमें बहुत से लोगों पर मुकदमें चलाने पड़ेंगे जिससे जनता और सरकार के बीच व्यर्थ में ही संघर्ष होगा। अतएव अभी स्वेच्छापूर्ण प्राथमिक शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न करना चाहिए।

गोखले का नेतृत्व

प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में सबसे बड़ा काम गोपाल कृष्ण गोखले ने किया। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्यता देने के लिए १९१० में उन्होंने सबसे पहले केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में प्रस्ताव पेश किया पर सरकार के आश्वासन से उन्होंने प्रस्ताव वापस ले लिया। अगले वर्ष उन्होंने प्रस्ताव को विधेयक के रूप में पेश किया। उसपर काफी बहस हुई। श्री मदनमोहन मालवीय और श्री मोहम्मद अली जिन्ना आदि नेताओं के मदद की अपेक्षा भी सरकारी बहुमत होने के कारण विधेयक से गिर गया। इस अवसर पर गोखले का भाषण उल्लेखनीय है :—

"महोदय, मैं यह जानता हूँ कि आज की सभा की कार्यवाही स्थगित होने से पहले मेरा प्रस्ताव रद्द हो जायगा। इस पर मैं कोई शिका-

यत नहीं करूँगा और न तो मुझे निराशा ही होगी। मैं इंग्लैंड में की गई प्रारम्भिक चेष्टा की कहानी, जिसपर १८७० का कानून पास हुआ है, बड़ी अच्छी तरह से जानता हूँ जो मुझे निराश नहीं होने देगी। इसके अलावा मैं यह समझता हूँ और मैंने कहा भी है कि इस युग के भारतीय नेता अपनी असफलता से ही देश की सेवा कर सकते हैं। वे पुरुष और स्त्रियाँ जो सफलता के साथ भारत की सेवा करेंगे बाद में पैदा होंगे। हमें संघर्ष में जो स्थान मिला है उससे ही सन्तोष करना चाहिए। जो प्रस्ताव आज गिर जायगा वह पुनः वापस आवेगा और अंत में सारी असफलताओं के बावजूद भी एक दिन ऐसा प्रस्ताव आवेगा जब इन असफलताओं पर एक ऐसा प्रस्ताव पास होगा जिससे सारे देश में ज्ञान का प्रसार होगा। हो सकता है कि यह आशा सत्य न हो, संभव है हमारे कार्यों से परोक्षरूप में भी इस कार्य के लिए बल न मिले जिसे हम हृदय से चाहते हैं और हमारे कार्य समुद्र के किनारे बालू में हल चलाने के समान हों। लेकिन महोदय, हम लोगों का जो भी भाग्य हो एक चीज बिलकुल स्पष्ट है, हम इसके हक-दार हैं कि हम यह संतोष कर सकें कि हमने अपना कर्तव्य किया है और जहाँ पर कर्तव्य की पुकार स्पष्ट है वहाँ यह अच्छा है कि मनुष्य परिश्रम करे और असफल हो अपेक्षाकृत कि वह परिश्रम ही न करे।"

गोखले का परिश्रम नष्ट नहीं हुआ। उससे एक ऐसा वातावरण तैयार हो गया कि अनिवार्य शिक्षा की माँग तीव्रतर होने लगी और वह समय दूर नहीं रहा जब उसे कानून के रूप में परिवर्तित किया जा सके। भारत की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा था। समाज-निर्माण की शक्तियाँ बल पकड़ रही थीं। इसी बीच प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। इसमें भारतीय सिपाही विदेश गये और वहाँ पर उन्हें जो जागृति दिखाई पड़ी उससे वे बहुत प्रभा-वित हुए। सांस्कृतिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर हो रहा था,

इसमें सबसे प्रबल जनतंत्र पर आधारित जीवन के सिद्धान्त थे। जिससे लोग प्रभावित हुए।

प्रथम महायुद्ध का प्रभाव

"अन्त में राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन प्रथम महायुद्ध के बाद इतनी तीव्र गति से हुए और इतने क्रान्तिकारी रूप से हुये कि १६१३ में अनिवार्य शिक्षा का जो प्रस्ताव आर्थिक एवं शासन की प्रमुख कठिनाइयों के कारण कल्पनायुक्त समझा गया था वह १६५० में आधार-मूल सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया गया और उसे संविधान में स्थान दिया गया।"

प्रथम महायुद्ध के बाद अनिवार्य शिक्षा के क्षेत्र में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हुआ और इसका श्रेय विट्ठल भाई पटेल को है। १६१७ में बम्बई की धारासभा में उन्होंने प्रस्ताव पेश किया जिसके द्वारा राज्य की नगरपालिका के क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय। यह बिल गोखले के बिल पर आधारित था। पर इस बिल को उन्होंने बड़ी सावधानी से बनाया था और इससे उन्होंने वह त्रुटियाँ निकाल दी थीं जो गोखले के बिल में थीं। उन्होंने अनिवार्य शिक्षा को नगरपालिका के क्षेत्र तक ही सीमित रखा तथा सरकारी सहायता को प्रान्तीय सरकार की इच्छा पर छोड़ दिया। बिल में इस का व्यवधान था कि अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने से पहले सरकार से उसकी आज्ञा लेनी पड़ेगी और सरकार संशोधन के साथ आज्ञा दे सकती है। इन सुधारों से सरकारी खिलाफत में कमी पड़ गई और १६१८ में बिल कानून बन गया। यह पटेल ऐक्ट के नाम से प्रख्यात है। इस कानून के द्वारा सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अनिवार्यता के सिद्धान्त को मान लिया। १६१७ से १६३० के अन्तर्गत प्रायः प्रत्येक प्रान्तीय सरकारों ने अनिवार्य शिक्षा के कानून पास किये जिसकी तालिका निम्न-लिखित है।

अनिवार्य शिक्षा के कानून

कानून का मसविदा	प्रस्तावक	सरकारी या गैर सरकारी	प्रस्ताव की तिथि	पास होने की तिथि
बम्बई प्राथमिक शिक्षा बिल	विट्ठल भाई पटेल	गैर सरकारी	२५ जुलाई १९१७	२ दि० १९१७
बंगाल प्राथमिक शिक्षा बिल	बाबू सुरेन्द्र-नाथ राय	,,	१८, दि० १९१७	२५ मार्च १९१९
बिहार और उड़ीसा प्राथमिक शिक्षा बिल	श्यामकृष्ण सहाय	,,	३१ जन० १९१८	१३ मार्च १९१९
पंजाब अनिवार्य शिक्षा बिल	जेम्स अलेग-जेन्डर रिचे	सरकारी	२४ अप्रैल १९१८	७ मार्च १९१९
संयुक्त प्रदेश प्राथमिक शिक्षा बिल	राय अनंद-स्वरूप बहादुर	गैर सरकारी	१६ दि० १९१८	१३ मार्च १९१९
मद्रास प्राथमिक शिक्षा बिल	ए. आर. नैयर	सरकारी	२६ मार्च १९२०	४ अक्टू० १९२०
बम्बई प्राथमिक शिक्षा बिल	सर. आर. पी. पराजपे	सरकारी	२६ सि० १९२२	१६ दि० १९२२
आसाम प्राथमिक शिक्षा बिल	राय बहादुर प्रमोददत्त	सरकारी	८ सि० १९२२	७ जुलाई १९२६
संयुक्त प्रदेश डिस्ट्रिक्ट बोर्ड प्राथमिक शिक्षा बिल	राय राजेश्वर बली	सरकारी	१५ दि० १९२५	२५ फर० १९२६
बंगालरूरल प्राथमिक शिक्षा बिल	ख्वाजा नाजिमुद्दीन	सरकारी	१३ अगस्त १९३०	२६ अग० १९३०

१८८२ में प्राथमिक शिक्षा की नीति में आमूल परिवर्तन हुये। लार्ड रिपन ने प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय स्वायत्त शासन का एक अंग

बना दिया जो भारतीयों के हाथ में था। ऐसा विश्वास था कि इससे प्राथमिक शिक्षा की उन्नति होगी और प्राथमिक शिक्षा पर अधिक व्यय किया जा सकेगा। पर फल उलटा हुआ। नगर पालिका और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं रही जिससे प्राथमिक शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ी।

१६१६ के ऐक्ट में प्राथमिक शिक्षा

१६१६ के भारतीय विधान के अनुसार प्रान्तों में दोहरे शासन का प्रारम्भ हुआ। शिक्षा भारतीय मन्त्रियों के हाथ में सौंप दी गई, जिसके लिए वे धारासभा के प्रति जिम्मेदार थे। भारतीय मन्त्रियों के हाथ में शिक्षा आ जाने पर अनिवार्य शिक्षा को बल मिला तथा प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की ओर भी अधिकारियों का ध्यान गया। पर अभी तक शिक्षा विभाग में बहुत से प्राचीन योरोपीय अधिकारी मौजूद थे जो भारतीय मन्त्रियों की शिक्षा-प्रसार की नीति के विरोधी थे। उनका मत था कि जल्दी शिक्षा प्रसार तथा अनिवार्य शिक्षा की नीति पर कार्य करने से शिक्षा उपयुक्त नहीं हो पावेगी और उसके गुण खराब हो जायँगे। १६२४ में भारतीय शिक्षण सर्विस (आई० इ० एस०) में दाखिला बन्द हो गया था पर जो भी आई० इ० एस० के लोग बच गये थे वे शिक्षा को प्रभावित कर रहे थे। फिर भी दुहरे-शासन में प्राथमिक शिक्षा में काफी द्रुत गति से विस्तार हुआ।

हार्टोग समिति की सिफारिशें

इसी बीच शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए हार्टोग समिति (Hartog Committee) की स्थापना की गई। इस समिति ने प्राथमिक शिक्षा के लिए सिफारिश की। सबसे पहिले इन्होंने प्राथमिक शिक्षा क्षेत्र में कठिनाइयों को बताया। प्राथमिक शिक्षा विशेषरूप से ग्रामीण समस्या है क्योंकि भारतवर्ष में ८७ प्रतिशत लोग गाँव में रहते हैं। गरीबी, निरक्षरता और सामाजिक कट्टरता के कारण उनमें

शिक्षा-प्रचार शीघ्र नहीं हो सकता। जन संख्या दूर-दूर तक गाँव में फैली है। बहुत से पिछड़े हुये क्षेत्र हैं। धर्म और जाति के कारण अधिकतर लोग शिक्षा पर ध्यान नहीं देते। इस समिति ने यह लिखा कि इस क्षेत्र में बहुत अधिक बर्बादी होती है।

इन सबको दृष्टिकोण में रख कर उन्होंने सिफारिश की कि शीघ्रता से शिक्षा प्रसार की अपेक्षा संगठितरूप से शिक्षा-प्रसार और शिक्षा-सुधार किया जाय। उनकी सिफारशों के अनुसार प्रसार की अपेक्षा सुधार पर अधिक जोर था। प्राथमिक शिक्षा की अवधि ४ साल तक निश्चित की गई। प्राथमिक पाठशालाओं के अध्यापकों की हालत सुधारी जाय। पाठ्यक्रम में परिवर्तन करके उसे लोगों के जीवन के अनुकूल बनाया जाय। विशेष रूप से उन्होंने यह लिखा कि प्राथमिक शिक्षा स्थानीय शासन पर अत्यधिक निर्भर है। यह राष्ट्रीय महत्व का प्रश्न है अतएव सरकार को इसे विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा में अनिवार्यता के सिद्धान्त की शीघ्रता से लागू न किया जाय बल्कि उसके लिए वातावरण तैयार किया जाय।

इस समिति की रिपोर्ट से शिक्षा-विभाग के प्रतिक्रियावादी अफसरों को बल मिल गया पर साधारण जनता ने रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया। वे शिक्षा-प्रसार के पक्ष में थे। जनता-शिक्षा सुधार के लिये अवसर देने के पक्ष में नहीं थी। समिति के बहुत से निष्कर्ष पर लोगों का सन्देह था। अतएव इसकी सिफारशों पर विशेष रूप से कार्य नहीं हो सका।

१९३५ में कांग्रेस सरकार की नीति

१९३५ में भारतीय विधान में परिवर्तन हुआ और भारतीय ऐक्ट के अनुसार प्रान्तों को आंतरिक शासन में स्वतन्त्रता दे दी गई। सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार कायम हो गई। अतएव उन्होंने शिक्षा-प्रसार और निरक्षरता-निवारण की ओर अधिक ध्यान दिया। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा में सुधार करने का भी प्रयत्न किया और गान्धी जी

के विचारों के अनुसार बेसिक-शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दिया। पर शीघ्र ही महायुद्ध छिड़ गया और राजनीतिक मतभेद होने के कारण कांग्रेस सरकार को स्तीफा देना पड़ा।

सारजेन्ट रिपोर्ट

युद्ध के समय भारत-सरकार ने युद्ध के बाद भारतीय शिक्षा के पुर्ननिमार्ण के लिए एक समिति सर जान सारजेन्ट की (Sir John Sargent) अध्यक्षता में स्थापित की। सर जान सारजेन्ट भारतीय सरकार के शिक्षा-आयुक्त थे। अतएव यह रिपोर्ट सारजेन्ट रिपोर्ट के नाम से प्रख्यात है। १९४४ में रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में अनिवार्य-शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इसमें बेसिक-शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयुक्त समझा गया। ६ वर्ष से १४ वर्ष की आयु के बालकों को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की गई। इसके अनुसार ६ वर्ष से ११ वर्ष तक जूनियर और ११ वर्ष से १४ वर्ष तक सीनियर बेसिक स्कूलों की व्यवस्था की गई। सारजेन्ट रिपोर्ट के अनुसार प्रारंभिक शिक्षा पर २०० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया। १९४४ के अपेक्षा अब व्यय प्रत्येक क्षेत्र में चौगुने से भी अधिक हो गया है। अतएव इस समय अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए लगभग ९०० करोड़ रुपये खर्च करने पड़ेंगे जो देश की वर्तमान आर्थिक शक्ति के बाहर की चीज है। साथ ही सार्वभौमिक अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के प्रसार में ४० वर्ष भी लगने की सभावना थी। अतएव इस रिपोर्ट में परिवर्तन किया गया।

खेर समिति

१९४७ में देश स्वतंत्र हो गया। अतएव सारजेन्ट रिपोर्ट में आमूल परिवर्तन किये गये। १९४७ में बम्बई के मुख्य मंत्री श्री बी. जी. खेर के सभापतित्व के एक उपसमिति नियुक्त की गई। खेर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि १६ वर्ष के अन्तरगत अनिवार्य शिक्षा

की व्यवस्था की जा सकती है। इसके लिए २ योजनाएं ५-५ वर्ष की और एक ६ वर्ष की बनानी चाहिए। उन्होंने यह सिफारिश की कि केन्द्रीय सरकार व्यय का ३० प्रतिशत दे और प्रान्तीय सरकार तथा स्वायत्त शासन ७० प्रतिशत खर्च उठावें। उन्होंने खर्च में भी कमी की। उनकी सिफारिशों के आधार पर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा में कुल ३६६ करोड़ रुपया व्यय होगा। प्राथमिक शिक्षा में बुनियादी शिक्षा-पद्धति ही अपनायी जाय यह उनकी भी सिफारिश रहा।

राष्ट्रनीति

राष्ट्रीय सरकार ने संविधान में अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है और इस के लिए सक्रिय उपाय किये जा रहे हैं। प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप बेसिक रहेगा। इसी के आधार पर राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण किया जायेगा। इसके लिए सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा सामुदायिक-विकास-क्षेत्र में सघन-शिक्षा का प्रसार कर रही है।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में कठिनाइयाँ

स्कूलों की व्यवस्था

प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएं अभी बहुत कम लोगों को प्राप्त हैं और वर्तमान जनतंत्र की आशवयकताओं को देखते हुए तो बहुत ही कम हैं। १९४९ के आंकड़ों के अनुसार भारतवर्ष में कुल २२०, ००० प्राथमिक पाठशालायें थीं। इससे यह माना जा सकता है कि इनके द्वारा २००,००० शहरों और गाँवों की आवश्यकतायें पूरी हो सकती हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि अब भी ३००,००० गाँव ऐसे है जहाँ पर किसी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था नहीं है। शहर और गाँव में तो इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था में और भी अन्तर है। गाँवों में शिक्षा-व्यवस्था की नितान्त कमी है। नये स्कूल कहाँ खोले जाँय यह प्रश्न हर बार उठता है। इसके लिए आवश्यक है कि राष्ट्र

का एक शिक्षण सर्वे कर लिया जाय। यह दुख की बात है कि शिक्षा का कोई सर्वे अभी तक नहीं था। अभी हाल में केन्द्रीय सरकार के तत्वाधान में भारतीय राज्यों का एक शिक्षा सर्वे हुआ है जिसकी रिपोर्ट और सिफारश शीघ्र प्रकाशत होगी।

प्राथमिक शिक्षा में बालकों का औसत

केवल पाठशाला के प्रबन्ध से ही काम नहीं चलेगा। निश्चित रूप से यह ज्ञात करना चाहिए कि पढ़ने योग्य ६ वर्ष से १४ वर्ष के कितने बालक हैं। भारतीय-संघ की जन संख्या ३६ करोड़ से ऊपर है। अतएव यदि यह मान लिया जाय कि ६ वर्ष से ११ वर्ष की आयु के बालक जनसंख्या के १५ प्रतिशत होंगे तो (५,४०,०००००) पाँच करोड़, चालीस लाख बालक शिक्षा प्राप्त करने की आयु के हैं। यदि आयु ६ से १४ वर्ष तक ली जाय तो यह संख्या ७ करोड़ २० लाख हो जाती है। १९४८-४९ में १७३९४००० बालक प्राथमिक पाठशालाओं में थे। इससे यह मालूम पड़ता है कि ५ वर्ष तक अनिवार्य-शिक्षा-क्षेत्र में ३ में १ बालक शिक्षा ग्रहण कर रहा है। लड़कों के लिए तो यह अवस्था कुछ अच्छी है पर ६ लड़कियों में केवल १ लड़की स्कूल में है। अगर ८ साल की अनिवार्य शिक्षा ली जाय तो ३ लड़कों में १ लड़का ८ लड़कियों में १ लड़की और प्रति ४ बालकों में १ बालक शिक्षा ग्रहण कर रहा है। इसके लिए आवश्यक है कि—

१—प्रत्येक गाँव में या कई गाँव को साथ मिला कर उचित स्थान पर स्कूल खोला जाय।

२—लड़कों को शिक्षा की ओर प्रेरित करने के लिए प्रचार किया जाय।

३—जहाँ पर जनसंख्या के ८ या १० प्रतिशत बालक पाठशाला जाते हैं वहाँ शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय।

अध्यापकों का स्तर

प्राथमिक पाठशालाओं में अध्यापकों की अवस्था बहुत ही सोच-नीय है। प्रतिवर्ष पाठशालाओं में बालकों की संख्या बढ़ती जाती है। खेर कमेटी ने अध्यापक और बालकों का अनुपात १ और ४० का बताया है। शिक्षा प्रसार में अध्यापकों और बालकों के अनुपात में वृद्धि स्वाभाविक है। अध्यापकों की सामाजिक अवस्था अनुपयुक्त है। सारजेन्ट कमेटी ने प्राथमिक पाठशाला के अध्यापकों की योग्यता मैट्रिक्युलेशन और २ साल का प्रशिक्षण नियुक्त की थी। हालाँकि यह योग्यता ठीक है पर इस पर कार्य नहीं हुआ। आज कल ५ प्रतिशत से कम अध्यापक इट्रेन्स पास हैं या उन्हें मिडिल की योग्यता है। शेष सब प्राइमरी तक ही शिक्षित हैं। प्रतिशत प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या तोऔर भी कम है। "प्राथमिक पाठशाला के शिक्षक को किसी प्रकार का ऐसा मौका नहीं मिलता कि वह शिक्षा के नये तरीके जान सके। प्रशिक्षण काल में उसे जो शिक्षा मिल जाती है उसी मूलधन पर वह अपने सेवाकाल में जीवित रहता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि प्राथमिक पाठशालाओं में शिक्षण-पद्धति शीघ्र ही मशीनवत हो जाती है। जिससे न तो बालक आकर्षित होते हैं और न पाठशाला की हाजिरी ही रह पाती है।"

वेतन की दृष्टि से प्राथमिक पाठशाला का शिक्षक सबसे निम्न प्राणी है। साथ ही ग्रामीण वातावरण के जिस कठोर जीवन में उसे रहना पड़ता है उससे जीवन का आनन्द चला जाता है।

पाठशाला भवन की व्यवस्था

प्राथमिक पाठशालाओं के भवन की समस्या दूसरी है। केवल ३० प्रतिशत पाठशालाएँ-ही ऐसे भवनों में हैं जिन्हें उपयुक्त कहा जा सकता है। शेष सब बिना किराये के घरों में, सार या मंदिरों में हैं। भवन-निर्माण में पर्याप्त व्यय की संभावना है। अतएव इस ओर तो सर-

कार सोच ही नहीं सकती। प्राथमिक पाठशाला के भवनों को सरकारी कर्ज लेकर तथा स्थानीय सहायता से बनाया जा सकता है।

शासन

प्राथमिक पाठशालाएँ ३ प्रकार के संस्थाओं के अन्तर्गत आती हैं प्रान्तीय सरकारें, स्थानीय शासन या व्यक्तिगत क्षेत्र। १८८२ में भारतीय-शिक्षा-आयोग ने यह सिफारिश की थी कि प्राथमिक पाठशालायें स्थानीय शासन को दे दी जाँय जिसे प्रान्तीय सरकारों ने अधिकांश रूप में मान लिया था। जब शिक्षा अनिवार्य हो जायगी तो सरकार को इस ओर अधिक ध्यान देना पड़ेगा। इससे व्यक्तिगत क्षेत्र और स्थानीय शासन के क्षेत्र में कमी होगी।

प्राथमिक शिक्षा की आय

प्राथमिक शिक्षा की आय के ५ साधन हैं। १—केन्द्रीय सरकार, २—प्रांतीय सरकार, ३—स्थानीय शासन, ४—फीस और ५—व्यक्तिगत दान।

केन्द्रीय सरकार परोक्ष रूप से ही प्राथमिक शिक्षा की सहायता करती है। केन्द्र प्रान्तीय सरकार को शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता देता है और प्रान्तीय सरकारें उसे व्यय करती हैं। प्रान्तीय सरकार ही प्राथमिक शिक्षा के आय का मुख्य साधन हैं और वे व्यय का लगभग ५९-४ प्रतिशत देती हैं। साधारतया यह समझा जाता है कि एक राज्य अपनी आय का २० प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करेगा और जो शिक्षा पर व्यय होगा उसका २।३ भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय होगा।

१९०१ के पहले स्थानीय शासन, प्राथमिक-शिक्षण-व्यय में प्रथम स्थान रखते थे पर अब उनका स्थान द्वितीय हो गया है। उनकी आय के अनुसार उन्हें अब यह संभव नहीं रहा कि वे शिक्षा का अधिक व्यय उठा सकें। फिर भी स्थानीय-शासन शिक्षण व्यय के लिए स्थानीय कर लगा सकते हैं और इनसे उनके आय की वृद्धि हो सकती है।

फीस और व्यक्तिगत दान तो नगण्य ही हैं पर ऐसी पाठशालाओं में जहाँ पर शिक्षा का स्तर ऊँचा है और जहाँ धनिक वर्ग अपने बालकों को पढ़ाता है वहाँ फीस लगानी चाहिए। प्राथमिक पाठशालाओं के व्यय का मुख्य साधन सरकारी सहायता ही होनी चाहिए। फीस या अन्य साधन केवल ६ प्रतिशत हैं और इन्हें निकाला जा सकता है क्योंकि प्रान्तीय और स्थानीय-शासन के क्षेत्र में आय के लिए पर्याप्त स्थान है।

व्यय

व्यय के अन्तर्गत ६० प्रतिशत अध्यापकों की तनख्वाह पर खर्च होता है। दूसरा स्थान पाठशाला भवनों के किराये का है। शिक्षण विधि या उसके उपकरणों पर निम्नतम खर्च होता है। अतएव पढ़ाई रोचक हो ही नहीं पाती।

प्राथमिक शिक्षा में बरबादी

प्राथमिक पाठशालाओं में बरबादी (Wastage) बालकों का फेल होना, पुनः निरक्षर हो जाना तथा अनुपयुक्त-पाठ्यक्रम प्रमुख अवगुण हैं।

यदि बालक ४ साल तक पाठशाला में नहीं रहता तो उसे पाठशाला की पढ़ाई का स्थायी लाभ नहीं हो सकता और उसका समय तथा शक्ति व्यर्थ नष्ट होती है। प्रथम वर्ष में बालकों की संख्या और ५ साल बाद ५ वीं कक्षा में बालकों की संख्या के अन्तर से बरबादी (Wastage) की माप की जाती है। इस प्रकार मालूम किया गया है २६ प्रतिशत प्राथमिक पाठशालाओं में बरबादी होती है।

इसी प्रकार यदि बालक एक ही कक्षा में कई बार फेल होता है तो उसे स्टैगनेशन (Stagnation) कहते हैं। इसका प्रमुख कारण अयोग्य शिक्षक या बालक की पाठशाला से अनुपस्थिति है। पहले

लोगों का विश्वास था कि यदि शिक्षा लगातार कायम न रहे तो मनुष्य शीघ्र ही सब भूल जाता है। पर अब यह मालूम हो गया है कि यह निरक्षरता अधिक से अधिक ३ से ५ प्रतिशत तक ही होती है।

प्राथमिक पाठशालाओं का पाठ्यक्रम तो ग्रामीण वातावरण के सर्वथा अनुपयुक्त है। विशेष रूप से उन स्कूलों में जो प्राचीन पद्धति पर चलाये जा रहे हैं, उनके पाठ्य-क्रम में आधार भूत परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है।

राजनीतिक दल और प्राथमिक शिक्षा

भारतवर्ष में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में राजनीतिक आन्दोलनों ने अधिक प्रभाव डाला था। १९१३ में सरकार ने सिद्धान्ततः यह स्वीकार कर लिया था कि प्राथमिक शिक्षा का सरकारी राजस्व पर प्रथम अधिकार है और सरकार चाहती है कि स्वतन्त्र रूप से प्राथमिक शिक्षा का विस्तार हो। परन्तु लोग इस सिद्धान्त पर ही निर्भर नहीं रहे और लगातार प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर देने की माँग करते रहे। स्वतन्त्रता के पश्चात जब सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसे संविधान के अन्तर्गत स्थान दे दिया तब से राजनीतिक रूप से कोई भी आन्दोलन इस के लिए नहीं हो रहा है। इस पर अब राजनीतिक नेता उतने ही शान्त हैं जितने वे पहले सक्रिय थे। यह आश्चर्य की बात है। आवश्यकता इस बात की है कि राजनीतिक दल इस ओर सक्रिय रहें। जब तक जनता अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की माँग न करेगी; राजनीतिक दल इस पर कार्य न करेंगे। अतएव जनता को अनिवार्य शिक्षा की माँग करते रहना चाहिए। आशा है कि सामुदायिक विकास योजनाओं से जनता में जागृति होगी और वे अनिवार्य शिक्षा की माँग करेंगे।

धर्म

भारतवर्ष में सामाजिक स्तर पर धर्म का विशिष्ट स्थान है और धर्म के नाम पर बड़े-बड़े आन्दोलन चल पड़ते हैं। अतएव यदि

जनता की धार्मिक भावना को स्पर्श किया जाय तो कुछ सफलता मिल सकती है। पर भारतीय संविधान के अन्तर्गत राष्ट्र धर्म-निरपेक्ष राज्य है। अतएव जनता की इस भावना का स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसके अलावा पूर्व अनुभवों से यह मालूम होता है कि कभी-कभी इससे लाभ के अलावा हानि की संभावना अधिक है। अतएव शिक्षा के लिए धार्मिक-भावना जाग्रत न की जाय यही अच्छा है।

पाठशाला की स्थिति

भारतवर्ष में गाँव दूर-दूर तक फैले हुये हैं तथा दो गाँवों के बीच में पहाड़ तथा नाले भी आ जाते हैं। जिससे यदि बालक उनको पार करके जाँय तो उनके जीवन का भय है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक गाँव में एक स्कूल खोला जाय। यदि जनसंख्या इतनी न हो तो कई गाँवों को मिला कर एक स्थान पर स्कूल खोला जाय। परंतु स्कूल ऐसे स्थान पर हों जहाँ से प्रत्येक गाँव की दूरी बराबर हो तथा आने जाने की उचित व्यवस्था की जा सके।

सामाजिक कुरीतियां

सामाजिक कुरीतियों से प्राथमिक शिक्षा का प्रसार रुकता है। जाति-प्रथा और धार्मिक-बंधन अब भी समाज को प्रभावित करते हैं और अक्सर जाति-विभेद के कारण दो जातियों के लड़के अलग ही अलग रखे जाते हैं। पर अब यह नियमानुकूल नहीं है और आशा है, भविष्य में इनका प्रभाव कम हो जायगा।

बाल-विवाह और परदा-प्रथा दूसरे सामाजिक दोष हैं जो विशेष कर लड़कियों की शिक्षा में बाधक होते हैं। कुछ रूढ़िवादी लोग तो लड़कियों की शिक्षा प्रमुख रूप से हानिकारक समझते हैं। सह-शिक्षा को भी लोग भ्रमपूर्ण दृष्टि से देखते हैं। विशेष रूप से यदि

लड़कियाँ ६ या १० साल की हो जाँय तो उन्हें वे लड़कों के साथ नहीं पढ़ाते।

प्रौढ़-शिक्षा

प्रौढ़-निरक्षरता प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में सबसे प्रमुख बाधा है। निरक्षर माता-पिता शिक्षा की महत्ता समझ ही नहीं सकते। अतएव निरक्षरता निवारण और प्राथमिक शिक्षा का प्रसार साथ-साथ चलना चाहिए। निरक्षरता-निवारण का आन्दोलन अनिवार्य शिक्षा के लिए आवश्यक है।

स्थानीय शासन

प्राथमिक शिक्षा विशेष रूप से स्थानीय शासन के अन्तर्गत है। अनुभव से यह मालूम हुआ है कि इसका प्रभाव प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर उलटा पड़ा है। अतएव प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय सरकार को इसके लिए अधिक सजग रहना चाहिए।

बहु भाषा

भाषा के बाहुल्य से भी प्राथमिक शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती। कभी-कभी तो एक ही क्षेत्र में कई प्रकार की भाषा बोलने वाले बालक पाये जाते हैं। अतएव भाषा के अध्यापकों का उचित प्रशिक्षण प्राथमिक शिक्षा के लिए आवश्यक है।

६०० करोड़ का व्यय

जनता की गरीबी और राज्य की आर्थिक स्थिति के कारण प्राथमिक शिक्षा का विकास नहीं हो पाता। यदि अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय तो राष्ट्र को प्रति वर्ष ६०० करोड़ रुपये खर्च करने पड़ेंगे। खेर कमेटी ने यह राशि ३६६ करोड़ तक कर दी है। पर देश

की अन्य विकास योजनाओं के कारण यह धन भी बहुत अधिक है। अतएव शिक्षा का किस प्रकार प्रसार किया जाय यह कठिन प्रश्न है। देश को उस समय तक धैर्य रखना पड़ेगा जब तक अन्य आवश्यक विकास योजनायें पूरी नहीं हो जाती।

देश की अन्य समस्याओं के रहने पर भी अनिवार्य शिक्षा को रोका नहीं जा सकता। हमें अन्य तरीकों से व्यय में कमी करनी पड़ेगी।

प्रथम तो शिक्षक और लड़कों का अनुपात बढ़ाया जा सकता है। प्रसार के लिए इसका अनुपात १ : ६० किया जा सकता है। शिक्षा प्रसार के लिए अन्य राष्ट्रों ने भी यही किया था।

दूसरे पाठशाला के समय को कम कर दिया जाय तथा समय निर्धारण में समाज की आवश्यकताओं और माँ-बाप की सुविधाओं की ओर ध्यान रखा जाय।

तीसरे स्कूल में 'सिफ्ट-सिस्टम' से काम लिया जाय।

प्राथमिक शिक्षा और बेसिक शिक्षा

चौथे, बेसिक शिक्षा, शिक्षा-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। बिहार में जो अनुभव प्राप्त हुए हैं उनसे यह मालूम हुआ है कि यदि बेसिक शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय तो उससे ५० प्रतिशत पाठशाला का व्यय निकल आता है। यह एक प्रोत्साहित आंकड़ा है और इस पर कार्य किया जा सकता है।

अखिल भारतीय-प्राथमिक शिक्षा परिषद्

(All India Council of Elementary Education)

अभी हाल में ही केन्द्रीय सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था और प्रसार के लिए १ जुलाई १६५७ से एक अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षा परिषद (All India Council of Elementry Education) की स्थापना की है। इस परिषद् का उद्देश्य केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित प्रश्नों पर सलाह देना है। जैसा पहले

कहा जा चुका है संविधान की धारा ४५ के अन्तर्गत गत १६६० तक प्रत्येक राज्य को १४ वर्ष की आयु के बालकों के लिए निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था कर लेनी चाहिए। परिषद राज्यों को इस ओर प्रगतिशील होने में सहायता करेगी। परिषद प्राथमिक शिक्षा का गठन, सम्बन्धित खोज, उपयुक्त साहित्य, आँकड़े, शिक्षकों का विकास, उपयोगी सर्वे, तथा उससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर उचित मार्ग प्रदर्शन, संगठन और विस्तार आदि प्रश्नों पर अग्रणी होगी।

इस परिषद के सभापति केन्द्रीय सरकार के शिक्षा सलाहकार होंगे। इसमें २० सदस्य होंगे, जिसमें प्रत्येक राज्य से एक सदस्य, केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड से नामजद एक सदस्य, अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद का एक प्रतिनिधि, शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों का एक प्रतिनिधि जिसे केन्द्रीय सरकार नामजद करेगी, तथा दो प्रतिनिधि बेसिक शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा और पिछड़ी जातियों की शिक्षा से सम्बन्धित होंगे। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रणालय के बेसिक शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा के सर्वोच्च अधिकारी इस परिषद के मंत्री होंगे। गैर सरकारी प्रतिनिधियों का कार्य-काल २ साल तक रहेगा। और सरकारी अधिकारी जब तक अपने पद पर काम करेंगे उसके सदस्य होंगे।

परिषद का सर्वोच्च कार्यालय नई दिल्ली में होगा।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की प्रगति

अभी हाल में ही प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने राज्य के मुख्य मंत्रियों को लिखा था कि वे तृतीय पंचवर्षीय योजना में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के कार्य क्रम को पूर्ण करें। आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह कार्य क्रम पूरा किया जा सकेगा, इसमें सन्देह है। पर आशा है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ६-११ वर्ष के सम्पूर्ण बालकों को निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की सुविधा प्राप्त होगी।

जब द्वितीय पंचवर्षीय योजना का ढाँचा बनाया गया था तो यह विश्वास था कि इस योजना के अन्तिम वर्ष में ६-११ वर्ष के ७७ लाख (म ७७,००,०००,) बालकों को निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की सुविधा प्राप्त होगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तृतीय वर्ष में लगभग ६० लाख बालकों को शिक्षा की सुविधा मिल जायगी।

१६५०—५१ में प्राथमिक पाठशालाओं में ६-११ वर्ष के बालकों की संख्या १ करोड़, ८६ लाख, ८० हजार (१,८६,८०,०००) थी। १६५५-५६ में यह संख्या बढ़कर २ करोड़, ४८ लाख, १२ हजार (२,४८,१२,०००) हो गई। १६६०-६१ में आशा है यह संख्या ३ करोड़, २५ लाख, ४० हजार (३,२५,४०,०००) हो जायगी। १६५०-५१ में प्राथमिक पाठशालाओं की संख्या २ लाख, ६ हजार, ६७१ (२,०६,६७१) थी। १६५५-५६ में यह संख्या बढ़कर २ लाख ७४ हजार, २०८ (२,७४,२०८) हो गई। आशा है १६६०-६१ तक यह संख्या ३ लाख २६ हजार ८०० (३,२६,८००) हो जायगी। इन्ही सालों में जुनियर बेसिक पाठशालाओं की संख्या क्रम से १४०००० (१६५०-५१) और ३३,८००० (१६६०-६१) होगी।

पञ्चवर्षीय योजना के तृतीय वर्ष तक २ लाख ३४ हजार प्राथमिक शिक्षकों का प्रावधान था। इसके प्रथम तीन वर्ष में लगभग २ लाख प्राथमिक शिक्षकों की भर्ती हो गई है।

शिक्षा की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए तथा शिक्षित बेकारी दूर करने के लिए यह प्रस्तावित हैं कि १६५८-५६ से एक नवीन योजना कार्यान्वित की जाय जिसके अन्तर्गत ६० हजार और नवीन प्राथमिक शिक्षकों की भर्ती की जाय। इस योजना के अन्तर्गत १६५८-५६ में १५ हजार शिक्षक, १६५६-६० में २० हजार शिक्षक और १६६० ६१ में २५ हजार शिक्षकों की भर्ती होगी।



२

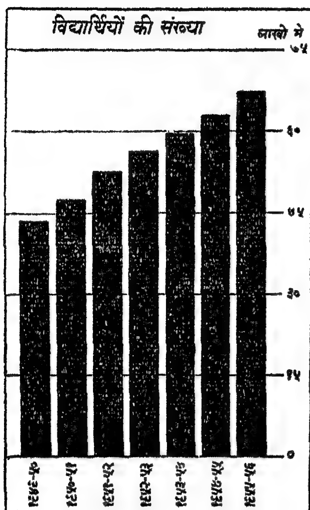
माध्यमिक-शिक्षा

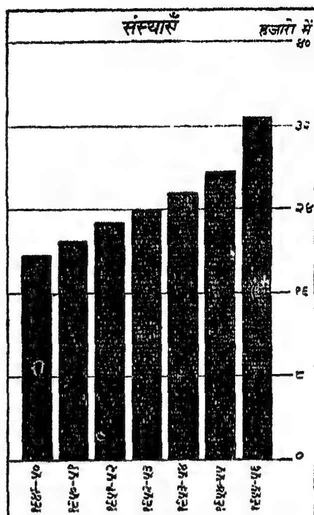
कुछ समय से सब शिक्षा शास्त्री यह मानते आ रहे हैं कि 'माध्यमिक-शिक्षा, भारतीय-शिक्षा-श्रृंखला की सबसे कमजोर कड़ी है।' वर्तमान काल में माध्यमिक शिक्षा में सुधार के प्रयत्न सब ओर से हो रहे हैं और आशा है कि भविष्य में उचित सुधार और परिवर्तन के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा राष्ट्रीय और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इस उद्देश्य को दृष्टि में रख कर भारतीय सरकार ने एक माध्यमिक शिक्षा-आयोग की स्थापना, अक्टूबर १९५२, में की। आयोग ने, जून १९५३, में अपनी संस्तुति प्रस्तुत कर दी। उस पर प्रायः प्रत्येक राज्य ने विचार किया। अब यह निश्चित किया गया है कि स्थानीय आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर भविष्य में माध्यमिक शिक्षा प्रमुख रूप से इसी आयोग की संस्तुति पर आधारित रहे।

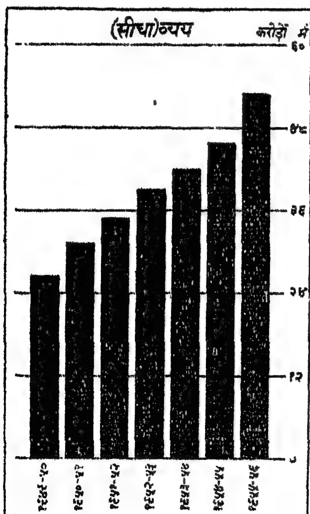
माध्यमिक-शिक्षा वर्तमान-युग की विशेषता है

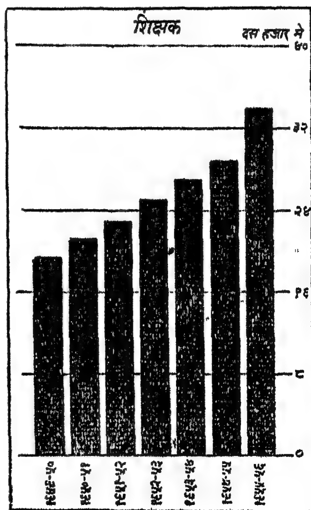
ऐतिहासिक रूप से यह कहा जा सकता है कि माध्यमिक-शिक्षा प्रमुखतः वर्तमान युग की ही विशेषता है। प्राचीनकाल में शिक्षा का सम्बन्ध धर्म से था और व्यक्ति विशेष धार्मिक दृष्टि-कोण से उच्च-शिक्षा प्राप्त कर लेते थे। पर अधिकतर लोग साधारण शिक्षा प्राप्त कर

माध्यमिक-शिक्षा की प्रगति









ग्रहस्थ जीवन व्यतीत करते थे। जन-साधारण प्राथमिक शिक्षा से ही संतुष्ट हो जाता था। पर जनतंत्र के सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार से यह आवश्यक हो गया कि जन-साधारण का मार्ग निर्देशन कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के हाथ में हो जो उनका प्रतिनिधित्व कर सकें तथा जिनमें जनता का विश्वास हो।

ज्ञान विस्तार

वर्तमान काल में ज्ञान का विस्तार बढ़ता जा रहा है। सामाजिक संगठन विशेष रूप से क्लिष्ट हो चला है तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने समाज में आमूल परिवर्तन कर दिया है जिससे समाज में सफल सांस्कृतिक जीवन बिताने के लिए यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने ज्ञान की सीमा बढ़ाये। जितनी साधारण शिक्षा से पहिले काम चल जाता था अब वह अपर्याप्त हो रही है। अतएव माध्यमिक शिक्षा की आवश्यकता उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

माध्यमिक शिक्षा का क्षेत्र प्राथमिक-शिक्षा के अन्त में और उच्च-शिक्षा के प्रारम्भ में है। आयु की दृष्टि से यह शिक्षा ११ वर्ष से १७ वर्ष के अन्तर्गत समाप्त हो जाती है। ६ से १४ वर्ष तक प्राथमिक शिक्षा भारतीय संविधान के अंतर्गत निःशुल्क एवं अनिवार्य है। प्राथमिक शिक्षा का अंतिम-काल ११-१४ वर्ष माध्यमिक शिक्षा का प्रारम्भिक काल है। ११ वर्ष के बाद बालकों की रुचि मालूम पड़ने लगती है। परन्तु अभी यह इतनी स्पष्ट नहीं होती कि निश्चित रूप से कहा जा सके कि बालक की विशिष्ठ रुचि यही है। अतएव 'उच्च-बेसिक-स्तर पर बालक को ऐसी शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है जिसमें बालक की विशेष रुचि प्रस्फुटित हो रही है। पर साधारणतः उसे और भी अनिवार्य विषय पढ़ाये जाते हैं। ११-१७ वर्ष की आयु में बालकों की रुचि ठीक-ठीक मालूम हो जाती है। अतएव माध्यमिक काल में बालक को वही विषय पढ़ाये जाते हैं जिसमें बालक की विशिष्ठ रुचि दृष्टि गोचर होती है और जिसे वह अपने भविष्य-जीवन में व्यवसायिक आधार बनायेगा या जिसका वह विश्विविद्यालयों में

विशेष अध्ययन करेगा। इङ्गलैण्ड के माध्यमिक शिक्षा की एक समिति ने जिसे माध्यमिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम एवं परीक्षा-सुधार के विषय में सिफारिश करने के लिए स्थापित किया गया था उसने लिखा है कि "प्राथमिक शिक्षा का प्रमुख कार्य बालकों की आधार भूत आदतों, योग्यताओं और रुचियों को निश्चित करना है। इसके लिये बालकों को वह शिक्षा दी जाती है जिसे सब बालकों को प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षण-पद्धति, बालकों के साधारण ज्ञान के योग्य होती है। विशेष रुचि या झुकाव की ओर अभी प्रायोगिक रूप से ही कार्य किया जा सकता है क्योंकि यह अभी स्पष्ट नहीं रहती और न तो उनमें उतनी प्रौढ़ता ही रहती है कि उसे आधार बनाकर कोई कार्य किया जा सके या उनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाय। माध्यमिक स्तर पर, दूसरी ओर, इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि बालकों के विशेष रुचि या झुकाओं की पूर्ति की जाय तथा ऐसी शिक्षा दी जाय जो उनके रुचि के अनुकूल हो। इस स्तर पर उनकी रुचि किसी विशेष ओर झुकने लगती है या आगे चलकर इस प्रकार स्पष्ट हो जायगी कि उस ओर ध्यान देना आवश्यक हो जायगा और जिसके लिये विशेष प्रकार की शिक्षा आवश्यक होगी। अतएव माध्यमिक शिक्षा का कार्य है कि वह ऐसे अवसर प्रदान करे जिसमें बालकों की विशेष रुचियाँ प्रगटित हों— यदि वह प्राथमिक कक्षा में स्पष्ट नहीं हुई हैं—और दूसरे उनकी विशिष्ट रुचियों और योग्यताओं को विकसित करने के लिए उचित पाठ्यक्रम उपस्थित करें तथा पाठशाला के अंतर्गत ऐसे जीवन का संगठन करें जिन से बालकों के जीवन में इस उद्देश्य की पूर्ति हो।"*

---

* It is the business of secondary Education, first to provide opportunity for a special cast of mind to manifest itself, if not already manifested in the primary stage, and, secondly to develop special interest and aptitudes to the full by means of a curriculum and a life best calculated to this end.

'Curriculum and Examination in secondary schools.'

इसके अलावा तत्कालीन शिक्षा शास्त्रियों का विश्वास था कि शिक्षा उच्च स्तर से समाज के निम्न स्तर में स्वयं फैल जाती है। यदि समाज के कुछ व्यक्तियों को पढ़ा दिया जाय तो वे स्वयं अन्य लोगों को शिक्षित कर लेगें। इसे उच्च स्तर से निम्नस्तर पर शिक्षा प्रसार का सिद्धान्त : (Down-ward Filteration Theory): कहते हैं। भारतीय-शिक्षा क्षेत्र में यह सिद्धान्त १८१३ से लेकर १८८२ तक काम करता रहा। प्रारम्भ में कम्पनी के अधिकारी भारत में संस्कृत और अरबी का प्रचार करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि पूर्वी-साहित्य और इतिहास भारतीयों के लिये उपयुक्त है। इसी दृष्टिकोण को लेकर सर वारेन हेस्टिगंज ने कलकत्ता मदरास की स्थापना की और १७६१ ई० में जोनाथन डनकन ने बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की। पर कुछ समय में ही ईस्टइंडिया कम्पनी ने १८१३ में भारतीय शिक्षा प्रसार के लिये एक लाख रुपया दिया। अतएव इस रुपये के व्यय के लिये विवाद प्रारम्भ हुआ। अंत में मैकाले की सलाह से सरकार ने यह निश्चित किया कि भारत में शिक्षा का प्रसार अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी साहित्य तथा विज्ञान का प्रसार करना है। इसी उद्देश्य से १८५४ तक काम होता रहा।

शिक्षा नीति

यद्यपि १८५४ में सरकार ने इस नीति में परिवर्तन कर दिया और वे जन साधारण में शिक्षा-प्रसार पर जोर देने लगे परन्तु उन्होंने इस ओर कोई सक्रिय प्रयत्न नहीं किया। नवीन रूप से संगठित शिक्षा-विभाग प्राथमिक तथा माध्यमिक पाठशालायें, पश्चिमी पद्धति से खोलता रहा। सरकारी सहायता से पादरी, भारतीय-समाज-सुधारक और स्वंय सरकार भी माध्यमिक शिक्षा का प्रसार करती रही। इस युग में माध्यमिक शिक्षा लाभप्रद थी क्योंकि इसके पश्चात् शीघ्र ही सरकारी नौकरी मिल जाती थी। अतएव सब लोग इसी ओर झुकते थे। इसके अलावा भारतीय नेता भी अंगरेजी शिक्षा के प्रसार पर जोर

देते थे। इस क्षेत्र में राजा राम मोहन राय का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसका प्रभाव यह हुआ कि बहुत सी माध्यमिक पाठशालायें खुलती गईं। १८८२ में भारतवर्ष में कुल १,३६३ माध्यमिक पाठशालायें थी जिनमें ४०,६०५ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। इसकी अपेक्षा १८५५ में केवल १६६ माध्यमिक पाठशालायें ही थीं जिनमें १८,३३५ विद्यार्थी पढ़ते थे। इन आंकड़ों से यह पता चलता है कि माध्यमिक शिक्षा का प्रसार शीघ्रता से हो रहा था।

१८८२ में माध्यमिक-शिक्षा

१८८२ में 'भारतीय-शिक्षा-आयोग' (Indian Education Commission) के सामने दो प्रश्न थे। प्रथम यह कि माध्यमिक शिक्षा का प्रसार किस प्रकार शीघ्रता से किया जा सकता है दूसरे यह कि किन संस्थाओं के माध्यम से यह प्रसार किया जाय। उस समय सरकारी पाठशालाओं की अपेक्षा साधारण संस्थाओं में खर्च कम पड़ता था और पढ़ाई भी ठीक होती थी। अतएव तात्कालीन अवस्थाओं का ध्यान देते हुये आयोग ने यह सिफारिस की कि जहाँ तक सम्भव हो माध्यमिक पाठशालायें सरकार की आर्थिक सहायता से तो चलाई जाँय पर सरकार स्वंय शीघ्रातिशीघ्र माध्यमिक पाठशालाओं की व्यवस्था छोड़ दे।" जो पाठशालायें सरकार ने खोल रक्खी हैं उन्हें यथा सम्भव, जहाँ पर जन संस्थायें उपलब्ध हैं और जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है, उन्हें सौप दी जाँय। पर जहाँ पर जनता में जागृति नहीं है और पाठशाला की आवश्यकता है वहाँ पर सरकार माध्यमिक पाठशाला खोल सकती है।

भारत सरकार ने आयोग की सिफारशें मान ली और आर्थिक सहायता से ही उन्होंने माध्यमिक शिक्षा का प्रसार करना चाहा। फलतः १८८२ से १६०२ तक माध्यमिक शिक्षा का बहुत प्रसार हुआ जो निम्न आंकड़ों से प्रकट होता है :—

	१८८१—८२	१९०१—०२
१— माध्यमिक पाठशालाओं की संख्या।	३,९१६	५,१२४
२— माध्यमिक पाठशालाओं में छात्रों की संख्या।	२१४,०७७	५९०,१२९

माध्यमिक शिक्षा की कमजोरी

परन्तु माध्यमिक शिक्षा के दोष स्पष्ट होते जा रहे थे। उसमें प्रमुख दोष यह था कि शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा न हो कर अंगरेजी थी। अंगरेजी की उस समय महत्ता थी और वास्तव में आयोग ने लिखा है कि अंगरेजी इसलिये पढ़ाई जाती है कि भारतीय स्कूलों के मैनेजर उसे चाहते हैं। १९०२ तक तो अंगरेजी भाषा की शिक्षा ने पाठ्य-क्रम में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया था। उस समय प्रशिक्षित अध्यापक भी नहीं थे। वास्तव में प्रशिक्षण का प्रारम्भ हो ही रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्ष में मद्रास और लाहौर के अलावा राजमहेन्द्री, इलाहाबाद और जबलपुर आदि स्थानों में प्रशिक्षण विद्यालय खुल गये थे। पर इनमें प्रशिक्षण अभी तक संगठित नहीं हो पाया था। माध्यमिक शिक्षा की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसमें व्यवसायिक पाठ्य-क्रम नहीं थे और सब विद्यार्थियों को उदार-शिक्षा की ही शरण लेनी पड़ती थी।

लार्ड कर्जन (१९०४) के समय में शिक्षा की नीति में पुनः परिवर्तन हुआ। कर्जन ने शिक्षा के प्रसार की अपेक्षा उसके सुधार, और नियन्त्रण की ओर अधिक ध्यान दिया। परन्तु अपने कथनों एवं नीति के कारण कर्जन से शीघ्र ही नेताओं एवं जनता के साथ संघर्ष हो गया। इस कारण उसके कुछ महत्वपूर्ण कार्य भीप्रशंसित नहीं हो पाये।

कर्जन ने सर्वप्रथम इस बात का प्रयत्न किया कि कृषि-शिक्षा संगठित की जाय। माध्यमिक पाठशालाओं में भी कृषि की पढ़ाई हो ताकि शिक्षा ग्रमीण वातावरण के उपयुक्त हो जाय।

१६१३ का शिक्षा प्रस्ताव

१६१३ में जो प्रस्ताव भारतीय-शिक्षा की नीति पर पेश किया गया उसमें प्राथमिक शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया गया। माध्यमिक शिक्षा में सुधार करने की घोषणा की गई। प्रस्ताव में यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि सरकार राजकीय-माध्यमिक-विद्यालयों में निम्न रूप से सुधार करना चाहती है :—

(१) केवल बी० ए० पास प्रशिक्षित अध्यापकों को नौकरी में रख कर।

(२) अध्यापकों का वेतन-मान उच्च करके। यह निश्चित किया गया कि अध्यापक को ४० रु० से कम वेतन न दिया जाय और एक वेतन माप निश्चित किया गया उसमें ४०० रु० तक तनख्वाह की गई।

(३) विद्यालयों में छात्रावास की व्यवस्था करके।

(४) ऐसा पाठ्य-क्रम निश्चित करके जो स्वयं पूर्ण हो और जिसमें इतिहास और भूगोल की वर्तमान अवस्थाओं पर ध्यान रक्खा जाय।

(५) पाठ्य-क्रम में विज्ञान के शिक्षण का सुधार किया जाय तथा उसमें काष्ठ कला इत्यादि और जोड़े जाँय।

(६) साधारण संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाय ताकि वे अपना सुधार कर सकें।

(७) प्रशिक्षण विद्यालयों का सुधार किया जाय और उनमें विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाई जाय ताकि साधारण विद्यालयों के लिये भी प्रशिक्षित अध्यापक मिल सकें।

(८) जहाँ पर पाठशालायें न हों वहाँ पर राजकीय माध्यमिक पाठशालायें खोली जाँय।

सरकार ने माध्यमिक-शिक्षा के क्षेत्र में यह भी निश्चय किया कि सरकार आदर्श-माध्यमिक पाठशालायों की स्थापना करे जिससे जनता द्वारा स्थापित संस्थायें उसका अनुकरण कर सकें। इसके साथ ही माध्यमिक पाठशालाओं में व्यवसायिक पाठ्य-क्रम की भी व्यवस्था की गई ताकि विद्यार्थी साहित्यिक विषयों की अपेक्षा इन विषयों को पढ़ सकें तथा उन्हें वैकल्पि विषयों के चुनाव में और अधिक विषय मिल जाँय।

शिक्षा का माध्यम अंगरेजी ही रहा। अंगरेजी की पढ़ाई के लिये भी विशेष ध्यान दिया जाता था। १९१३ ई० के शिक्षा-प्रस्ताव ने शिक्षक प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया था और उसमें यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी भी अध्यापक को पढ़ाने नहीं दिया जायगा जब तक कि उसके पास प्रशिक्षण का प्रमाण-पत्र नहीं रहेगा।

अभी शिक्षित व्यक्तियों के बीच बेकारी नहीं फैली थी। इसलिये अंगरेजी शिक्षा एक प्रकार से व्यवसायिक शिक्षा ही थी अतएव शिक्षा की त्रुटियों की ओर लोगों का ध्यान केन्द्रित नहीं हुआ था। परन्तु वर्तमान शिक्षा की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा था और शिक्षा सुधार की भी एक लहर उत्पन्न हो गई थी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय की सिफारिश

इसी बीच माध्यमिक शिक्षा में एक प्रमुख परिवर्तन हुआ। १९१७ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय आयोग ने इस बात की सिफारिश की कि एफ० ए० की परीक्षायें विश्वविद्यालयों से अलग कर ली जाँय और माध्यमिक परीक्षा के लिये एक माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की स्थापना की जाय। बी० ए० में प्रविष्ट होने के लिये निम्नतम योग्यता एफ० ए० हो और नवीन प्रकार के विद्यालय खोले जाँय जो इन्टरमीडिएट विद्यालय के नाम से प्रख्यात हों तथा जिनमें एफ० ए० की पढ़ाई का प्रबन्ध हो।

द्वैत-शासन एवं माध्यमिक शिक्षा

१९२१ में भारतीय-शासन विधान में सुधार हुआ जिसके अनुसार प्रान्तों में दुहरे शासन का प्रारम्भ हुआ। इस शासन में कुछ विषय तो गवर्नमेंट के सलाहकारों के हाथ में रहे और कुछ विषय भारतीय मंत्रियों के हाँथ में आ गये जिसके लिये वे धारा सभा के प्रति उत्तरदायी थे। शिक्षा-भारतीय मंत्रियों के हाथ में रही। भारतीय मंत्री शिक्षा-प्रसार के पक्ष में थे। पर उनके बहुत से सलाहकार जो अखिल भारतीय शिक्षा सेवा के अंग थे शिक्षा-सुधार के पक्ष में थे। अतएव 'सुधार बनाम प्रसार' एक बहुत बड़ा प्रश्न बन गया। साधारण जनता शिक्षा-प्रसार के ही पक्ष में थी। अतएव शिक्षा का तीव्र गति से प्रसार होता रहा। १९२९ हारटोग-कमेटी की स्थापना हुई। इस समिति ने शिक्षा के सुधार पर ही जोर दिया। 'एबट और उड' ने माध्यमिक शिक्षा में व्यसायिक विषयों को पाठ्य-क्रम के अंतर्गत शामिल करने तथा पठन-पाठन में सुधार करने की सिफारिश की।

केन्द्रीय-शिक्षा-सलाहकार-परिषद

१९२३ में केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-परिषद (Central Advisory Board of Education) की स्थापना की गई जिसका मुख्य कार्य भारत सरकार को शिक्षा के महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देना था ताकि सम्पूर्ण भारतवर्ष में शिक्षा की इकाई कायम रहे।

१९३५ का संविधान

इस समय तक वर्तमान शिक्षा के अवगुण स्पष्ट हो गये थे। पढ़े-लिखे लोगों में बेकारी काफी फैल गई थी। राष्ट्रीय-आन्दोलन भी उग्र रूप धारण कर रहा था। अतएव वर्तमान माध्यमिक विद्यालयों के बहिष्कार का आन्दोलन भी प्रारम्भ हो गया था। आर्य-समाज तथा अन्य सुधारक सभायें भी शिक्षा में सुधार तथा उसमें भारतीय संस्कृति

के समावेश के लिये आवाज़ उठा रही थीं। अतएव शिक्षा में सुधार आवश्यक हो गया। १९३५ के भारतीय संविधान के अनुसार १९३७ में प्रान्तों में स्वायत्त शासन की स्थापना हुई। सात प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार हो गई। कांग्रेस-शिक्षा के राष्ट्रीय करण और प्रसार के पक्ष में थी। पर शीघ्र ही युद्ध प्रारम्भ हो गया और कांग्रेस सरकार को राजनैतिक कारणो से स्तीफा देना पड़ा।

सार्जेन्ट-योजना

युद्ध के पश्चात शिक्षा में सुधार करने के लिए सर जान सार्जेन्ट (Sir John Sargent) जो भारतीय-सरकार के शिक्षा सलाहकार थे उनकी अध्यक्षता में एक समिति बनी जिसने शिक्षा के लिये राष्ट्रीय योजना का निर्माण किया। योजना के अनुसार माध्यमिक-शिक्षा को शिक्षा का एक स्वतः पूर्ण अंग माना और माध्यमिक पाठशालाओं को दो भागों में बाँट दिया, साधारण और व्यवसायिक (Technical) : माध्यमिक-शिक्षा में विभिन्न प्रकार के विषयों को पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत शामिल करने की सिफारिश की गई ताकि विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुकूल विषय चुन सकें।

माध्यमिक-शिक्षा आयोग

युद्ध के पश्चात् भारत में महान् राजनैतिक परिवर्तन हुआ। १९४७ में रक्तहीन क्रान्ति के द्वारा भारत ने स्वतंत्रता प्राप्ति की और प्रत्येक क्षेत्र में सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई। माध्यमिक शिक्षा के अवगुण स्पष्ट थे। विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग ने भी माध्यमिक शिक्षा में सुधार की सिफारिश की थी। १९४८ में केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार परिषद् ने एक माध्यमिक शिक्षा-आयोग के स्थापना की सिफारिश की। १९५१ में उन्होंने पुनः अपनी सिफारिश दुहराई। अतएव केन्द्रीय-सलाहकार परिषद् की सिफारिश को ध्यान में रखकर २३ सितम्बर,

सन् १६५२ को भारत सरकार ने एक माध्यमिक-शिक्षा-आयोग की घोषणा की। इस आयोग के समापति श्री लक्ष्मीस्वामी मुदालियर थे। अतएव इसे मुदालियर आयोग भी कहते हैं। इस आयोग को यह कार्य सौंपा गया कि वह माध्यमिक शिक्षा के निम्न अंगों पर सरकार को सलाह दें :—

(१) माध्यमिक-शिक्षा की वर्तमान स्थिति।

(२) माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य, उसका संगठन तथा पाठ्यक्रम।

(३) उसका प्राथमिक, बुनियादी और उच्च शिक्षा से संबन्ध।

(४) उसका अन्य माध्यमिक पाठशालओं से सम्बन्ध।

(५) तथा अन्य सम्बन्धित प्रश्न।

ताकि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक अखिल भारतीय नीति का निर्धारण किया जा सके।

आयोग ने सम्पूर्ण भारतवर्ष में भ्रमण करके माध्यमिक शिक्षा की प्रत्येक अवस्था से अपने को अवगत किया। शिक्षा-विद, सामाजिक एवं राजनैतिक नेताओं की राय ली और अंत में उन्होंने स्वतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक साँचे को ख्याल में रखकर माध्यमिक शिक्षा की एक नीति निर्धारित की।

दोष

माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करने से पूर्व उन्होंने वर्तमान माध्यमिक शिक्षा के दोषों का वर्णन किया। उसमें उन्होंने बताया कि शिक्षा की वर्तमान नीति एकाँगी है और माध्यमिक शिक्षा उच्च शिक्षा में प्रवेश पाने के लिये, विद्यार्थियों को तैयार करने की एक सीढ़ी मात्र है। परीक्षा, पाठ्यक्रम की बाहूल्यता, शिक्षण-पद्धति के दोष तथा उपयुक्त शिक्षण-सामग्री की कमी के कारण शिक्षा विद्यार्थियों के लिये प्रसन्नता का कारण न होकर उनके ऊपर एक निर्जीव बोझ की तरह लादी जाती है। शिक्षा में अनेक प्रकार के पाठ्यक्रमों की बाहुल्यता न होने के कारण शिक्षा के अंत में विद्यार्थी कोई लाभ-प्रद कार्य नहीं कर सकता।

अनेक अवस्थाओं में समय-विभाजक चक्र की कठोरताओं, अनुपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों और पाठ्यक्रम के विस्तार के कारण अध्यापक को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं रहती और न तो विद्यार्थियों में आत्मनिर्भरता या विचार-स्वतंत्रता आदि गुण ही विकसित हो पाते हैं। आध्यापक तथा विद्यार्थियों में पारस्परिक सम्बन्ध तो विकसित ही नहीं हो पाता। आयोग ने वर्तमान शिक्षा के निम्नलिखित प्रमुख दोष बतलाये :—

(१) शिक्षा का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) यह संकीर्ण और एकाँगी है तथा इससे विद्यार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। कई शताब्दियों तक शिक्षा केवल साहित्यिक ही रही। यह सच है कि वर्तमान माध्यमिक-शिक्षा से विद्यार्थी समुदाय के केवल एक भाग का ही हित होता है।

(३) अंग्रेजी पाठ्यक्रम का अनिवार्य विषय है। अतएव जिन विद्यार्थियों को उसका पर्याप्त ज्ञान नहीं है वे सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।

(४) शिक्षा पद्धति से विद्यार्थियों में विचार स्वतंत्रता या स्वयं आगे बढ़कर कार्य करने की क्षमता का विकास नहीं हो पाता।

(५) परीक्षा के निर्जीव बोझ से विद्यार्थियों का व्यक्तित्व दब जाता है।

माध्यमिक शिक्षा के वर्तमान उद्देश्य

भारतवर्ष में विद्यार्थियों की शिक्षा का आजकल निम्न उद्देश्य होना चाहिये :—

(१) जनतंत्रीय राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव। जिसके अंतर्गत विद्यार्थियों में निम्न गुण विकसित होना चाहिये :

(अ) विचार-स्पष्टता तथा नवीन विचार ग्रहण करने की क्षमता।

(ब) विचार-व्यक्त कर सकने की क्षमता।

(स) व्यक्तित्व के सम्पूर्ण अंगों का जिसमें मानसिक, सामाजिक और संवेगीय अवस्थायें शामिल हैं, उनका स्वास्थपूर्ण विकास।

(द) अनुशासन पूर्वक सामाजिक-सहयोग तथा दूसरे के प्रति सहिष्णुता और समाज के प्रति जागृति।

(य) विशुद्ध राष्ट्रीयता, जिसके अंतर्गत अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का स्वाभिमान, उसकी कमजोरियों को मानने का साहस और उन्हें नष्ट करने के लिये कार्य करने की दृढ़ता आती है।

(२) शिक्षा में व्यवसायिक पूर्णता विद्यमान हो। इसके लिए शिक्षा के द्वारा कार्य के प्रति नवीन भावना का प्रचार करना होगा। विद्यार्थियों में प्रत्येक कार्य के प्रति श्रद्धा की भावना जाग्रत करनी चाहिये और नवयुवकों में इस विचार का प्रस्फुटन करना चाहिये कि कोई भी कार्य छोटा या तुच्छ नहीं है और जो भी कार्य विद्यार्थी अपने हाँथों में लें उसे वे अच्छी तरह पूरा करें। इसके साथ ही विद्यार्थियों में व्यवसायिक क्षमता पैदा करनी होगी जिससे वे राष्ट्र के व्यवसायिक और औद्योगिक पूर्णता में योग दे सकें।

(३) माध्यमिक शिक्षा से विद्यार्थियों की रचनात्मक शक्ति का विकास करना है ताकि विद्यार्थी राष्ट्र की संस्कृति के प्रति प्रशंसात्मक भावना विकसित कर सकें और राष्ट्रीय पैतृकता में वृद्धि कर सकें।

(४) माध्यमिक शिक्षा से विद्यार्थियों में नेतृत्व की शक्ति का विकास होना चाहिये। बहुत से विद्यार्थियों के लिए माध्यमिक शिक्षा ही अंतिम शिक्षा है। अतएव यह स्वयं पूर्ण होनी चाहिए तथा इसके विशिष्ट उद्देश्य स्पष्ट रहें। माध्यमिक पाठशालाओं से शिक्षा समाप्त करके वे मध्यमवर्ग का नेतृत्व कर सकेंगे, ऐसी क्षमता विद्यार्थियों में होनी चाहिये। माध्यमिक पाठशालाओं का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों में नागरिक एवं व्यवसायिक (Vocational) पूर्णता विकसित करें तथा वह

चरित्र पैदा करें जो इनके साथ जाता है ताकि वे राष्ट्रीय विकास में अपना पूर्ण स्थान ले सकें।

संगठन

माध्यमिक-शिक्षा-संगठन के विषय में आयोग ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये हैं :—

माध्यमिक शिक्षा ११ वर्ष से १७ वर्ष की आयु तक चलती है। पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित शिक्षा जो सात वर्ष तक चलेगी, उससे विद्यार्थी ने जो पाठ्यक्रम लिया है उसमें पूर्णता आ जानी चाहिए तथा उसमें ज्ञान, समझ और निर्णय की प्रौढ़ता आ जानी चाहिये जो उसे भविष्य जीवन में सहायक होगी।

अतएव आयोग ने माध्यमिक-शिक्षा के सात साल को दो भागों में बाँट दिया है।

(१) ३ वर्ष की जूनियर माध्यमिक या उच्च-बुनियादी शिक्षा।

(२) उच्च-माध्यमिक स्तर जो चार साल तक चलेगा।

इस संगठन के द्वारा वर्तमान हाई स्कूलों में एक साल जोड़ दिया गया जिससे वे उच्चतर माध्यमिक विद्यालय हो गये। बी० ए० का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का हो गया और इन्टरमीडियेट कालेज समाप्त हो गये। उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा की पूर्णता होगी। इसके बाद विद्यार्थी व्यवसायिक विद्यालयों में जाने लगेंगे या एक साल की पूर्व-व्यवसायिक कक्षाओं में प्रवेश कर सकेंगे।

वर्तमान पाठ्य-क्रम में व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम और जोड़ दिये गये हैं। पाठ्य-विषयों की बाहुल्यता होने से विद्यार्थियों को अपने रुचि के अनुकूल विषय चुनने में सहायता मिलेगी। इस प्रकार माध्यमिक पाठशालाओं में विभिन्न प्रकार के पाठ्य-क्रम एवं योजनाओं का निर्माण होना चाहिये ताकि लड़कों के विभिन्न रुचियों और योग्यताओं को पूर्णता मिल सके जो इस आयु में विद्यार्थियों में विकसित होती है।

आयोग ने बहुधन्धी पाठशालाओं के खोलने की सिफारिश की है। उनका विचार है कि इससे :—

(१) विद्यार्थियों में जो विभिन्न प्रकार के पाठ्य-क्रम लेते हैं उनमें विभिन्नता एवं लघुता की भावना का प्रवेश नहीं होगा।

(२) इससे शिक्षण-क्रम में विभिन्नता आती है जिससे शिक्षण में निर्देश सम्भव हो जाता है।

(३) इससे विद्यार्थियों के गलत विभाजन से जो त्रुटि पैदा हो जाती है वह आसानी से ठीक की जा सकेगी क्योंकि एक ही स्कूल में परिवर्तन सम्भव रहता है। आयोग ने माध्यमिक-विद्यालय में कृषि-शिक्षा पर जोर दिया और पुरुऔद्योगिक शिक्षा के पुनर्निर्माण की सिफारिश की।

पाठ्यक्रम

वर्तमान माध्यमिक-शिक्षा के पाठ्य-क्रम के विषय में आयोग के सम्मुख निम्नलिखित विचार व्यक्त किये गये है :—

(१) पाठ्य-क्रम संकीर्ण सिद्धान्तों पर आधारित है।

(२) यह अधिकतर पाठ्य-पुस्तकों पर निर्भर है और संकुचित रूप से सैद्धान्तिक है।

(३) इसमें अनुपयोगी पाठ्य-क्रम की बाहुल्यता है तथा शिक्षा के मूल्यवान तत्त्व नहीं है।

(४) इसमें व्योहारिक एवं अन्य प्रकार के कार्य-क्रमों का समावेश नहीं है जिनसे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो सके।

(५) इससे किशोर की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती।

(६) इसमें परीक्षा का स्थान सर्व प्रमुख है।

(७) व्यवसायिक और औद्योगिक विषयों का समावेश न होने से यह राष्ट्र के आर्थिक और व्यवसायिक विकास में सहायक नहीं हो सकती।

पाठ्य क्रम में वही विषय न्याय संगत हैं जो विद्यार्थियों की समझ, उनके विचार-परिष्करण और उनकी आर्थिक-पूर्णता में सहायक हों और जिसे वे प्रसन्नता पूर्वक अपनी बुद्धि का उपयोग करके समझ सकें तथा उनमें यह भावना भी जाग्रत हो कि इससे उनका जीवन विस्तृत होगा। "अन्त में हम कह सकते हैं कि माध्यमिक-शिक्षा की तरह माध्यमिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम का विद्यार्थियों के जीवन से कोई सामंजस्य नहीं है और यह विद्यार्थियों को जीवन के लिए उपयुक्त नहीं बना पाती। इससे उन्हें स्कूल के बाहर संसार का न तो कोई ज्ञान ही प्राप्त होता है, न तो उसके समझने और उसकी कठिनाइयों को शीघ्र हल करने की कोई शक्ति ही पैदा होती है। अतएव पाठ्य-क्रम में सुधार का प्रारम्भिक सिद्धान्त यह होना चाहिये कि पाठशाला के पाठ्य-विषयों और जीवन के विभिन्न अंगों के बीच जो महान खाई है वह कम हो जाय।"

शिक्षा के वर्तमान सिद्धान्तों के अनुसार पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत केवल वही विषय नहीं आते जिन्हें प्राचीन पद्धति के अनुसार कक्षा में पढ़ाया जा सके बल्कि उनके अन्तर्गत वे सब अनुभव भी आते हैं जो विद्यार्थी कक्षा में, पुस्तकालय में, प्रयोगशाला में, वर्कशाप में, खेल के मैदान में तथा शिक्षक के सम्पर्क से अन्य रूप में भी ग्रहण करता है। इस प्रकार स्कूल का सम्पूर्ण जीवन ही पाठ्य-क्रम का रूप ग्रहण कर लेता है जो विद्यार्थी के संयत व्यक्तित्त्व में सहायक होता है।

पाठ्य-क्रम में पर्याप्त विभिन्नता और विस्तार होने की शक्ति होनी चाहिये ताकि लड़कों की विभिन्न रुचियों को पूर्णता मिल सके। पाठ्य-क्रम का सामाजिक जीवन से सजीव सम्बन्ध होना चाहिये ताकि पाठ्य-क्रम के द्वारा बालक को समाज के प्रमुख तत्वों का ज्ञान हो जाय और उसके महत्वपूर्ण घटनाओं से वह भलीभांति परिचित हो जाय। इस सिद्धान्त पर उत्पादक कार्यों का शिक्षा में महत्व पूर्ण स्थान होगा।

पाठ्य-क्रम विद्यार्थी को जीवन के लिये ही तैयार न करे बल्कि उसे किस प्रकार अवकाश बिताना चाहिये इसकेलिये भी तैयार करे।

इसके लिये पाठ्य-क्रम में सामाजिक कार्यों और खेलकूद का भी स्थान होना चाहिये।

पाठ्य-क्रम कई प्रकार के विभिन्न विषयों में इस प्रकार से असम्बन्धित रूप में नहीं बटा होना चाहिये जिससे शिक्षा के वास्तविक तत्व और मूल्य ही नष्ट हो जायें। जहाँ तक सम्भव हो विषय विस्तृत-क्षेत्र की भाँति बालकों के सम्मुख प्रस्तुत किये जायें जो जीवन से पूर्ण रुपेण सम्बन्धित हों। विषयों का परिपादन संकीर्ण और सूचनात्मक नहीं होना चाहिये।

इन सिद्धन्तों को ध्यान में रख कर आयाग ने माध्यमिक विद्यालय के पाठ्य-क्रम निश्चित किये। सब से प्रथम जूनियर माध्यमिक पाठशालाओं का पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया। इस स्तर पर शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है बालकों को साधारणतः सब विषयों का ज्ञान कराना। माध्यमिक पाठशाला किसी विषय में विशेष-दक्षता प्राप्त करने का स्थान नहीं है। इस अवस्था में ज्ञान के प्रमुख एवं विस्तृत क्षेत्रों का परिचय बालक को साधारण रूप में कराया जा सकता है और कराना चाहिये। उपवाक्य, 'साधारणरूप से', इस अवस्था में पाठ्य-क्रम का विस्तार निर्धारित करता है। इस अवस्था में किसी विषय की गहराई पर ध्यान नहीं देना चाहिये बल्कि ज्ञान के प्रमुख क्षेत्रों का जिनसे मानवीय संस्कृति का विकास हुआ है साधारण परिचय करवाना चाहिये। पाठ्य-क्रम में विषय-ज्ञान सम्बन्धी बहुत सी सूचनायें जिन्हें ह्वाइट (Whitehead) हेड महोदय ने ज्ञान के मृतक टुकड़ों से समता दी है, नहीं लादे जाने चाहिये। इसको दृष्टिकोण में रखकर माध्यमिक पाठशालाओं में निम्नलिखित पाठ्य-विषय होना चाहिये:—

जूनियर मिडिल का पाठ्य-क्रम

(१) भाषा :—मातृ-भाषा के साथ साथ हिन्दी भी पढ़ाने का प्रबन्ध होना चाहिये जो भारत की राष्ट्र भाषा है। प्रत्येक स्कूल

में अंतर्राष्ट्रीय भाषा अंगरेजी के भी पढ़ाने का प्रबंध होना चाहिये।

(२) सामाजिक-विषय

(३) साधारण-विज्ञान

(४) गणित

(५) चित्रकला एवं संगीत

(६) हस्तकला

(७) शारीरिक-शिक्षा

माध्यमिक पाठशाला की उच्च कक्षाओं में विषय संकीर्ण रूप से व्यवसायिक न हों बल्कि उनका व्यवसाय की ओर निश्चित झुकाव हो। उच्चतर-माध्यमिक विद्यालयों में पहले कुछ साल तक तो पाठ्य-क्रम साधारण होने चाहिये पर अंतिम वर्षों में यह निश्चित रूप से व्यवसायिक हो जायें क्योंकि इसी अवस्था में बालकों की रुचि में विभिन्नता होती है।

हाई-स्कूल के लिये आयोग ने निम्नलिखित पाठ्यक्रम निश्चित किया है :—

(१) मातृ-भाषा या प्रान्तीय भाषा या मातृ-भाषा और प्राचीन भाषा का एक संयुक्त पाठ्य-क्रम।

निम्नलिखित भाषाओं में कोई एक भाषा जिसे विद्यार्थी चुनेगा:—

(१) हिन्दी जिनकी मातृ-भाषा हिन्दी नहीं है :

(२) प्रारम्भिक अंगरेजी (जिन्हों ने माध्यमिक पाठशालाओं में अंगरेजी नहीं पढ़ी है)

(३) उच्च अंगरेजी (जिन्होंने पहले अंगरेजी पढ़ा है)

(४) एक प्रान्तीय भाषा (हिन्दी को छोड़कर)

(५) एक वर्तमान विदेशी भाषा (अंगरेजी को छोड़कर)

(६) एक प्राचीन भाषा

(ब) सामाजिक ज्ञान :—साधारण पाठ्य-क्रम : पहिले दो साल के लिये।

साधारण विज्ञान एवं गणित : साधारण पाठ्य-क्रम : पहिले दो साल के लिये।

(स) निम्नलिखित कला-कौशल में एक विषय : जो स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार चुने जा सकते हैं :

(१) कताई-बुनाई
(२) काष्ठ-कला
(३) धातु-कला
(४) बागवानी
(५) सिलाई
(६) टापोग्राफी (Topography)
(७) वर्कशाप प्रेक्टिस (Work-shop-practice)
(८) सिलाई, सुई और कढ़ाई का काम।
(९) खिलौने बनाना (Modelling)

(द) निम्न-विभागों में से कोई भी तीन विषय :—

ग्रुप (१) साहित्यिक

(अ) एक प्राचीन भाषा या ग्रुप 'अ' से एक तीसरी भाषा जो विद्यार्थी न पढ़ रहा हो।
(ब) इतिहास
(स) भूगोल
(द) अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र का परिचय।
(य) मनोविज्ञान एवं तर्कशास्त्र का परिचय।
(फ) गणित
(क) संगीत
(ग) गृह विज्ञान

ग्रुप (२) विज्ञान

(अ) भौतिक-शास्त्र
(ब) रसायन-शास्त्र

(स) जीव-विज्ञान
(द) भूगोल
(य) गणित
(फ) शरीर विज्ञान एवं स्वास्थ्य-शास्त्र
जीव विज्ञान के साथ नहीं :

ग्रुप (३) औद्योगिक

(१) प्रायोगिक गणित एवं ज्योमेट्रिकल ड्राइंग
(२) प्रयोगिक-विज्ञान
(३) मैकेनिकल इंजीनियरिंग का परिचय
(४) एलेक्ट्रिक इंजीनियरिंग का परिचय

ग्रुप (४) वाणिज्य

(१) वाणिज्य क्रिया
(२) बुक कीपिंग
(३) वाणिज्य भूगोल या अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र का परिचय
(४) शीघ्र-लिपि एवं टाइपराइटिंग

ग्रुप (५) कृषि

(१) साधारण कृषि-शास्त्र
(२) पशु-पालन
(३) हार्टीकलचर : (Horticulture) : एवं बागवानी
(४) कृषि रसायन एवं वनस्पति-शास्त्र

ग्रुप (६) ललित कला

(१) कला का इतिहास
(२) चित्र सीखना और डिजाइन बनाना
(३) पैंटिंग

(४) माडेलिंग

(५) संगीत

(६) नृत्यकला

अ प (७) गृह-विज्ञान

(१) गृह-अर्थ-शास्त्र

(२) पाक-शास्त्र

(३) मातृ-शिक्षा एवं शिशु-पालन

(४) गृह-प्रबन्ध एवं उपचार

(इ) इसके अलावा कोई विद्यार्थी अपनी स्वेच्छा से किसी भी विभाग से कोई एक विषय पढ़ सकता है

आयोग ने पाठ्य-क्रम के अनुसंधान पर बहुत जोर दिया है और उन्होंने यह सिफारिश की है कि प्रत्येक प्रान्त में एक अनुसंधान विभाग खुलाना चाहिये।

शिक्षण-पद्धति

आयोग ने उचित शिक्षण-पद्धति पर बहुत जोर दिया है। उन्होंने कार्य के द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त को मान्यता दी है क्योंकि इससे जो ज्ञान बालकों को प्राप्त होता है वह व्यवहारिक और स्थाई होता है। इसके अनुसार शिक्षण-पद्धति का मुख्य गुण है बालकों में कार्य के लिये प्रेम उत्पन्न करना और उनमें यह भावना जाग्रत करना कि वे कोई भी कार्य अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण रूप से भली प्रकार करेंगे। शिक्षा के केवल दो ही वास्तविक माध्यम होते हैं—विकसित व्यक्तित्व के साथ सहयोग (चाहे वे माता-पिता मित्र या शिक्षक हों) और दूसरा अच्छे कार्य में पूर्ण हृदय के साथ कार्य-रत होना चाहे वह कार्य मानसिक हो अथवा शारीरिक।

आजकल की शिक्षण-पद्धति की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यह मौखिक है और इसमें शब्द-भण्डार को ही उचित ज्ञान समझ लेते हैं। अतएव आयोग ने यह सिफारिश की है कि शिक्षा पद्धति में वही

तरीके प्रयुक्त होने चाहिये जो ज्ञान एवं सीखने को वास्तविकता प्रदान कर सकें और जिससे जीवन और ज्ञान तथा पाठशाला और समाज में जो खाई है वह विनष्ट हो जाय।

मानसिक क्षेत्र में उचित पद्धति का उद्देश्य यह होना चाहिये कि विद्यार्थियों में उचित-विचार-शक्ति उत्पन्न हो। अंत में उचित शिक्षण-पद्धति से विद्यार्थियों की रुचि में विस्तार होना चाहिये।

इन सिद्धान्तों के आधार पर आयोग ने सिफारिश की है कि बालकों को कार्य के द्वारा पढ़ाना चाहिये। अतएव शिक्षकों को इस बात का ध्यान देना चाहिये कि विद्यार्थी कोई भी ज्ञान व्यक्तिगत कार्य द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त करता है।

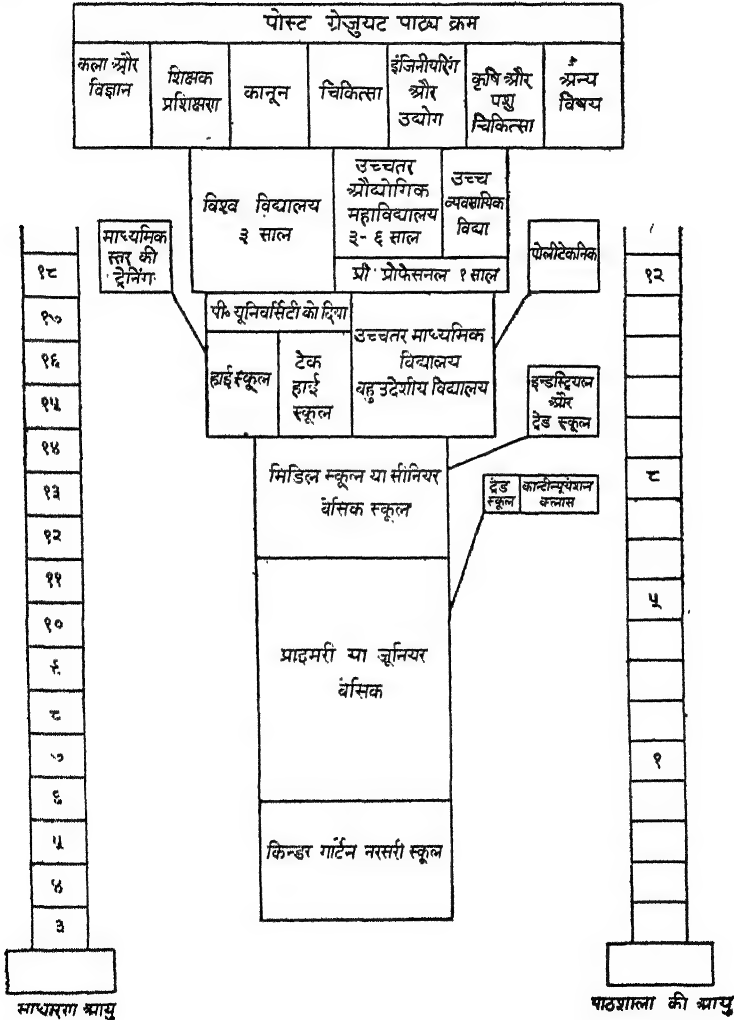
अतएव शिक्षण पद्धति विभिन्न प्रयोजनाओं में बटी हुई होनी चाहिये जो बालकों को कार्य करने का अवसर प्रदान करें।

इसके साथ ही पद्धति विभिन्न बुद्धि-स्तर के बालकों के योग्य हो तथा इसमें सामुदायिक और वैयक्तिक कार्य के लिये पूर्ण अवसर हो एवं उनमें सामंजस्य हो।

इस प्रकार आयोग ने जिन माध्यमिक पाठशालाओं की कल्पना की है उनमें समुचित वातावरण होगा। सहयोगी पाठ्य-क्रम, जिनके अंतर्गत खेल-कूद और समाज-सेवा आदि है भली प्रकार से सुसंगठित रहेंगे। पाठशाला में हस्तकला और उत्पादक कार्यों का उचित सामंजस्य रहेगा। पाठशाला के वाचनालय और पुस्तकालय पाठशाला और समाज दोनों की सेवा करेंगे। शिक्षक समाज-सेवक और पथप्रदर्शक होगा। पाठशाला में स्वतंत्रता का वातावरण होगा जिससे विद्यार्थी और शिक्षक दोनों प्रभावित होंगे। आयोग के शब्दों में, "हम इस बात की कल्पना नहीं करते कि पाठशाला केवल सैद्धांतिक पढ़ाई लिखाई का स्थान है जिसका एक मात्र यही उद्देश्य है कि एक निश्चित खुराक बालकों को पढ़ा दे, बल्कि वह एक संगठित-सजीव-समाज है जिसका प्रमुख कर्त्तव्य यह है कि वह बालकों को जीवन की कला का शिक्षण दें।"

माध्यमिक-शिक्षा और विभिन्न शिक्षण-स्तर का सम्बन्ध निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :—

माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा प्रस्तावित माध्यमिक-शिक्षा-संगठन



अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद्

भारत सरकार ने अभी हाल में ही माध्यमिक शिक्षा का संगठन करने और उसमें एक निश्चित नीति पालन करने के लिये एक अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् (All India Council of Secondary Education) का संगठन किया है।

इस कौंसिल का मुख्य उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा संबन्धी नीति का निर्धारण है। केन्द्रीय सरकार इस कौंसिल की सलाह से अखिल भारत में माध्यमिक शिक्षा के लिये एक संन्तुलित नीति का निर्धारण करेगी ताकि राज्य सरकारें एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार माध्यमिक शिक्षा का विकास कर सकें।



३

विश्वविद्यालयों की शिक्षा

विश्वविद्यालय और समाज

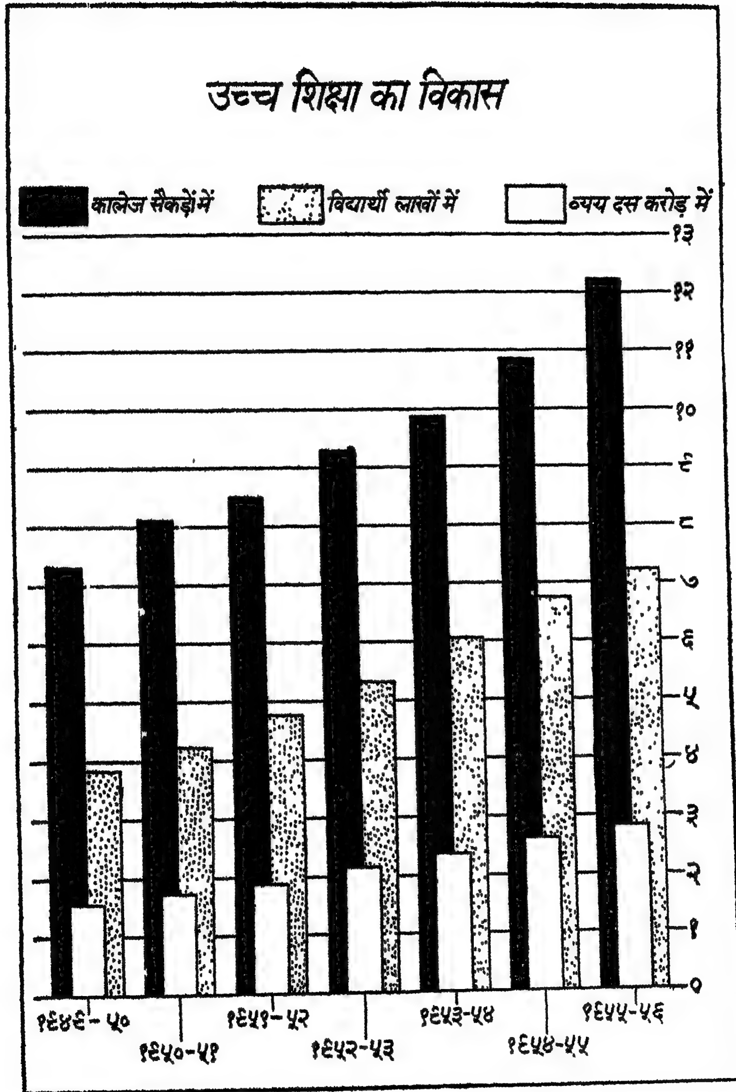
राष्ट्र की प्रगति में विश्वविद्यालयों का महत्वपूर्ण योग रहता है। विश्वविद्यालय सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र एवं समाज के पुनरुत्थान में अग्रणी होते हैं। सामाजिक मूल्यों का निर्माण और उनकी रक्षा करना इनका परम कर्त्तव्य है साथ ही यह राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्र के मार्गदर्शक होते हैं क्योंकि इन्हीं विद्यालयों से निकल कर विद्यार्थी समाज का नेतृत्व करते हैं और उनके हाँथ में सरकार की बागडोर होती है। अतएव प्रत्येक देश विश्वविद्यालयों की शिक्षा के प्रति सजग रहता है। भारतीय-विश्वविद्यालयों के ऊपर तो एक विशेष दायित्व है और वह है सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण। भारतीय-संस्कृति, विश्व-संस्कृतियों के सामंजस्य का केन्द्र रही है और वर्तमान युग में पूर्वीय और पाश्चात्य सांस्कृति के योग से एक नवीन भारतीय संस्कृति का विकास हमारी महान आवश्यकता है। आशा है भारतीय विश्वविद्यालय अपने इस गुरुतर दायित्व को भली-भाँति संभालेंगे। यही नहीं इस नवीन मार्ग-दर्शन से वे विश्व का भी कल्याण कर सकेंगे क्योंकि यही एक मार्ग है जिससे स्थायी विश्व शान्ति स्थापित हो सकेगी।

प्राचीन विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालय अपनी शिक्षा और परम्परा के लिये तत्कालीन सभ्य जगत में प्रख्यात थे और उनमें अध्ययन करने के लिये चीन, जापान, लंका, मिश्र और ग्रीस इत्यादि देशों से विद्यार्थी आते थे। तक्षशिला और नालन्द ऐसे ही जगत विख्यात विश्वविद्यालय थे। इसके अलावा विक्रमशिला, ताम्रलिप्ति, बल्लभी और उज्जैन भी विद्या के प्रमुख केन्द्र थे। इन विश्वविद्यालयों की मुख्य विशेषता यह थी कि विद्यार्थी और शिक्षक एक ही स्थान पर रहते थे और उनके सामूहिक जीवन से स्नातकों पर एक विशेष प्रभाव पड़ता था। सामूहिक-जीवन चरित्र-निर्माण के लिये अति आवश्यक है और उचित वातावरण में अज्ञात रूप से ही स्नातकों पर जो व्यक्तिगत प्रभाव पड़ता है उससे उनको चरित्र-बल प्राप्त होता है। राज्य की ओर से इन विश्वविद्यालयों को पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलती थी जिससे गुरू और शिष्य दोनों आर्थिक बंधनों से मुक्त होकर अपना सम्पूर्ण समय अध्ययन और अध्यापन में व्यतीत करते थे। समाज में शिक्षकों का मान था। सब उनकी पूजा करते थे। अतएव बुद्धिमान लोग शिक्षक-जीवन व्यतीत करना पसन्द करते थे। इन विश्वविद्यालयों का विस्तृत-वर्णन चीनी यात्रियों ने अपने लेखों में किया है। जिससे हमें यह स्पष्ट मालूम होता है कि तत्कालीन भारतीय विश्वविद्याय अपने कार्य और जीवन की महत्ता के कारण तत्कालीन सभ्य समाज के सांस्कृतिक केन्द्र थे।

मध्य युग में उच्च शिक्षा

मध्य काल में मुसलमानों के आक्रमण से बहुत से उच्च शिक्षा के केन्द्र विनष्ट हो गये। कुछ तो आर्थिक सहायता न मिलने के कारण। और कुछ मुसलमान विजेताओं के स्वयं नष्ट करने के कारण बख्तियार खिलजी ने तो १२०६ के लगभग नालन्द और विक्रमशिला के


उच्च शिक्षा का विकास
कालेज सैकड़ों में
विद्यार्थी लाखों में
व्यय दस करोड़ में
१३
१२
११
१०
९
८
७
६
५
४
३
२
१
०
१९४९-५०
१९५०-५१
१९५१-५२
१९५२-५३
१९५३-५४
१९५४-५५
१९५५-५६

विश्वविद्यालय जला दिये थे। परन्तु मुसलमानों के भारत में बस जाने के कारण अवस्था बदल गई। कुछ समय पश्चात् भारतीय संस्कृति के प्राचीन स्थान पुनः जीवित हो उठे। पर आर्थिक सहायता के अभाव के कारण उनका स्थान वैयक्तिक हो गया। अब व्यक्तिगत विद्वानों की महत्ता से आकृष्ट होकर विद्यार्थी उनके पास जाते और विद्या अध्ययन करते थे। मुसलमान बादशाहों ने उर्दू और फारसी की शिक्षा को आर्थिक सहायता दी। फलस्वरूप मुसलमानी शिक्षा के केन्द्र भी मध्य-युग में विकसित हो गये। ऐसे स्थानों में लखनऊ, जौनपुर, दिल्ली और हैदराबाद आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी में मुसलमान साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। उसके स्थान पर छोटे-छोटे भारतीय राज्य हो गये जिनका पारस्परिक सम्बन्ध कटु था। आपस में अक्सर लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। समाज में शान्ति नहीं थी। अतएव अट्ठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में भारत में उच्च शिक्षा का ह्रास हो रहा था फिर भी वैदिक काल की उच्च परम्परा जीवित थी और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जिन शिक्षा-शास्त्रियों ने भारतीय शिक्षा का सर्वे किया है उनका मत है कि तत्कालीन भारतीय समाज में शिक्षा की एक जीवित रूपरेखा मौजूद थी और सौ साल के बाद महात्मा गाँधी ने अपनी यह निश्चित धारणा व्यक्त की थी कि इतने समय के ब्रिटिश शासन के बाद भारत में प्राचीन काल की अपेक्षा अधिक निरक्षरता है।

वर्तमान विश्वविद्यालयों का जन्म

भारतवर्ष में वर्तमान रूप में विश्वविद्यालयों का प्रारम्भ १८५४ में वुड के आज्ञा पत्र (Wood's-Dispatch 1854) के द्वारा हुआ। इसके आधार पर १८५७ में सर्वप्रथम तीन विश्वविद्यालय, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में खोले गये। हालाँकि इसके पहिले भी सरकार ने उच्च शिक्षा की व्यवस्था की थी और सरकारी सहायता से कलकत्ता, मद्रास और बनारस-संस्कृत-कालेज की स्थापना हो गयी थी पर

इन विद्यालयों का संगठन विशेष रूप से प्राचीन संस्कृत और मुसलमान शिक्षण संस्थाओं पर निर्भर था और उनमें वर्तमान विज्ञान और कला के शिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। उडस के आज्ञा पत्र से भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में जो विवाद थे, वे निश्चित रूप से अंतिम बार तय हो गये और नवीन विश्वविद्यालयों में पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान का पठन-पाठन पश्चिमी पद्धति के द्वारा प्रारम्भ हुआ।

१८५७ में इन तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना तत्कालीन लन्दन-विश्वविद्यालय के ढाँचे पर की गई हाँलाकि १८५८ में लन्दन-विश्वविद्यालय का पुनर्गठन किया गया जिसके अनुसार उसके सम्बन्धक क्षेत्र में परिवर्तन कर दिया गया। मुख्य-उद्देश्य की भूमिका के अनुसार इन विश्वविद्यालयों का कार्य परीक्षा के द्वारा यह निश्चित करना था कि विद्यार्थियों को विभिन्न विषयों का जिसका उन्होंने अध्ययन किया है, पर्याप्त योग्यता है और उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें प्रमाण पत्र देना था। इसके अलावा विधान में प्रथम कुलपति, उप-कुलपति और अन्य सदस्यों की व्यवस्था की गई थी। इसके द्वारा राज्यपाल, और उप-कुलपति, के अलावा सदस्यों की संख्या २६ से कम न होनी चाहिये यह निश्चित किया गया। इसमें दो तरह के सदस्य थे। एक तो एक्स-आफिसियो (Ex-officio) सदस्य थे जिसमें हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश, विशप, राज्यपाल की कार्यकारिणी के सदस्य, शिक्षा-संचालक, प्रमुख-शिक्षा-निरीक्षक और सम्पूर्ण राजकीय-महाविद्यालयों के प्रधानाचार्य थे। दूसरे साधारण सदस्य थे जिन्हें सरकार अपनी आज्ञा से नियुक्त करती थी और उनका कार्य काल उनके जीवन पर्यन्त था। उनकी सदस्यता तभी समाप्त होती थी जब या तो वे भारत से चले जाँय या उनकी मृत्यु हो जाय। विश्वविद्यालय के 'सिनेट' में कुलपति, उप-कुलपति और फेलोज आते थे।

विश्वविद्यालयों के अधिनियम में दोष

विश्वविद्यालय के इस विधान में निम्नलिखित दोष थे :—

(१) इसमें फेलोज (Fellows) की संख्या निश्चित नहीं की गई थी जिससे उनकी संख्या बराबर बढ़ती गई।

(२) इसमें विश्वविद्यलय की कार्य-कारिणी या सिन्डिकेट का प्राव-धान नहीं था। सिनेट ने कार्य कारिणी की व्यवस्था अपने एक प्रस्ताव के द्वारा कर ली पर अधिनियम में इसकी व्यव-स्था नहीं थी।

(३) विश्वविद्यालयों का प्रमुख कार्य परीक्षा लेना और प्रमाण पत्र देना ही था। इनका स्वरूप सम्बन्धक था जिसे एक साल बाद स्वयं लंदन-विश्वविद्यालय ने अनुपयुक्त कहकर छोड़ दिया। अतएव बहुत समय तक इन विश्वविद्यालयों में पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी।

विश्वविद्यालयों के अधिनियम में यह निश्चित रूप से दिया गया था कि विश्वविद्यालय किन-किन परीक्षाओं की व्यवस्था करें। अतएव १८६० में विश्वविद्यालयों का यह नियम बना कि विश्वविद्यालय उन प्रमाण पत्रों अथवा डिग्री की व्यवस्था कर सकते हैं जिनके लिए वे नियम बना लें। १८८४ में भारतीय विश्वविद्यालयों को आनरेरी-डिग्री, प्रदान करने का नियम बनाया गया जिसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालय आनरेरी एल एल० डी० की उपाधि दे सकते थे।

सम्बन्धक विश्वविद्यालय

१८८२ में एक अधिनियम पास करके पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अगले बीस वर्षों में यही पाँच विश्वविद्यालय भारतवर्ष में विश्व-विद्यालयों के शिक्षा की व्यवस्था करते आये। इनका स्वरूप प्रमुख रूप से सम्बन्धक (Affiliating) था और शिक्षा का माध्मम अंगरेजी भाषा थी। परीक्षा लेना इनका एक मात्र कार्य था अतएव अनुसंधान का कोई भी कार्य यह नहीं कर पाये। माध्यम अंगरेजी होने के कारण

मातृभाषा का भी विकास नहीं हो पाया जो वर्तमान काल की महान कमी है।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा-प्रसार

अगले बीस वर्षों में विश्वविद्यालयों की शिक्षा का प्रमुख रूप से प्रसार हुआ क्योंकि इन विद्यालयों से जो ग्रेजुयेट निकलते थे उन्हें शीघ्र ही सरकारी दफ़्तरों में नौकरी मिल जाती थी। उच्च शिक्षा-प्रसार निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट है :—

	१८५७	१८८२	१६०२
१—उच्च-शिक्षालयों की संख्या	२७	७२	१६१
२—विद्यार्थियों की संख्या	...	...	२३००६

भारतीय नेता और उच्च-शिक्षा

शिक्षा के इस प्रसार में भारतीय-नेताओं और समाज-सुधारकों का भी योग था। १८८२ के शिक्षण-आयोग से सरकारी नीति में परिवर्तन हो गया और सरकार ने जनता के विद्यालयों को आर्थिक योग देकर ही माध्यमिक और उच्च-शिक्षा का प्रसार करने का निर्णय किया। अतएव भारतीय नेताओं ने उच्च-शिक्षा के प्रसार का पूर्ण समर्थन किया क्योंकि उनका विश्वास था कि अंगरेजी शिक्षा के प्रसार से ही भारतीय समाज का पुर्नजागरण सम्भव है। गोखले ने अपने एक भाषण में कहा था, "मेरी समझ में वर्तमान काल में पश्चिमी शिक्षा का उद्देश्य भारत में ज्ञान का प्रसार नहीं है बल्कि भारतीयों को पुराने विचारों से छुटकारा दिलाकर उनके मस्तिष्क को उदार बनाना है जिससे ये पश्चिमी सभ्यता के गुणों को अपना सकें। इस उद्देश्य

के लिये न केवल उच्च-शिक्षा बल्कि सब प्रकार की पश्चिमी शिक्षा लाभ-प्रद है।"

शिक्षा-प्रसार के कारण शिक्षा-संगठन में कुछ दोष आ गये जिन्हें कलकत्ता-विश्वविद्यालय-आयोग ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया :—

१८८२ के २० वर्ष बाद तक शिक्षा का प्रमुख स्वरूप नवीन महा-विद्यालयों का खुलना था जिनकी आय का प्रमुख जरिया विद्यार्थियों की फीस थी। अतएव ऐसी संस्थाएँ केवल परीक्षा पास करने मात्र का साधन थीं, वे ज्ञान के विस्तार की संस्थाएँ नहीं हो सकती थीं।

इन महाविद्यालयों ने भारतीय भाषाओं का विकास नहीं किया और न तो औद्योगिक और व्यवसायिक विषय ही पाठ्य-क्रम में खोले, जिससे शिक्षा का प्रसार एकांगी रहा, जिसका कटु प्रभाव आगे स्पष्ट हो गया। पर शिक्षा-प्रसार से भारतीय समाज में जागृति अवश्य आ गई जिससे समाज सुधार सम्भव हो सका। इस शिक्षा के निम्न प्रभाव पड़े :—

(१) सामाजिक और धार्मिक बन्धन ढीले पड़ गये।
(२) राजनैतिक जागृति सम्भव हो सकी। भारतीय वातावरण में राजनैतिक सुधार की माँग तीव्रतर होती गई।
(३) पश्चिमी देशों की पूर्वी-साहित्य और दर्शन के प्रति जो भावना थी उसमें परिवर्तन हो गया और उन्हें यह ज्ञात हो गया कि पूर्वीय साहित्य और ज्ञान पश्चिम के साहित्य से कम नहीं है। इन्हीं दिनों सर विलियम जोन्स ने कालिदास के शकुन्तला नाटक का अनुवाद किया और मैक्समुलर ने उप-निषदों का।
(४) प्रेस और अखबारों के द्वारा साहित्य और ज्ञान का प्रसार हुआ और इसके लिये वातावरण तैयार होने लगा कि पश्चिमी और पूर्वी साहित्य का सामंजस्य हो सके।

कर्ज़न के सुधार

१६०२ तक विश्वविद्यालयों के शिक्षा-क्रम में दोष स्पष्ट हो गये थे और उसमें सुधार आवश्यक था। अतएव लार्ड कर्जन ने भारतीय विश्वविद्यालयों के सुधार के लिये २७ जनवरी सन् १६०२ ई० को एक आयोग की स्थापना की। आयोग ने उसी साल अपनी रिपोर्ट दे दी। आयोग ने पुनः लन्दन विश्वविद्यालय को जिसका पुनर्गठन १८६८ में किया गया था, आदर्श बनाया। आयोग के दो उद्देश्य थे:—

(१) विश्वविद्यालय के ऐसे संगठन के विषय में सिफारिश करना जिसका विकास भारतवर्ष में किया जा सके।

(२) ऐसे उपाय बतलाना जिनके द्वारा प्रस्तावित उद्देश्य की पूर्ति की जा सके।

इन उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर आयोग ने अपनी सिफारिश की, जिसके आधार पर १६०४ का भारतीय विश्वविद्यालय-नियम (Indian University Act) बना। आयोग की सिफारिशें निम्न विषयों से सम्बन्ध रखती हैं।

(१) विश्वविद्यालयों के शासन का पुनर्गठन।

(२) सम्बन्धित महाविद्यालयों का विश्वविद्यालय द्वारा समय-समय पर निरीक्षण एवं सम्बन्धक नियमों को और कठिन बना देना।

(३) विद्यार्थियों के निवास-स्थान और उनके कार्य-विधि पर अधिक ध्यान देना।

(४) विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षण कार्य का कुछ क्षेत्र में संचालन एवं शोध।

(५) पठ्य-क्रम एवं परीक्षण-पद्धति में पर्याप्त परिवर्तन।

अतएव १६०४ के विश्वविद्यालय नियम द्वारा सर्व प्रथम विश्वविद्यालयों को विद्यार्थियों की शिक्षण-पद्धति, उनके निवास पुस्तकालय, प्रयोगशाला और अजायब घर आदि के विषयों में नियम बनाने का अधिकार मिल गया।

(२) विश्वविद्यालय के फेलोज की संख्या कम से कम ५० और अधिक से अधिक १०० कर दी गई। इनके कार्य-काल की अवधि सिर्फ ५ साल रक्खी गई। विश्वविद्यालय की मीटिंग में भाग लेने के लिये भत्ते आदि का अनुदान में व्यवधान कर दिया गया।

(३) इस नियम के द्वारा सर्व प्रथम विश्वविद्यालयों में चुनाव-पद्धति प्रारम्भ की गई। इसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालय में २०, तथा इलाहाबाद और पंजाब विश्वविद्यालय में १५ फेलोज का चुनाव प्रारम्भ हुआ।

(४) इसके अनुसार विश्व-विद्यालय की कार्य-कारिणी 'सिन्डीकेट' को नियमित स्वरूप दे दिया गया तथा इसमें विश्वविद्यालय के अध्यापकों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

(५) सम्बन्धित महाविद्यालयों के निरीक्षण-नियम और कठोर बना दिये गये और सिन्डीकेट को उनके निरीक्षण आदि के अधिकार दे दिये गये।

(६) सरकार को यह अधिकार मिल गया कि वह सिनेट द्वारा बनाये गये नियमों में परिवर्तन या संशोधन करा सके या आवश्यकता पड़ने पर अपनी ओर से भी नियम बना सके।

(७) इस नियम के द्वारा गवर्नर जनरल ने प्रत्येक विश्व-विद्यालय का क्षेत्र निर्धारित कर दिया।

भारतीय क्षेत्रों में इस नियम का सर्व प्रथम तीव्र विरोध किया गया। उनका विश्वास था कि सरकार सम्बन्धक-नियमों को कठोर बनाकर भारतीय शिक्षा-प्रसार में बाधा उपस्थित करना चाहती है। फेलोज की संख्या में कमी कर देने से तथा उसमें चुनाव का नियम बना देने से सरकार विदेशी अफसरों की संख्या युनीवर्सिटी में बढ़ाना चाहती है। उनका विश्वास था कि फेलोज की जो संख्या चुनाव के लिये निश्चित की गई है वह बहुत कम है। उनकी यह संख्या और बढ़ाई जानी चाहिये।

सुधार का प्रभाव

वस्तुतः इस नियम का सम्बन्ध विशेष रूप से शासन से था। इसके द्वारा विश्वविद्यालयों के सिनेट में फैलोज की संख्या कम हो गई जिससे उनके कार्य-पद्धति में सुगमता आ गई। विश्वविद्यालयों के शिक्षा-प्रसार में कमी नहीं हुई क्योंकि जनता में शिक्षा-प्रेम बढ़ रहा था। अतएव प्रसार की गति वैसी ही बनी रही। सरकारी सहायता के कारण विद्यालयों की आर्थिक अवस्था में सुधार हो गया। कुछ विद्यालय जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी, वे बन्द हो गये। पर इसका प्रभाव अच्छा रहा।

सरकार विश्वविद्यालयों में सुधार चाहती थी जिसके लिये आर्थिक सहायता आवश्यक थी। अतएव यह निश्चय किया गया कि भारत सरकार ५ साल तक ५ लाख रुपया विश्वविद्यालयों की शिक्षा के लिये देगी। २५ लाख रुपये के अनुदान में ११½ लाख विश्वविद्यालयों को और १३½ प्रान्तीय महाविद्यालयों को दिये गये। इस अनुदान की प्रथम किस्त १९०४-०५ में दी गई जिससे विद्यालयों की अवस्था में सुधार हुआ। इससे सरकारी सहायता का प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर यह सहायता प्रतिवर्ष दी जाने लगी।

जिस प्रकार इस नियम का संचालन हुआ उससे अवस्था में सुधार अवश्य हुआ और भारतीय नेताओं की यह धारणा कि सरकार या सरकारी अफसर इसमें अधिक हस्तक्षेप करेंगे, गलत साबित हुई। फिर भी सरकारी-नियन्त्रण आवश्यकता से अधिक बढ़ गया। जिससे सैडलर कमीशन ने भारतीय विश्वविद्यालयों के विषय में कहा था कि, 'यह संसार के सबसे अधिक राजकीय-विश्वविद्यालय हैं'।

१९१३ का प्रस्ताव

१९०४-१३ तक का समय विश्व-विद्यालयों के इतिहास में अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीकाल में ब्रिटिश विश्वविद्यालयों के विषय में इंगलैंड

में अधिक वाद-विवाद हुए। उनके संगठन एवं शासन के विषय में आलोचनाएँ हुईं और अंत में यह निश्चित हुआ कि सम्बन्धक विश्व-विद्यालय, उच्च शिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं हैं, इसके लिये शैक्षणिक-विश्वविद्यालय ही ठीक होते हैं। अतएव सारे ब्रिटिश विश्वविद्यालयों का पुनर्गठन किया गया। इसका प्रभाव भारतीय विश्वविद्यालयों पर भी पड़ा। अतएव सन् १६१३ में शिक्षण नीति पर जो प्रस्ताव पास हुआ उसमें यह निश्चिय किया गया कि प्रत्येक प्रान्त के लिए एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय। विश्वविद्यालय में शिक्षण-संगठन को प्रोत्साहन दिया जाय तथा जो महाविद्यालय अन्य क्षेत्रों में स्थित हैं उन्हें इस प्रकार की सहायता दी जाय कि आगे चल कर वे विश्व-विद्यालयों के रूप में विकसित हो जाँय।

कलकत्ता-विश्वविद्यालय-आयोग

१६१७ में विश्वविद्यालयों के इतिहास में एक प्रमुख घटना हुई। इस वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय के संगठन एवं उसके कार्यों के अवलोकन के लिये एक आयोग की स्थापना हुई। इसे सैडलर कमीशन कहते हैं क्योंकि इसके सभापति सर माइकल सैडलर थे जो उस समय लीड्स विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे। इस आयोग ने तत्कालीन शिक्षा पर पूर्ण चिन्तन किया और इसकी कुछ सिफारशे ऐसी हैं जिन्हें अन्य प्रान्तों ने भी स्वीकार किया। इस कमीशन ने निम्नलिखित सिफारिशें की :—

(१) इन्टरमीडियेट की शिक्षा के लिये इन्टरमीडियेट कालेज और उनके शासन के लिये इन्टरमीडियेट बोर्ड की स्थापना की जाय। विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिये निम्नतम योग्यता एफ० ए० हो।

(२) नये विश्वविद्यालयों में शिक्षण तथा उनका संगठन एकात्मक हो।

(३) विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण की कमी होनी चाहिये ताकि वे स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकें।

(४) आनर्स-कोर्स पास-कोर्स से भिन्न हो।

(५) विश्वविद्यालयों में अध्यापकों का चुनाव एक उप समिति के द्वारा हो जिसमें विषय के विशेषज्ञ भी हों। प्रोफेसरों और रीडरों के चुनाव में विशेष सावधानी की जरूरत है।

(६) एक सेवा-आयोग की स्थापना की जाय जो विभिन्न सरकारी सेवाओं के लिये निम्नतम-योग्यता निर्धारित करें और योग्य उम्मीदवारों की परीक्षा लें।

(७) विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिये एक स्वास्थ्य-संचालक की नियुक्ति की जाय।

(८) प्रत्येक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का एक विषय खोला जाय तथा विभिन्न श्रेणियों में उसके शिक्षण की व्यवस्था की जाय।

(९) अध्यापकों के कार्य एवं सेवा की अवस्थाओं के लिये एक उप-समिति की स्थापना की जाय जो अध्यापकों के चारित्रिक सम्बन्ध में भी सिफारिश करे।

(१०) प्राच्य भाषाओं की शिक्षण देने वाली संस्थाओं और विश्व-विद्यालयों के साथ एक सजीव संबंध स्थापित किया जाय ताकि उन भाषाओं में यथा विधि शिक्षा और अनुसंधान हो सके।

(११) विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषा की शिक्षा के लिए प्रोफे-सर नियुक्त किये जायँ तथा बी० ए० की परीक्षा में भारतीय भाषाएँ भी शामिल की जायँ।

(१२) विभिन्न स्थानीय आश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विश्वविद्यालयों में व्यवसायिक और औद्योगिक पाठ्य-क्रम स्थापित किये जायँ।

(१३) भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए समय-समय पर विश्वविद्यालय के अधिकारियों की कानफ्रेंन्स हुआ करे।

१६१३ के शिक्षा प्रस्ताव एवं कलकत्ता विश्वविद्यालयों की सिफारिशों का सम्मिलित प्रभाव यह पड़ा कि विभिन्न प्रान्तीय विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

प्रान्तीय विश्वविद्यालय

मैसूर (१६१६) बनारस (१६१६) पटना (१६१७) अलीगढ़ (१६२०) ढाका (१६२०) लखनऊ (१६२०) दिल्ली (१६२२) नागपुर (१६२३) अनामलाई (१६२६) उसमानियाँ (१६१८)।

भारत सरकार ने विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता देने की नीति-कायम रक्खी। १६११-१२ में १६ लाख रुपये का निश्चित और २ लाख ५५ हजार रुपये का वार्षिक अनुदान विश्वविद्यालयों को मिला। १६१२-१७ के बीच में भारत सरकार ने आर्थिक सहायता की नीति कायम रक्खी और यह आर्थिक सहायता ४३ लाख रुपये तक पहुँच गई।

इस युग में विश्वविद्यालयों की शिक्षा में प्रगति निरन्तर जारी रही। नवीन महाविद्यालय भी खोले गये और विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। १६२१-२२ में भारतवर्ष में विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या कुल ५४, ४७३ थी। इस सख्या से विदित होता है कि इन महाविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या में २०० प्रतिशत वृद्धि हुई है।

अधिकांश साहित्यिक एवं साधारण पाठ्य-क्रम के विद्यार्थी थे और उनका एक मात्र ध्येय था सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करना। पर १६२१ में शिक्षित-व्यक्तियों में बेकारी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रही थी, विद्यार्थियों को औद्योगिक और व्यवसायिक पाठ्य-क्रम उपलब्ध नहीं थे। शिक्षित-बेकारी शिक्षा का प्रमुख अवगुण है।

शिक्षा विशेष-खर्चीली हो गई थी।

उच्च-शिक्षा पर प्राथमिक शिक्षा की अपेक्षा अधिक व्यय हो रहा था। पाठ्य-क्रम साहित्यिक होने के कारण यह शिक्षा औद्योगिक विकास

के लिये अनुपयुक्त थी। कलकत्ता-विश्वविद्यालय आयोग ने सरकार की दृष्टि इस ओर आकर्षित की। उन्होंने लिखा कि बंगाल और इंग्लैंड दोनों में सन् १९१७ में २६ हजार विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इङ्गलैंड की इस संख्या में विदेशी विद्यार्थी और व्यवसायिक कोर्स के भी विद्यार्थी शामिल हैं। इंग्लैंड में बंगाल की अपेक्षा शिक्षितों की संख्या दस गुना अधिक है। अतएव बंगाल में शिक्षा केवल दस प्रतिशत होने के कारण, बंगाल में इंग्लैंड की अपेक्षा दस गुने अधिक विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

इस प्रकार उच्च शिक्षा खर्चीली और समाजिक आवश्यकताओं के प्रतिकूल हो चली थी और इसमें सुधार आवश्यक था।

अन्तः विश्वविद्यालय बोर्ड

विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्यों में सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक था। इसकी आवश्यकता कलकत्ता-विश्वविद्यालय आयोग ने भी प्रकट की थी। १९२१ में इम्पीरियल यूनीवर्सिटी कान्फरेन्स में भी ऐसी आवश्यकता प्रकट की गई। अतएव १९२४ ई० में सर्व प्रथम भारतीय विश्वविद्यालयों की शिमला में कान्फरेन्स हुई और उसमें एक अन्तर-विश्वविद्यालय-बोर्ड (Inter University Board) की स्थापना की गई। इस बोर्ड में सब विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि हैं और यह बोर्ड १९२५ से लगातार अपनी बैठक करता है।

प्रान्तीय प्रयत्न

१९२१ के सुधार के द्वारा शिक्षा प्रान्तीय विषय हो गई और प्रान्तीय मंत्रियों के हाथ में आ गई। तब से इसमें सुधार प्रारम्भ हुये। फिर भी विश्वविद्यालयों की शिक्षा का प्रसार होता रहा। विश्व-विद्यालयों में औद्योगिक विषय खोले गये। भारतीय भाषाओं को स्थान मिला। विद्यार्थियों के लिये होस्टल आदि का प्रबन्ध किया गया। पर यह सुधार बढ़ती हुई भारतीय आवश्यकताओं के लिये नगण्य थे।

तीय विश्वविद्यालयों में २४१,७६४ विद्यार्थी थे। इसमें पाकिस्तान की संख्या शामिल नहीं है।

कुछ लोगों का विचार था कि भारतवर्ष में विश्वविद्यालय में शिक्षित विद्यार्थियों का अनुपात यहाँ की जन संख्या से अधिक है। इस पर सार्जेन्ट कमेटी ने निम्न विचार प्रकट किये हैं जो भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के भी मत है :—

"अगर विश्वविद्यालय में शिक्षित विद्यार्थियों का अनुपात भारत की पूर्ण जनसंख्या से लगाया जाय तो मालूम होगा कि भारत संसार के प्रमुख देशों में सब से पिछड़ा हुआ है। युद्ध के पहिले जर्मनी में विश्वविद्यालयों के शिक्षित विद्यार्थियों और जनता का अनुपात ६६० में एक का था, ब्रिटेन में ८३७ में १ संयक्त राष्ट्र में २२५ में १ रूस में ३०० में १ और भारतवर्ष में २,२०६ में एक का था।"

"४करोड़ दस लाख व्यक्तियों के लिये ब्रिटेन में १२ विश्वविद्यालय हैं, साढे आठ करोड़ व्यक्तियों के लिये कनाडा में १३, १३ करोड़ जनता के लिये विश्वविद्यालय के स्तर की शिक्षा देने वाली १,७२० संस्थायें संयुक्त राष्ट्र में है। पर भारतवर्ष में ४० करोड़ जनता के लिये केवल १८ विश्वविद्यालय हैं। इन सब से यह सिद्ध होता है कि जब भारतवर्ष में उचित प्रकार के शिक्षा की व्यवस्था हो जायगी तो भारत में और विश्वविद्यालयों की आवश्यकता पड़ेगी।"

अतएव भारतीय उच्च शिक्षा में दोनों प्रकार के दोष मौजूद हैं, एक ओर तो इसमें ऐसे विद्यार्थी प्रविष्ट हो जाते हैं जो उच्च शिक्षा के लिये बिलकुल अनुपयुक्त हैं और दूसरी ओर योग्य विद्यार्थियों को व्यय की अधिकता के कारण प्रवेश ही नहीं मिल पाता। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् सामाजिक असमानता से उत्पन्न विभिन्नता एवं व्यर्थ की बर-बादी की ओर सबका ध्यान आकर्षित हो गया है, और सब इसमें सुधार तथा सब को योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का अवसर देने की चेष्टा में, शिक्षा-क्रम में सुधार करना चाहते हैं।

सन् १६३७ ई० के उपरान्त भारतवर्ष में निम्नलिखित विश्वविद्यालय खुले:—

(१) ट्रावनकोर १६३७ (२) उत्कल १६४३ (३) सिन्ध १६४७ (४) राजपूताना १६४७ (५) पूर्वी पंजाब १६४७ (६) सागर १६४७ (७) गौहाटी १६४७ (८) पूना १६४७ (६) रूड़की इंन्जीनियरिंग १६४८ (१०) काश्मीर १६४८ (११) बढ़ौदा १६४६ (१२) गोरखपुर १६६७ (१३) विहार १६५७।

अब यह देख लेना चाहिये कि भारतीय विश्वविद्यालयों में क्या-क्या दोष आ गये हैं:—

विश्वविद्यालयों की शिक्षा में दोष

(१) अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालयों में साहित्यिक और मानवीय पाठ्य-क्रम का बाहुल्य है। देश में व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा देने वाले उच्च-विद्यालयों की कमी होने के कारण अधिकांश विद्यार्थी एक ही प्रकार का पाठ्य-क्रम लेते हैं अतएव पाठ्य-क्रम में योग्यता और रूचि का कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

(२) शिक्षा का उत्तरोत्तर प्रसार हो गया है। अतएव प्रतिवर्ष अधिकांश संख्या में विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में केंद्रित हो जाते हैं। अतएव विश्वविद्यालयों में बढ़ती हुई विद्यार्थियों की संख्या और अध्यापकों में कोई अनुपात नहीं रह गया है। फलतः विद्यार्थियों और शिक्षकों में कोई व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं स्थापित हो पाता। अतएव शिक्षा प्रभावशाली नहीं बन पाती तथा विद्यार्थियों में चरित्र भी नहीं उत्पन्न हो पाता।

(३) वर्तमान भारतीय-शिक्षा का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव शिक्षा के बाद क्या होगा इसकी भयावह कल्पना से युवक घबड़ा जाता है। आजकल जो अनुशासन-हीनता विश्वविद्यालयों में फैली है उनके पीछे यही दो कारण प्रमुख हैं—

शिक्षा और जीवन का सामंज्जस्य न होना तथा शिक्षार्थी और शिक्षक का पारस्परिक सम्पर्क न होना।

(४) जैसा पहिले कहा जा चुका है वर्तमान शिक्षा अधिक खर्चीली है अतएव एक ओर तो अयोग्य विद्यार्थी जिसके पास पैसा है विद्यालयों में अपना समय नष्ट करते हैं दूसरी ओर योग्य विद्यार्थी धन की कमी के कारण विश्व-विद्यालय में जा ही नहीं सकते। अतएव दोनों प्रकार से राष्ट्रीय क्षति होती है।

(५) विश्वविद्यालयों में अनुसंधान की कमी है। उसके लिये न तो सुविधा ही है और न योग्य विद्यार्थी ही प्राप्त होते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि गत १० वर्षों में भारतवर्ष में लगभग २६० विद्यार्थियों को ६ विज्ञान विषयों पर खोज सम्बंधी डिग्री मिली। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रतिवर्ष प्रायः २६ विद्यार्थी अनुसंधान के काम में लगे रहे। जब कि १६३५ में अकेले केम्ब्रिज में केवल ४०० विद्यार्थी विज्ञान के अनुसंधान में लगे रहे।

(६) विद्यार्थियों के रहने और स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर विश्वविद्यालयों का अधिक ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। फल स्वरूप बहुत से विद्यार्थी अस्वस्थ स्थानों में रहते हैं।

(७) भारतीय-विश्वविद्यालयों में परीक्षा प्रधान हो रही है। जिसका असर नवयुवकों पर सबसे अधिक पड़ता है। भारतवर्ष में वार्षिक परीक्षाओं में फेल होने वाले नवयुवकों की संख्या संसार के सब देशों की अपेक्षा अधिक है। अतएव इनकी परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन करने की सब से अधिक आवश्यकता है।

(८) विश्वविद्यालयों का माध्यमिक विद्यालयों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा एकांगी होने के कारण माध्यमिक विद्यालय अपने विद्यार्थियों को इस दृष्टि से तैयार करते हैं कि वे विश्वविद्यालयों में प्रवेश पा जाँय। जिससे माध्यमिक शिक्षा एक निश्चित नीति नहीं अपना सकती।

(९) भारत की आवश्यकता औद्योगिक है विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा की नितान्त कमी है।

(१०) भारतीय विद्यालयों में किसी प्रकार के नैतिक शिक्षा की भी नितान्त कमी है। विश्व-विद्यालय शिक्षा-आयोग ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है।

विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना

अगस्त १९४७ में भारत स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्र भारत की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा नहीं है। अतएव इसमें सुधार आवश्यक था। इसको दृष्टि में रखकर केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-बोर्ड तथा अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड दोनों ने यह प्रस्ताव पास किया कि एक अखिल भारतीय विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की स्थापना की जाय जो विश्वविद्यालय-शिक्षा के प्रत्येक पहलू पर विचार कर इसमें सुधार करने की सिफारिश करे।

श्री राधाकृष्णन सभापति

सरकार ने यह प्रस्ताव मान लिया और नवम्बर, ४८ में सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में भारतीय-विश्वविद्यालय-शिक्षा आयोग की स्थापना की गई। इसके अन्य प्रमुख सदस्य डा० ताराचन्द, सरजेम्स डफ, डरहम विश्वविद्यालय के उपकुलपति, डा० जाकिर हुसेन, डा० आर्थर इ०मारगन (अमेरिका) डा० लक्ष्मी स्वामी मुदैलियर, डा० मेघनाथ साहा, डा० जान टिजर्ट (अमेरिका के भूतपूर्व शिक्षा कमिश्नर) इत्यादि थे। २५ अगस्त १९४९ को आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

जांच का क्षेत्र

कमीशन का जाँच क्षेत्र बहुत विशाल था। उसमें वर्तमान भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को देखते हुये, विश्वविद्यालय की

शिक्षा का उद्देश्य, विश्वविद्यालयों का संगठन एवं प्रशासन, आर्थिक समस्या, शिक्षकों की समस्या, पाठ्यक्रम, शिक्षा का माध्यम, विद्यार्थियों की अवस्था; स्वास्थ्य तथा अनुशासन आदि सभी विषय सम्मिलित थे। इस कमीशन का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत था और अब तक जितने कमीशन स्थापित हुये थे उन सब में इसके अधिकार भी अधिक थे। इस विश्वविद्यालय कमीशन की रिपोर्ट अधिक पूर्ण, व्यापक और श्रेष्ठ है तथा इसकी सिफारिशें अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सिफारिशें

कमीशन ने अठारह अध्यायों तथा ७४७ पृष्ठों में अपनी रिपोर्ट का प्रथम भाग प्रस्तुत किया है। इसमें भारतीय संविधान की पृष्ठ-भूमि में शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षकों की अवस्था, प्रशिक्षण, अनुसंधान, व्यवसायिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, शिक्षा का माध्यम, परीक्षा प्रणाली, विद्यार्थियों की समस्यायें, स्त्री-शिक्षा, संगठन, वित्त, केन्द्रीय तथा अन्य विश्वविद्यालय, और अंत में ग्राम विश्वविद्यालयों के विषय में सिफारिशें प्रस्तुत की हैं। आयोग की कुछ प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं:—

(१) शिक्षकों की समस्या:—कमीशन की राय में शिक्षकों की समस्या प्रमुख है और जब तक उनका स्तर और आय बढ़ाई न जायगी तब तक सुधार सम्भव नहीं। कमीशन ने अध्यापकों को चार श्रेणी में विभक्त किया है—प्रोफेसर, रीडर, लेक्चरर, तथा इन्स्ट्रक्टर। इसके अलावा खोज के लिये अनुसंधान अभि-सदस्यों (Research-Fellows) के नियुक्ति की सिफारिश की है। अध्यापकों की नियुक्ति विशेषतः समिति की राय से हो और एक स्तर से दूसरे स्तर पर तरक्की केवल योग्यता पर हो। जूनियर तथा सीनियर अध्यापकों को अनुपात २:१ का हो। प्रोफेसरों की रिटायर होने की आयु ६० वर्ष की होनी चाहिये। पर विशेष परिस्थितियों में उन्हें ६४ वर्ष तक कार्य करने की अनुमति मिल सकती है। इसके अलावा अध्यापकों

के काम करने के घण्टे, छुट्टी आदि की भी मर्यादायें निश्चित कर दी हैं।

(२) विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट होने के लिये कम से कम एफ० ए० तक की योग्यता होनी चाहिये। माध्यमिक पाठशालाओं में १०-१२ वर्ष की शिक्षा के उपरान्त विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या विभिन्न व्यवसायों में चली जायगी। अनुमानतः प्रत्येक १२ लड़कों में से केवल १ लड़का की विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेगा। विश्वविद्यालयों में कला और विज्ञान विभाग में ३००० विद्यार्थी और महाविद्यालयों में १५०० से अधिक विद्यार्थी न रखे जाँय। ट्यूटोरियल पद्धति पूर्णतः लागू कर देनी चाहिये तथा पुस्तकालयों और प्रयोग शालाओं को आधुनिकतम साधनों से सज्जित कर देना चाहिए।

(३) पाठ्यक्रम-आनर्स का पाठ्यक्रम बी० ए० पास के पाठ्यक्रम से अलग होना चाहिये। एम० ए० तथा एम० यस० सी० कक्षाओं में प्रवेश अखिल भारतीय स्तर पर होना चाहिये। शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में निकटतम सम्पर्क होना चाहिये। पी० एच० डी० की डिग्री के लिये कम से कम दो वर्ष का अनुसंधान कार्य आवश्यक है। एम० यस० सी० और पी० एच० डी० के लिये वृत्ति और निःशुल्क स्थान मिलना चाहिये। विज्ञान विभाग में खोज कराने के लिये विशेष अध्यापकों की नियुक्ति हो जो शिक्षण कार्य से मुक्त हों। समुद्री बायलाजिकल स्टेशनों की स्थापना की सिफारिश की गई तथा बायोकेमिस्ट्री और बायो-फिजीकल इत्यादि में मौलिक खोज पर जोर दिया गया।

(४) आयोग ने व्यवसायिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया और कृषि महाविद्यालयों के सुधार की सिफारिश की। कृषि विद्या-लयों की स्थापना विशेष रूप से ग्रामीण वातावरण में की जाय इसके अलावा अधिक संख्या में प्रयोगात्मक एवं परिक्षण कार्य हो।

वाणिज्य के विद्यार्थियों को अध्ययनकाल में तीन या चार फर्मों का व्यवहारिक ज्ञान हो। ग्रेजुएट होने के बाद विद्यार्थी किसी विशेष साखा के विशेषज्ञ बने। इसी प्रकार यम० काम० के विद्यार्थियों को भी व्यवहारिक ज्ञान हो।

शिक्षण विज्ञान के पाठ्यक्रम में सुधार होना आवश्यक है। शिक्षण पद्धतियाँ अधिक व्यवहारिक बनाई जाँय। शिक्षण-अभ्यास में अधिक समय दिया जाय। प्रशिक्षण-विद्यालय में ऐसे विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाय जिन्हें पाठशाला शिक्षण का व्यवहारिक ज्ञान हो। एम० एड० के प्रवेश के लिये भी विद्यार्थियों को शिक्षण का व्यवहारिक ज्ञान आवश्यक है।

इन्जिनीयरिंग तथा व्यवसायिक शिक्षा के लिये कमीशन ने उच्च-विद्यालय के स्थापना की सिफारिश की। इन्जीनियरिंग के प्रशिक्षण के समय विद्यार्थियों को कारखानों में व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा दी जाय।

कानून के पाठ्यक्रम को ३ साल का बना दिया जाय तथा विद्यार्थियों को व्यवहारिक ज्ञान दिया जाय। किसी विशेष परिस्थिति में ही कानून के साथ अन्य कोर्स पढ़ाये जाँय। अन्तर्राष्ट्रीय कानून, न्यान शास्त्र तथा हिन्दू और मुसलमान कानून में शोध के लिये प्रोत्साहन दिया जाय।

चिकित्सा विज्ञान में एक विद्यालय में १०० से अधिक विद्यार्थी न लिये जाँय। ग्रामीण केन्द्रों में भी अधिक विद्यार्थी न लिये जाँय। ग्रामीण केन्द्रों में भी प्रशिक्षण की सुविधायें दी जाँय तथा भारतीय चिकित्सा पद्धति को भी प्रोत्साहन दिया जाय।

इसके अलावा आयोग ने व्यापार शासन, जन-प्रशासन तथा औद्योगिक सम्बन्धों में भी विशेष शिक्षा प्रदान करने की सिफारिशें की।

(५) धार्मिक-शिक्षा—भारतीय जन-राज्य के धर्म-निरपेक्ष होने की ओर संकेत करते हुये, कमीशन ने सिफारिश की प्रत्येक संस्था का कार्य-क्रम कुछ समय तक मौन चिन्तन के बाद

प्रारम्भ किया जाय। डिग्री कक्षाओं में महान पुरुषों के जीवन जैसे गौतम, कनफ्युशस, सुकरात, जीसस, शंकर, रामानुज, मुहम्मद और गाँधी आदि के जीवन पढ़ाये जाँय तथा दूसरे वर्ष में धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कराया जाय। इससे विद्यार्थियों को दूसरे धर्मों का ज्ञान रहेगा और उनके विचार उदार होंगे।

(६) शिक्षा का माध्यमः—आयोग ने राष्ट्रीय भाषा हिन्दी का समर्थन किया और यह सिफरिश की कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। पर जब तक भारतीय भाषाओं में पारिभाषिक शब्दावली का विकास न हो जाय तब तक अंगरेजी ही काम में लाई जाय। परिवर्तन धीरे-धीरे होना चाहिये। माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों को कम से कम तीन भाषाओं का ज्ञान होना चाहिये।

(७) परीक्षा प्रणाली में सुधार की आवश्यकता है। परीक्षा में वर्ष भर के कार्य का ध्यान रक्खा जाय और उसके लिये योग के ⅓ अंक सुरक्षित रक्खे जाँय। डिग्री कक्षाओं में तीन वर्ष में प्रत्येक वर्ष के बाद परीक्षा होनी चाहिये। परीक्षा में आबजेक्टिव टेस्ट और मौखिक-परीक्षा को भी स्थान दिया जाय। परीक्षकों का चुनाव ठीक हो और उन्हें ३ साल तक रक्खा जाय। ७० प्रतिशत या उससे अधिक पाने वाले विद्यार्थी को प्रथम श्रेणी में ५५ से ६९ प्रतिशत तक द्वितीय श्रेणी में और ४० से ५४ प्रतिशत तक तृतीय श्रेणी में रक्खा जाय।

(८) विद्यार्थियों के कल्याण कार्यः—आयोग ने विद्यार्थियों के स्वास्थ्य-परीक्षा पर जोर दिया और छात्रावास, भोजन, पानी और खेल के उचित प्रबन्ध की ओर ध्यान आकर्षित किया। एक स्वास्थ-शिक्षा-संचालक के नियुक्ति की सिफारिश की। नेशनल-कैडेट-कोर के विस्तार की सिफारिश की गई। तत्पश्चात विद्यार्थियों से समाज-सेवा की सिफारिश की गई। एक

विद्यार्थी-हितकारिणी-सलाहकार-बोर्ड के स्थापना की सिफारिश की गई।

(९) स्त्री शिक्षा :— स्त्री-शिक्षा के लिये आयोग ने कहा कि ऐसे विषयों के पठन-पाठन की व्यवस्था होनी चाहिये जो स्त्रियों की प्रकृति और आवश्यकता के उपयुक्त हो। स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के अध्यापकों को एक सा वेतन मिलना चाहिये।

(१०) अन्य :— आयोग ने केन्द्रीय विद्यालय और ग्राम विश्वविद्यालयों के विषय में भी सिफारिश की। वित्त के विषय में आयोग ने कहा कि सरकार को अपने इस दायित्व को पूरा करना चाहिये। प्रतिवर्ष सरकार उच्च-शिक्षा पर १० करोड़ खर्च, करके ही अपने इस दायित्व को उठा सकती है। उन्होंने एक विश्व-विद्यालय अनुदान-समिति की (University Grants-Commission) स्थापना की भी सिफारिश की।

इस प्रकार शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्रों का सर्वे करने वाला यह पहिला ही आयोग था जिसने शिक्षा के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला। आयोग ने वैज्ञानिक-तथा औद्योगिक शिक्षा पर पूर्ण जोर दिया पर उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि मानवशास्त्र की भी-उपेक्षा नहीं की जा सकती नहीं तो 'राक्षस राज' उत्पन्न होने का डर रहता है। आयोग की विश्व-विद्यालय-अनुदान-समिति की स्थापना तथा अध्यापकों के वेतन स्तर सुधारने की भी सिफारिश व्यवहारिक और वांछनीय है। ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना का सुझाव भी एक क्रान्तिकारी सुझाव है। केवल धार्मिक-शिक्षा के विषय में ही जो सिफारिश की गई है वह अस्पष्ट तथा रहस्यमय है। शिक्षा के माध्यम में भी बहुत निर्णयात्मक मत नहीं दिया गया है।

केन्द्रीय-सलाहकार-बोर्ड ने २२-२३ अप्रैल सन् ५० की बैठक में आयोग की सम्पूर्ण सिफारिशों को कुछ परिवर्तन के साथ मान लिया है। आशा है यदि इन सुझाओं पर उचित रीति से कार्य हुआ तो भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होगा।

इधर १९४७-५२ के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों की शिक्षा में तीव्र-गति से विस्तार हुआ है। भारत के बटवारे से पहिले केवल २१ विश्वविद्यालय थे। अब कुल ३० विश्वविद्यालय हैं। विद्यार्थियों की संख्या में भी ६० प्रतिशत वृद्धि हुई है और शिक्षा पर व्यय भी तिगुना हो गया है।

अब कोई भी ऐसी भाषा नहीं है जिसमें एक विश्वविद्यालय न हो।

विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विषय खोले गये हैं और प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत उनके पुस्तकालयों एवं प्रयोगशालाओं के विस्तार के लिये पर्याप्त आर्थिक सहायता दी गई है। खरगपुर में एक औद्योगिक और इन्जीनियरिंग का इन्स्टीट्यूट खोला गया तथा ९ स्थानों पर राष्ट्रीय-प्रयोगशालायें खोली गई। केन्द्रीय-सरकार के अंतर्गत विज्ञान के अनुसंधान का एक विभाग खोला गया है जो वैज्ञानिक शिक्षा का संगठन एवं सामञ्जस्य करता है।

शिक्षकों के वेतन में भी कुछ सुधार किया गया है परन्तु इस ओर आयोग की मुख्य सिफारिशों को कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सका है। शिक्षकों के वेतन-स्तर पर दृष्टि करने से मालूम होता है कि १९५१-५२ में विश्वविद्यालयों की शिक्षा में २३९२० शिक्षक थे जिसमें २०८३ औरतें थीं। कलकत्ता, मद्रास और आगरा विश्वविद्यालयों में सबसे अधिक शिक्षक हैं। क्रम से उनमें ३,५८०, ३२४६ और २,२१५ शिक्षक हैं। इनके वेतन स्तर की ओर ध्यान देने से मालूम होगा कि इनमें से अधिकांश १००-२५० वेतन स्तर के अंतर्गत है। २१,३१० शिक्षकों में से ६३३०,१०० से १५० रु० वेतन स्तर में है ७४०६,१५१-२५० वेतन स्तर में है और ५१८६,२५१-४५० रु० वेतन स्तर में है। १३३३-४५१ से ६५० वेतन स्तर में है। केवल २४० शिक्षक एक प्रतिशत १००० या उससे अधिक तनख्वाह पाते हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान-समिति

भारत सरकार ने अभी एक नियम पास करके विश्व-विद्यालय-अनुदान समिति की स्थापना की है। यह समिति अध्यापकों के वेतन

४

बेसिक-शिक्षा

राष्ट्र ने यह निश्चित कर लिया है कि प्राथमिक शिक्षा बेसिक-शिक्षण पद्धति पर आधारित रहेगी। ६ वर्ष से लेकर १४ वर्ष तक प्रत्येक लड़के को अनिवार्य, निःशुल्क बेसिक शिक्षा दी जायगी। अतएव प्राचीन परिपाटी का पाठशालाओं को शीघ्रातिशीघ्र बेसिक-स्कूलों में परिवर्तन किया जा रहा है और प्रयत्न किया जा रहा है कि जहाँ तक सम्भव हो नवीन प्राथमिक पाठशालायें बेसिक पद्धति पर चलाई जाँय। इसमें ६ वर्ष से ११ वर्ष तक जूनियर-बेसिक स्कूल होते हैं और ११-१४ तक सीनियर-बेसिक होते हैं।

बेसिक शिक्षा और समाज

शिक्षा भावी समाज-निर्माण में सहायक होती है। बेसिक शिक्षा जनतन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुकूल है और आशा है कि यह भारत में वर्ग-विहीन समाज विकसित करने में सहायक होगी। बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त कुछ नवीन नहीं है। प्राचीन शिक्षा शास्त्री जिन आधार भूत सिद्धान्तों पर बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा देना चाहते थे बेसिक शिक्षा उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है। केवल उन सिद्धान्तों को भारतीय वातावरण के अनुकूल अवश्य बना लिया गया

है। शिक्षा में यह सुधार सामाजिक-नियमों की परम्परा के अनुसार है क्योंकि जब सिद्धान्त जीवन से परे होते हैं तब उन्हें जीवित परिस्थितियों के अनुकूल लाने का प्रयत्न किया जाता है। राष्ट्र-पिता गाँधी जी ने यह भली भाँति जान लिया था कि यदि समाज का कल्याण करना है और नवयुवकों में नवीन स्फूर्ति का सञ्चार करना है तो उन्हें निराशा से बचाया जाय और उनको जीवन के सार्थक सिद्धान्तों से परिचित कराया जाय। शिक्षा इसके लिये प्रथम सीढ़ी है। अतएव उन्होंने शिक्षा में सुधार करने का प्रयत्न किया और उनके जिन विचारों के आधार पर नवीन शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया गया उसे बेसिक शिक्षा कहते हैं। गाँधी जी के शब्दों में बेसिक शिक्षा जीवन की शिक्षा है, और इसके द्वारा बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव है।

अंगरेजी शिक्षा की कमज़ोरी

बेसिक शिक्षा का प्रादुर्भाव, वास्तव में राष्ट्रीय-शिक्षा-विकास के प्रयत्न में हुआ और स्वतन्त्र भारत के शिक्षा का जो स्वरूप होने जा रहा है, बेसिक शिक्षा उसकी एक कड़ी मात्र है। १९२० ई० के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया था कि वर्तमान शिक्षा भारतीय जीवन एवं परम्परा के सर्वथा अयोग्य है और इससे राष्ट्र निर्माण नहीं किया जा सकता। अंगरेजी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य था भारत में एक ऐसे समाज का निर्माण करना, जो अंगरेजी हो। अतएव अंगरेजी शिक्षा भारतीयों को केवल बाबू ही बनाती थी जिसके अर्थ अंगरेजी कोष में हैं 'एक हिन्दुस्तानी लेखक'। अंगरेजी शिक्षा के प्रसार से जितने लोग विद्यालयों से निकलने लगे उन्हें यह सम्भव नहीं हो सका कि वे सरकारी दफ्तरों में नौकरी पा सकें। अतएव उनमें असन्तोष की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। कुछ दिनों पश्चात् अंगरेजी शिक्षा से केवल बेकारी बढ़ी।

नवीन जागृति

राष्ट्र में नवीन जागृति हो गई थी। पश्चिम के स्वतन्त्र विचारों से प्रभावित भारतीय नवयुवक, भारत को अंगरेजी शासन से मुक्त करना चाहते थे। देश में एक क्रान्ति का सूत्र-पात हो रहा था जिसमें यह निश्चित था कि शिक्षा का स्वरूप बदला जाता।

अंगरेजी भाषा-शिक्षा का माध्यम

शिक्षा का माध्यम अंगरेजी भाषा थी। अतएव निश्चित रूप से उसके माध्यम से बालकों का विकास होना सम्भव नहीं था। फलतः प्रतिवर्ष ऐसे ही अर्ध-विकसित बालकों की एक धारा सी प्रवाहित होने लगी। फिर अंगरेजी शिक्षा में भारतीय संस्कृति का ध्यान नहीं दिया जाता था। अतएव डर था कि कहीं भारतीय संस्कृति ही पूर्ण रूप से खतरे में न पड़ जाय।

शिक्षा-सुधार

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक-काल से ही भारतीय संस्कृति के उत्थान के प्रयत्न हो रहे थे और शिक्षा में सुधार करना आवश्यक समझा जा रहा था। राष्ट्रीय शिक्षा संगठन के लिये प्रयत्न किया जा रहा था कि राष्ट्रीय विद्यालय संगठित किये जायँ जिनमें मुख्य रूप से भारतीय संस्कृति के उत्थान की ओर ध्यान दिया जाय। ऐसे सुधारकों में स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द सरस्वती, रवींद्रनाथ टैगोर और पंडित मदन मोहन मालवीय के नाम प्रमुख हैं। इनकी प्रेरणा से गुरुकुल और विद्यापीठ का संगठन किया गया। पर इन विद्यापीठों से प्रगति पर्याप्त नहीं हुई और असन्तोष बना ही रहा।

गांधी जी और शिक्षा

१९१६ में महात्मा गांधी भारत के राजनैतिक क्षेत्र में आये। उन्होंने राजनैतिक आन्दोलन के साथ-साथ समाज निर्माण का काम

भी प्रारम्भ किया। अछूतोद्धार और जाति-पाँति का भेद-भाव दूर करने का उन्होंने प्रयत्न किया और सहज-बुद्धि से उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि यह कार्य तभी सम्भव है जब शिक्षण नीति एवं शिक्षा-विधि में पूर्ण रूप से परिवर्तन किया जाय क्योंकि वर्तमान-शिक्षा पद्धति वर्ग-विभेद पर आधारित है और उसे प्रोत्साहित करती है।

उड़ीसा के दुर्भिक्ष में सेवा कार्य करते समय गांधी जी को एक विशेष अनुभव हुआ। उन्हें यह मालूम हुआ कि जो व्यक्ति अशिक्षित हैं उन्हें तो किसी न किसी प्रकार काम में लगाया जा सकता है पर नवीन विधि से शिक्षित व्यक्ति हाथ का कोई काम नहीं कर सकते। अतएव उनकी हालत अधिक खराब है और उन्हें किसी हाथ के काम पर नहीं लगाया जा सकता अतएव शिक्षित व्यक्तियों को सहायता देने की समस्या और कठिन है। इसका एक मात्र उपाय यही था कि उन्हें किसी न किसी प्रकार हाथ से कार्य करने को प्रोत्साहित किया जाता।

बेसिक-शिक्षा का प्रारम्भ

गांधी जी ने इन विचारों को लेकर १९३७ में हरिजन में कुछ लेख लिखे जिसमें उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये। उस समय प्रान्तों में कांग्रेस की सरकार थी अतएव यह उचित समझा गया कि गांधी जी के इन विचारों को कार्य रूप में परिणित किया जाय। इसके लिये आवश्यक था कि इन विचारों पर गम्भीर रूप से विचार विनिमय किया जाता। अतएव २३ अक्टूबर सन् १९३७ को वर्धा में विभिन्न प्रान्तों के शिक्षा मन्त्रियों एवं शिक्षा-विदों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें महात्मा जी ने अपने विचार प्रस्तुत किये। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद निम्न-लिखित प्रस्ताव सम्मेलन ने सर्व-सम्मति से पास किये :—

(१) देश के सम्पूर्ण बालकों के लिए सात वर्ष तक अनिवार्य, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होनी चाहिये।
(३) शिक्षा केन्द्रीय दस्तकारी से सम्बन्धित होने चाहिये। दस्तकारी का चुनाव जहाँ तक सम्भव हो वातावरण और स्थानीय परिस्थितयों को ध्यान में रखकर किया जाय।
(४) शिक्षा जहाँ तक सम्भव हो स्वावलम्बी हो। सम्मेलन की राय में दस्तकारी के क्रय से कम से कम अध्यापकों की तनख्वाह का खर्च निकल आवेगा।

बेसिक-राष्ट्रीय-शिक्षा-समिति

सम्मेलन के उपरोक्त प्रस्ताव पास करने के बाद इन प्रस्तावों के आधार पर प्राथमिक शिक्षा की रूप-रेखा बनाने के लिए दस सदस्यों की एक समिति बनाई गई जिसे यह कार्य सौंपा गया कि वह एक महीने में बेसिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम की योजना बना कर दे। समिति के सदस्य निम्न थे :—

डा० जाकिर हुसेन-सभापति
श्री ख्वाजा गुलाम सैयदेन
,, खुशाल तलकशीशाह
,, विनोबा भावे
,, काका साहब कालेलकर
,, किशोर लाल मशरूवाला
,, जे० सी० कुमारप्पा
,, कृष्णदास जोजू
श्रीमती आशा देवी
,, आर्यनायकम—संयोजक

इस समिति को जाकिर हुसेन की समिति भी कहते हैं। समिति ने अपनी रिपोर्ट उपस्थित की और इसी के आधार पर बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त आधारित है।

कांग्रेस सरकारों ने इस पर शीघ्र कार्य करने प्रारम्भ कर दिये। उत्तर-प्रदेश ने सबसे पहिले काम शुरू किया। परन्तु शीघ्र ही १६३६ में लड़ाई छिड़ गई और कांग्रेसी सरकारों को राजनैतिक कारण से इस्तीफा देना पड़ा। अतएव बेसिक शिक्षा का काम प्रान्तों में रुक गया। पर विहार में युद्ध-काल में भी बेसिक शिक्षा पर कार्य जारी रहा। फलतः विहार के प्रयोगों से बेसिक शिक्षा के विषय में बहुत से भ्रम दूर हुये और अब यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि बेसिक शिक्षा अब प्रयोगिक स्तर से ऊपर है और इस पर वृहत रूप से कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है।

हिन्दुस्तानी-तालीम-संघ

बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये समिति ने हिन्दुस्तानी-तालीमी-संघ का संगठन किया। यह संघ अब तक बर्धा में काम कर रहा है और बेसिक-शिक्षा के कार्य और प्रसार में तत्पर है।

केन्द्रीय सलाहकारप रिषद् (Central Advisory Board of Education) ने बेसिक शिक्षा की सम्भावनाओं की जाँच करने के लिये श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक समिति की स्थापना की। इस समिति ने बहुत से भ्रम-मूलक विचारों को दूर किया और इसे स्पष्ट कर दिया कि यह योजना शिक्षा की एक योजना है न कि कार्य करने की। खेर कमेटी ने बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों को जो कार्यशीलता के सिद्धान्त पर निर्भर है, उन्हें मान लिया। कमेटी की प्रमुख सिफारशें निम्नलिखित हैं:—

(१) बेसिक शिक्षा की योजना सबसे पहिले देहाती क्षेत्रों में प्रारम्भ की जाय।

(२) अनिवार्य शिक्षा की आयु ६ से १४ वर्ष तक रहे लेकिन बालकों को ५ वर्ष से ही भर्ती किया जाय।

(३) बेसिक शिक्षा से अन्य पाठशालाओं में भर्ती करने के लिये ५ वीं कक्षा से बालकों को भेजा जा सकता है।

(४) शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा हो।

केन्द्रीय-सलाहकार परिषद ने इस समिति की सिफारिशों को (Post-war Educational development in India) युद्ध के पश्चात शिक्षा विकास योजना में स्थान दिया। भारतीय सरकार ने इस योजना को स्वीकार कर लिया था। इस योजना में और वर्धा योजना में यह अंतर है कि इस योजना में शिक्षा के द्वारा शिक्षा पर खर्च हुए वित्त को निकालने के लिये जोर नहीं दिया गया।

१९४७ में भारत स्वतत्र हो गया। राष्ट्रीय सरकार ने भावी शिक्षा योजनाओं को पुनः संगठित करने का प्रयत्न किया। अतएव १९४९ में श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में पुनः एक समिति की स्थापना हुई। इसने बेसिक शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर अपनाने की सिफारिश की और अनिवार्य शिक्षा योजना के व्यय और समय में भी कमी की। अब तक बिहार में सरकारी रूप से और अन्य स्थानों में व्यक्तिगत रूप से जो प्रयोग हुये उनसे यह सिद्ध हुआ कि बेसिक शिक्षा सफल रूप से प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर प्रयुक्त की जा सकती है। अतएव अब यह एक निश्चित राष्ट्रीय योजना है।

श्री जाकिर हुसेन के विचार

बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुये श्री जाकिर हुसेन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है:—

आज कल करीब करीब सभी शिक्षा शास्त्री इस बात की सिफारिश करते हैं कि बच्चों की शिक्षा किसी उपयोगी दस्तकारी के जरिये होनी चाहिये। यह बच्चों की सर्वांगीय शिक्षण का सबसे अच्छा तरीका है।

बच्चे आदत से चंचल होते हैं। वे स्कूलों में बैठकर किताबें पढ़ते रहना नहीं पसन्द करते और दण्ड प्रयोग करने से उसके विरुद्ध विद्रोह करते हैं। बेसिक शिक्षा के द्वारा मस्तिष्क एवं व्योहारिक-शिक्षा में सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। बच्चों को इससे केवल छिछला ज्ञान

ही नहीं होता जिसमें कभी कभी किताब में छपे हुए पन्ने पढ़ना ही शामिल है बल्कि इससे बालक इस प्रकार शिक्षित हो जाता है कि वह अपना हाथ और मस्तिष्क बुद्धिमता पूर्वक किसी उपयोगी कार्य में लगा सके। यदि शब्दों का प्रयोग किया जा सके तो इसे हम सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा, कह सकते हैं।

सामाजिक स्तर पर पाठशालाओं में हस्तकला एवं कार्य को शिक्षा का माध्यम बनाने से, जिसमें राष्ट्र के सम्पूर्ण लड़के भाग लेगें, मस्तिष्क और हाँथ से काम करने के बीच मे जो खाई है, वह नष्ट हो जायगी और यह दोनों के लिये लाभप्रद है। इससे श्रम का महत्व और मानवीय शक्ति की महत्ता स्थापित होती है जिसका नैतिक प्रभाव उपयोगी है। आर्थिक दृष्टि कोण से यदि इस योजना को बुद्धिमत्ता पूर्वक और सुचारू रूप से चलाया जाय तो इससे हमारे श्रमिकों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होगी और वे अपना अवकाश उपयोगी ढंग से व्यतीत कर सकेगें। केवल शिक्षण सिद्धान्तों के आधार पर ही, किसी दस्तकारी के द्वारा जो ज्ञान बालक ग्रहण करेंगे वह सजीव एवं वास्तविक होगा। इस प्रकार ज्ञान का जीवन से सम्बन्ध रहेगा और उनका पारस्परिक सामञ्जस्य भी स्थापित होगा।

हस्तकला का शैक्षणिक स्वरूप

सर्वप्रथम ऐसी कला या दस्तकारी चुनी जाय जिसमें शिक्षा की सम्भावनायें अधिक मात्रा में मौजूद हों। उसमें मनुष्य के अन्य कार्यों एवं रुचि से प्राकृतिक समवाय हो और यह सम्पूर्ण पाठ्य-क्रम में विस्तृत हो। रिपोर्ट के पिछले भाग में दस्तकारी के चुनाव के सम्बन्ध में हमने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है और उन सब कार्यकर्ताओं का ध्यान इस प्रमुख विषय पर केन्द्रित करने की चेष्टा की है जो इस योजना को कार्यशील बनाने का प्रयत्न करेगें। इस योजना का यह ध्येय नहीं है कि ऐसे कारीगर पैदा किये जाँय जो मशीन की तरह काम करके चीजें पैदा करें बल्कि दस्तकारी में जो शिक्षा की सुविधायें छिपी

हुई हैं उनका उपयोग किया जाय। इससे यह माँग होती है कि उपयोगी दस्तकारी का न केवल पाठ्य-क्रम में ही स्थान हो, बल्कि वह अन्य विषयों की शिक्षण विधि में भी प्रयुक्त की जाय। शिक्षा में योजना निर्माण ठीक ठीक काम करना, आगे बढ़कर काम करने के गुण, व्यक्तिगत दायित्व, तथा सहयोग आदि गुणों के विकास में अधिक जोर दिया गया है। पाठ्यक्रम में केवल एक विषय तथा कताई बुनाई या बढ़ईगिरी के जोड़ देने से जब अन्य विषय प्राचीन-पद्धति से ही पढ़ाये जाते हैं, इससे अधिक लाभ न होगा। बालकों में चुपचाप रटने या विषयों की विभिन्नता जिसे वे समझ नहीं पाते ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

इस योजना का उद्देश्य ऐसे कार्यकर्त्ता उत्पन्न करना है जो प्रत्येक प्रकार के उपयोगी कार्य को जिसमें शारीरिक कार्य या झाड़ू लगाना भी शामिल है, उपयोगी एवं आदरणीय समझें और जो अपने पैरों खड़े होने के योग्य हों। इस प्रकार के कार्य जब स्कूल में किये जावेगें वे समाज के कार्य से भिन्न नहीं होंगे। इस प्रकार हमारी योजना से व्यक्तिगत मूल्य सुचारू रूप से कार्य करने की क्षमता और आदर भावना उत्पन्न होगी और बालकों में स्वयं तरक्की करने की भावना और सामूहिक-समाज सेवा करने की इच्छा उत्पन्न होगी। इस योजना के अपना स्वयं उठा (Self-supporting) हो सकने के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि इससे बहुत से भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वार्धा सम्मेलन के द्वारा प्रस्तावित बेसिक शिक्षा, जिसकी रूप रेखा हम प्रस्तुत कर रहे हैं, उसे हम पूर्ण रूप से उपयुक्त समझते हैं। अगर यह शिक्षा आत्म निर्भर न भी हो तो भी हमें इस शिक्षा को शिक्षा की उचित नीति के रूप में स्वीकार करना चाहिये जिससे राष्ट्र का निर्माण सम्भव है। यह तो भाग्य की बात है कि इस शिक्षा से शिक्षा का पर्याप्त खर्च भी निकल जायगा।

आर्थिक दृष्टि-कोण के अलावा भी हमारी राय है कि बालकों की शिक्षा में तथा उनके काम में एक उचित निरीक्षण एवं बंधन कार्य को

ठीक तरह से चलाने के लिये आवश्यक है। इस प्रकार के बंधन न होने से उनके काम में ढिलाई पैदा हो जायगी और शिक्षा के लिये उसका कोई महत्व नहीं रहेगा। शिक्षकों के अनुभव से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का निरीक्षण आवश्यक है।

लेकिन यहाँ पर हम एक पूर्व-सूचना दे देना आवश्यक समझते हैं। इस योजना के संचालन में खतरा है कि इसके आर्थिक पहलू को शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक पहलू से अधिक महत्व दिया जाय। शिक्षक अपना ध्यान बालकों से अधिक से अधिक कार्य करवाने में खर्च करें तथा दस्तकारी के बौद्धिक सामाजिक एवं नैतिक पहलू पर दृष्टि न दें। इसे सदैव दृष्टि में रखना चाहिये—शिक्षक प्रशिक्षण में तथा बालकों एवं शिक्षको के कार्य निरीक्षण में और सम्पूर्ण शिक्षण-कार्य में।

श्री सैयदेन और बेसिक-शिक्षा

श्री के० जी० सैयदेन, जो जाकिर हुसेन कमेटी के सदस्य थे और जो अब केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-सचिव हैं उन्होंने बेसिक-शिक्षा की निम्न विशेषताओं की ओर संकेत किया है:—

(१) बेसिक-शिक्षा, जैसा महात्मा गांधी ने सोचा था और जिस प्रकार उन्होंने उसका विवरण प्रस्तुत किया है जीवन के लिये शिक्षा है जो विशेषतः जीवन के द्वारा दी जाती है। इसका उद्देश्य ऐसे समाज का निर्माण करना है जो हिंसा और शोषण से विहीन हो। इसीलिये क्रियात्मक उत्पादक समाजिक कार्य को जिसमें लड़के और लड़कियाँ जाति और वर्ग के भेद भाव के बिना भाग ले सकें, शिक्षा का केन्द्र बनाया गया है।

(२) इस स्तर पर बुनियादी उद्योग के द्वारा शिक्षा, शिक्षण-पद्धति का प्रमुख अंग हो जाती है। इससे ज्ञान वास्तविक और सजीव हो जाता है और बालकों के व्यक्तित्व एवं चरित्र के विकास में योग देता है तथा उनमें सामाजिक रूप से लाभ-

दायी कार्य के लिये प्रेम और आदर की भावना के व्यय का कुछ मार्ग निकल आवेगा या उससे बच्चों को वर्दी, दोपहर का नाश्ता या स्कूल के लिये मेज-कुर्सी आदि का प्रबन्ध हो सकता है।

(३) शिक्षा में बुनियादी कारीगरी के स्थान के विषय में बहुत मतभेद है। शिक्षा का मौलिक सिद्धान्त तो बालकों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास है जिसके अन्तर्गत उत्पादक उद्योग भी आते हैं। इसलिये आवश्यक है कि जो भी चीजें बनाई जाय वे अच्छी और मजबूत हों। अच्छे कार्य का शिक्षा में विशेष महत्व होता है क्योंकि इससे बालकों में अच्छे कार्य करने की आदत पड़ती है। दस्तकारी के उत्पादन की ओर कम ध्यान नहीं होना चाहिये जैसा कि अभी तक होता आया है क्योंकि कार्य में रूचि और विशेषता ज्ञात और अज्ञात रूप से बालक के विकास पर प्रभाव डालती है। इससे बालकों में योजना शक्ति, लगन और कार्य पर ध्यान देने की शक्ति का विकास होता है। उच्च बुनियादी पाठशालाओं में उत्पादन की पूर्व-सीमा-निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

(४) बुनियादी उद्योग के चुनाव में जो पाठशाला की शिक्षा के केन्द्र होंगे हमें बहुत उदारता से चुनाव करना चाहिये और ऐसी दस्तकारी का चुनाव करना चाहिये जो बौद्धिक एवं ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के लिये उपयुक्त हों और जिनका कोई व्यवहारिक उपयोग भी हो सके। बुनियादी-कला ऐसी होनी चाहिये जो पाठशाला के प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के उपयुक्त हो तथा जिनका शिक्षा से विशेष सम्बन्ध हो। इस प्रकार के गलत विचार, कि पाठशाला में किसी उद्योग तथा कताई बुनाई के पाठ्यक्रम में रख देने से ही पाठशाला बुनियादी पाठशाला में परिवर्तित हो जायगी, बेसिक शिक्षा को विशेष हानि होती है।

(५) बेसिक शिक्षा में या किसी भी अच्छी शिक्षा योजना में ज्ञान का क्रिया के प्रायोगिक अनुभव एवं अनुशीलन (Observation) से वास्तविक सम्बन्ध होना चाहिये। इसकी सुरक्षा के लिये, बेसिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम तीन प्रमुख समवायी आधारों-यथा बुनियादी दस्तकारी, प्राकृतिक और समाजिक वातावरण से सम्बन्धित रहता है। एक योग्य शिक्षक ज्ञान को इनमें से किसी भी क्रिया को केन्द्र बनाकर समवायित कर सकेगा जिसमें बालक की रुचि होगी। अगर शिक्षक ऐसा नहीं कर सकता तो इसका अर्थ है कि शिक्षक या तो अयोग्य है या पाठ्यक्रम में ऐसी वस्तुयें आ गई हैं जिनका बालक की आयु से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि पाठ्यक्रम में बहुत से ऐसे स्थल होंगे जिनको किसी भी केन्द्र से समवायित नहीं किया जा सकता। ऐसे स्थानों में किसी भी अच्छी पद्धति से जिनका साधारण पाठशालाओं में प्रयोग किया जाता है बालकों को ज्ञान कराया जा सकता है। ऐसे पाठों को पढ़ाने के लिये बालक की रुचि एवं उसकी प्राकृतिक प्रवृत्ति का उपयोग किया जायगा। परन्तु किसी भी प्रकार से जबरदस्ती और दूरस्थ पाठ से न जोड़ा जाय।

(६) उत्पादक कार्यों पर जोर देने का यह अर्थ नहीं है कि पुस्तक का महत्व समाप्त किया जा रहा है। बेसिक शिक्षा में भी अच्छी पुस्तकें ज्ञान और संस्कृति की भंडार हैं और बुनियादी दस्तकारी ज्ञान के विस्तार और व्यक्तित्व के विकास दोनों में सहायक होगी। अतएव बेसिक पाठशालाओ में पुस्तकालयों का उतना ही महत्व है जितना साधारण पाठशालाओं में।

(७) बेसिक शिक्षा पाठशाला और समाज में सन्निकट सहयोग एवं पारस्परिक-प्रभाव की आशा करती है। जिससे शिक्षा

एवं बालक में सामाजिक गुणों एवं सहयोग का विकास हो सके। इसके लिये बेसिक शिक्षा सर्व प्रथम पाठशाला को एक जीवित समाज के लघुरूप की भाँति संगठित करती है जिसमें सामाजिक एवं सास्कृतिक कार्यक्रम पर्याप्त मात्रा में मौजूद रहते हैं। बालकों को पाठशाला के आस पास गाँवों में सामाजिक सेवा करने का प्रोत्साहन दिया जाता है। पाठशाला में विद्यार्थियों की निजी सरकार होती है जिससे बालकों में उत्तरदायित्व एवं जन-तन्त्र के सिद्धान्तों का विकास होता है। इस प्रकार बेसिक पाठशाला न केवल बालकों में आत्मनिर्भरता, सहयोग, एवं श्रम के लिये आदर आदि भावनाओं का विकास करती है बल्कि एक नवीन गतिशील समाज बनाने में एक जीवित शक्ति का कार्य करती है।

बेसिक शिक्षा और पाठ्य-क्रम

(८) बेसिक शिक्षा केवल ग्रमीण वातावरण के लिये ही नहीं है। इसका प्रसार शहरों में उपयुक्त है और इसके साथ ही इस ख्याल को भी नष्ट करना चाहिये कि बेसिक शिक्षा एक निम्न-प्रकार की शिक्षा है और यह केवल देहातों के लिये हीं उपयुक्त है। शहरों के लिये बुनियादी उद्योगों के चुनाव में और पाठ्यक्रम में कुछ सुधार करने की आवश्यकता होगी पर बेसिक शिक्षा के उद्देश्य एवं उसकी शिक्षण-पद्धति एक सी ही रहेगी। शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति और भावी समाज के निर्माण में क्रम न तो बालकों की रुचि का ध्यान रखता है और न तो सामाजिक आवश्यकताओं का ही। शिक्षा और अनुभव का कोई सम्बन्ध नहीं है। एक सच्ची घटना है कि एक बालक ने रुई के बारे में पूरा पाठ पढ़ लिया पर उसे यह नहीं मालूम था कि रुई का कोई पौदा होता है। वह समझता था कि ऊन की तरह रुई भी भेड़ बकरी की तरह किसी जान-

वर से प्राप्त होती है। इसी तरह से लड़ाई के जमाने में लंदन से जब बालकों को बाहर ले जाया गया तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि गाय और भेड़ें केवल तस्वीर ही नहीं हैं बल्कि वे जिन्दा जानवर हैं जिनसे खेला जा सकता है। पाठ्यक्रम बालक का वातावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये एक निमित्त मात्र है ताकि वह भविष्य में बृहत वातावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सके। बालक एवं उसके वातावरण का सामञ्जस्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है। ज्ञान प्रारम्भ बालक के जीवित अनुभव से होता है। जिसे बालक प्रकृति एवं समाज के बीच प्राप्त करता है जिसके बीच में वह रहता है और जहाँ उसके उद्देश्य की पूर्ति होती है। अतएव शिक्षा एवं पाठशाला का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह बालक को इसकी सहायता दे कि वह अनुभव को, जिसे वह पाठशाला के बाहर संसार में प्राप्त करता है, ज्ञान के सङ्गठित विषयों में विकसित कर सके ताकि वह अपने को पूर्ण जीवन के लिये उपयुक्त बना सके।

पाठ्य-क्रम का प्रथम सिद्धान्त यह है कि वह बालक की जन्म जात प्रवृतियों एवं रुचियों को आधार बनाये और उस पर ज्ञान का भवन निर्मित करे यथा बच्चों की तुतलाहट, उसका प्राकृतिक वातावरण में खेलने का प्रयत्न, उसका सामाजिक एवं प्राकृतिक जीवन में रुचि आदि।

बालक सदैव कार्यशील रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि पाठ्य-क्रम एक क्रियाशील-पाठ्यक्रम हो और पाठशाला वह स्थान है जहाँ पर प्रयोग एवं खोज की जा सके। पाठ्यक्रम के द्वारा केवल कुछ ज्ञान ही नहीं प्रदान किया जा सकता बल्कि उसके द्वारा बालक में ऐसी सामाजिक एवं बौद्धिक आदतों का विकास भी किया जाता है जिससे बालक एक सक्रिय, बौद्धिक एवं सहयोगी प्राणी बन सके।

बेसिक पाठशालाओं के पाठ्यक्रम को चुनने में निम्नलिखित सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिये :—

(१) बालकों के शारीरिक एवं मानसिक विकास का ध्यान रक्खा जाय। क्योंकि कोई भी शिक्षा जो बालकों की रुचि एवं उनकी मूल प्रवृतियों पर आधारित नहीं रहती वह बाल-केन्द्रित-शिक्षा नहीं कही जा सकती।

(२) समाज की आवश्यकतायें, उसकी भौगोलिक विशेषतायें, उसके सांस्कृतिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को भी ध्यान में रखना पड़ेगा। अतएव विभिन्न समाज पर एक सा पाठ्यक्रम लादना ठीक नहीं है।

(३) पाठ्यक्रम में उन उद्देश्यों की स्पष्ट झलक रहती है जिसको ध्यान में रखकर भविष्य के समाज का निर्माण किया जाता है।

(४) पाठ्यक्रम मस्तिष्क एवं अनुभव की एकता पर संगठित करना चाहिये। विभिन्न प्रकार के असंगठित विषयों के समावेश से पाठ्यक्रम की एकता भंग होती है।

(५) पाठ्यक्रम बालकों के निम्नलिखित अनुभवों को समवायी करने का प्रयत्न करता है :

(१) ज्ञान का सामञ्जस्य।
(२) संवेग का सामञ्जस्य।
(३) कार्य का सामञ्जस्य।

साधारण पाठशालाओं में जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाता है उसका उद्देश्य है बालकों को सूचना देना। वह एक क्रियाशील पाठ्यक्रम नहीं है जिसका उद्देश्य यह हो कि किस प्रकार ऐसे योग्य बालकों का निर्माण हो जो एक लाभप्रद चीज सफलता पूर्वक कर सकें।

पाठ्यक्रम के सिद्धान्तों एवं बेसिक शिक्षा की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर एक बेसिक स्कूल में पृष्ट १६५ पर दिए हुये विषय पढ़ाये जाते हैं :—

कक्षा १ से ५ तक

(१) बुनियादी दस्तकारी।
(२) मातृभाषा।
(३) गणित।
(४) सामाजिक ज्ञान।
(५) शारीरिक स्वास्थ्य।
(६) कला।
(७) साधारण विज्ञान।

कक्षा ६ से ८ तक

(१) बुनियादी दस्तकारी।
(२) मातृभाषा।
(३) द्वितीय भाषा।
(४) गणित, ज्योमित एवं बीजगणित।
(५) साधारण विज्ञान, शरीर रचना तथा स्वास्थ्य।
(६) कला एवं औद्योगिक-कला।
(७) शारीरिक शिक्षा।
(८) सामाजिक शिक्षा।

उच्च कक्षाओं में दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा देने के अलावा निम्नलिखित में से किसी एक दस्तकारी में विशेष योग्यता प्राप्त करनी आवश्यक है।

(१) कताई-बुनाई, (२) कृषि, (३) दफ्ती; लकड़ी या धातु का काम (४) चमड़े का काम, (५) कुम्हार का काम, (६) साग एवं फलों की खेती।

(७) कल-पुर्जे बनाने का काम।

(८) बांस का काम (९) गृह विज्ञान (लड़कियों के लिये)

जैसा पहले कहा जा चुका है बेसिक शिक्षा में विभिन्न विषयों को अलग इकाई मानकर शिक्षा नहीं दी जाती बल्कि सम्पूर्ण ज्ञान एक मुख्य दस्तकारी को केन्द्र बनाकर समवायित किया जाता है। बालक, जिस प्रकार कार्य में आगे बढ़ता जाता है, जैसे-जैसे उसे अनुभव होता है उसी प्रकार उसके ज्ञान का क्षेत्र बढ़ता जाता है। जो विषय मुख्य दस्तकारी से समवायित नहीं किये जा सकते वे प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण के अंतरगत आ जाते हैं। यदि फिर भी कोई विषय बच जाता है तो उसे उचित रीति से पढ़ाया जाता है। उदाहरण के लिये बेसिक-पद्धति का एक पाठ-सूत्र दिया जाता है :—

पांचवा वर्ग

एक सप्ताह के लिये

मूल उद्योग-कताई-बुनाई

योजना-निवाड़-बनाना

भिन्न-भिन्न दिनों की क्रियायें : –

(क) कपास की सफाई (ख) ओटाई

(ग) तुनाई (घ) धुनाई

(च) कताई (छ) नारी भरना (बुनाई करना)

समवायी ज्ञान

(१) *भाषा* :—कार्य करते समय योजना पर अपने भाव प्रकट करने के लिये छात्रों को पर्याप्त समय देना। छात्रों का निजी अनुभव सुनना। उनकी अशुद्धियों को शुद्ध करके व्याकरण का ज्ञान कराना। पाठ्य पुस्तक में से तकली, कबीर के दोहे और चरखा के पाठों को पढ़ाना। विभिन्न जातियों की पोशाकों पर सरल भाषा में निबन्ध लिखाना। पिता जी को पत्र में सम्पूर्ण योजना का वर्णन कराना।

(२) *गणित* :—रुई, सूत और कपड़े के वजन के द्वारा मन, सेर छटांक, कीमत के द्वारा रुपया, आना, पाई और नाप के द्वारा गज, फुट, इंच के जोड़, बाकी, गुणा, भाग के कठिन प्रश्न करना। कपड़े का खाता बनवाना। सूत की मोटाई के द्वारा दशमलव का ज्ञान कराना।

(३) *सामाजिक-ज्ञान* :—छात्रों की समिति बनवाना। समिति के अधिकारियों का निर्वाचन कराना। अधिकारियों को योजना कार्यान्वित करने का उत्तरदायी बनाना। छात्रों में उत्तरदायित्व और आज्ञा पालन की भावना का निर्माण करना। धुनाई के समय वर्ण व्यवस्था और विभिन्न धर्मों का ज्ञान कराना। भारतवर्ष में कपास पैदा होने वाले स्थान दिखाना। कपड़ा उत्पादन के प्रमुख शहरों का ज्ञान कराना। कबीर और उनके समय की सभ्यता, राजनैतिक और शासन का हाल बताना। सूत कातने के समय स्वतंत्रता संग्राम की कहानियाँ सुनाना।

(४) *सामान्य-विज्ञान* :—बुनाई और कताई के समय उचित रीति से बैठने का ढंग बताना। सूत कातने के समय हवा का ज्ञान कराना और शुद्ध वायु के लाभ समझाना। शरीर रक्षा के लिए वस्त्रों की आवश्यकता बतान ।। गन्दे वस्त्रों में कीड़े पड़ जाना और बीमार हो जाने से सचेत करना। वस्त्रों की सफाई के लिये हलके और भारी का अन्तर बताना।

(५) *चित्र-कला* :—कपास, फूल और पत्ती का चित्र बनाना। निवाड़ में बनाये गये डिजाइन का चित्र बनवाना।

शिक्षक

बेसिक-शिक्षा-पद्धति में शिक्षक का स्थान बालकों के बीच में नेता की तरह होता है। वह बालकों को उनकी कठिनाइयाँ बताता है। योजना तैयार करने और उसे पूरा करने में उसका पूरा योग देता है।

वह बालकों के साथ उनके जीवन में घुल मिल जाता है। इसी प्रकार बेसिक पाठशाला समाज का एक जीवित केन्द्र है जहाँ सामाजिक सिद्धान्तों पर कार्य ही नहीं होता बल्कि समाज की कठिनाइयों को दूर करने का भी प्रयत्न होता है। शिक्षक विद्यार्थियों से तथा सामाजिक अवसरों पर अभिभावकों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। बेसिक पाठशाला में बालकों के कार्य निम्न रूप से ले सकते हैं :—

सामुदायिक-सफाई, स्वास्थ्य-रक्षा की विधियों की उन्नति, सामुदायिक भोजन, दस्तकारी का काम, खेती, बगीचों का सजाना, एवं साग भाजी की खेती आदि सांस्कृतिक-त्योहार तथा जलसे, पाठशाला की पत्रिका प्रकाशन, ग्राम्य रक्षादल का सङ्गठन, अन्तः स्कूल परिषद की स्थापना पाठशाला-प्रदर्शनी एवं वाह्य व्यक्तियों द्वारा भाषण।

बेसिक शिक्षा की सफलता योग्य शिक्षकों पर निर्भर है। शिक्षकों में विषय का उचित ज्ञान होने के साथ ही साथ उनको उचित प्रशिक्षण भी मिलना चाहिये। अतएव बेसिक पाठशालाओं में कम से कम हाई स्कूल पास एवं दो साल बेसिक प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापकों को रखना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो बेसिक-विद्यालयों के अध्यापक बेसिक पाठशालाओं में शिक्षित हों तो अच्छा हो। विषय ज्ञान के साथ-साथ अध्यापकों में, सदाचार, सहयोग, शिष्टाचार, सौहाद्र आदि वैयक्तिक गुण होना परमावश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का आधारित

बेसिक शिक्षा के सिद्धान्त एवं उसकी पद्धति के वर्णन से स्पष्ट हो गया है कि बेसिक शिक्षा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कार्य के द्वारा बालक जो शिक्षा ग्रहण करता है वह ज्ञान जीवित रहता है।

स्वावलम्बी

आर्थिक दृष्टि कोण से यह शिक्षा खर्च के कुछ भाग को उत्पन्न कर लेती है यह शिक्षा स्वावलम्बी हो सकती है। इसके अलावा विद्यार्थी भी आगे चलकर अपने जीवन में वह उपयोगी दस्तकारी अपना सकता है जो उसके शिक्षा का माध्यम रही है। एक प्रकार से बालक शिक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ कुछ न कुछ पैदा भी करता रहता है।

वर्ग विहीन समाज की स्थापना

सामाजिक रूप में यह शिक्षा कार्य की महत्ता निश्चित करती है तथा एक वर्ग हीन, शोषण-रहित समाज की स्थापना में सहायक होती है। शक्ति और धन के विकेन्द्रीकरण से समाज में शान्ति एवं सुख रहेगा।

व्यक्तित्व का विकास

कार्य करना बालक का प्राकृतिक गुण है। अतएव कार्य के द्वारा बालक को प्रसन्नता होती है और उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। इसके विरुद्ध साधारण शिक्षा में बालक एक सुषुप्त प्राणी के रूप में बढ़ता है जो सूचना का तो केन्द्र होता है पर उसमें जीवन एवं प्रसन्नता की कमी रहती है।

आलोचना

बेसिक शिक्षा की आलोचना बहुत हुई है और उसके विरुद्ध अनेक आरोप लगाये जाते हैं। लोगों का अब भी विचार है कि बेसिक शिक्षा सफल नहीं हो पावेगी। बेसिक शिक्षा की अलोचना के निम्न-लिखित आधार है :—

(१) बाल्य काल में बालकों को दस्तकारी सिखाने से बालकों के प्राकृतिक विकास की गति अवरुद्ध होती है।

(२) बेसिक शिक्षा से बाल्य-श्रम को वेग मिलेगा। शिक्षक-अथवा अन्य. वर्ग केवल उनके श्रम की ओर ही ध्यान देगा ताकि उसे अधिक लाभ हो। यह सिद्धान्त भारतीय संविधान के अनुकूल नहीं है।

(३) दस्तकारी पर केन्द्रित शिक्षा से साहित्यिक एवं बौद्धिक शिक्षा का विकास नहीं हो पाता।

(४) बहुत से ऐसे विषय हैं यथा विज्ञान और ज्योमित तथा बीज-गणित आदि जो दस्तकारी के द्वारा पढ़ाये नहीं जा सकते।

(५) यदि बेसिक शिक्षा का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व का विकास है तो किस प्रकार यह निश्चित किया जाय कि बालक का व्यक्तित्व पूर्णरूप से विकसित हो रहा है। इसके लिये बेसिक शिक्षा में कोई वैज्ञानिक साधन नहीं है।

(६) आर्थिक पूर्णता का सिद्धान्त बालकों की रुचि के विरुद्ध है जिनके लिये यह लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

(७) बेसिक पाठशालाओं में जो चीजें पैदा की जाती है उनमें से बहुत सी बेंची नहीं जा सकती अतएव आर्थिक दृष्टिकोण से यह शिक्षा खर्चीली है।

(८) बेसिक शिक्षा एवं माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयों की शिक्षा में कोई सामञ्जस्य न होने के कारण इस शिक्षा के द्वारा एक खाई-सी पैदा हो जाती है जो शिक्षा की एक कठिन समस्या उत्पन्न कर देती है।

(९) बेसिक-प्रशिक्षण-अध्यापकों की कमी के कारण यह सम्भव नहीं है कि सम्पूर्ण प्राथमिक पाठशालाओं को एक साथ बेसिक पाठशालाओं में परिवर्तित किया जा सके।

(१०) बेसिक शिक्षा से देश का औद्योगिक विकास सम्भव नहीं है क्योंकि यह देश को कुटीर उद्योग के स्तर पर ही रखना चाहती है। इन सब आलोचनाओं का समुचित उत्तर दिया जा चुका है। बेसिक शिक्षा अब प्रयोगिक स्तर से ऊपर उठ गई है।

बेसिक शिक्षा एवं अनिवार्य शिक्षा

देश में अनिवार्य शिक्षा की योजना चल रही है और विधान के अनुसार १० वर्ष में, ६ वर्ष से १४ वर्ष के प्रत्येक बालक को अनिवार्य निशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये। परन्तु साधारण शिक्षा के प्रबन्ध में ८०० करोड़ से अधिक व्यय होगा जो राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के परे है। अतएव इसकी व्यवस्था होना असम्भव-सा प्रतीत होता है पर बिहार में किये गये प्रयोगों से स्पष्ट हो गया है कि बेसिक शिक्षा से ५० प्रतिशत व्यय निकल सकता है। अतएव यदि अनिवार्य बेसिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय तो प्राथमिक शिक्षा की समस्या हल हो सकती है।

बेसिक शिक्षा की सफलता के लिये लोगों का मानसिक सुझाव बहुत आवश्यक है। जिन प्रान्तों में इस पर उत्साह के साथ कार्य किया गया तथा बिहार, मद्रास, सौराष्ट्र एवं बम्बई आदि में वहाँ इसे सफलता मिली है और आशा है कि यह शिक्षण पद्धति सफल होगी। अन्त में यह कहा जा सकता है कि बेसिक शिक्षा के विकास से भारत ने अपनी बेसिक आवश्यकता के अनुकूल शिक्षण पद्धति का विकास कर लिया है और साथ ही इसके द्वारा संसार के अन्य देशों को भी लाभ हो सकता है।



५

समाज-शिक्षा

निरक्षरता का विनाश एक राजनैतिक समस्या नहीं है। यह वह समस्या है जिसकी पूर्ति के बिना राजनीति की बातचीत करना ही असम्भव है। निरक्षर मनुष्य राजनीति के क्षेत्र से बाहर है और उसे इस क्षेत्र में लाने के पूर्व साक्षर करना आवश्यक है। इसके बिना कोई राजनैतिक चर्चा नहीं हो सकती—जो होगी भी वह केवल एक गल्प, अफवाह, कहानी अथवा अन्ध विश्वास है।

जनतंत्र और शिक्षा

किसी देश की शिक्षा पर ही उस देश का भविष्य निर्भर रहता है। भारतवर्ष में ८५ प्रतिशत निरक्षर हैं। ऐसी अवस्था में कोई भी सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक विकास की योजना पूर्ण रूप से सफल हो सकेगी यह विशेष सन्देहात्मक है। वास्तव में अशिक्षित एवं निरक्षरों के इस बहुमत में जनतंत्र का प्रयोग करना भी एक आश्चर्य की बात है। भारत को इसमें जो सफलता मिली है उसका कारण है संगठित-समाज। पर ऐसी सफलता सदैव भ्रामक रहती है। अतएव शीघ्र से शीघ्र सम्पूर्ण भारतीय-समाज को शिक्षित करना आवश्यक है। भारत में इतनी विशाल संख्या में लोग निरक्षर रहें

यह प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के लिये कलंक की बात है। "अगर कोई मनुष्य संसार के साक्षरता का मानचित्र बनावे और अशिक्षित भाग को काले रंग से रंगे तो भारत एक काले महाद्वीप की तरह दिखेगा। यह एक ऐसी अवस्था है जिससे मैं शर्मिन्दा भी होता हूँ और क्रोध भी आता है। शर्मिन्दा इस लिये कि जो राष्ट्र अपने को संसार का सर्व-प्राचीन सांस्कृतिक राष्ट्र समझे, उसकी यह अवस्था हो और क्रोध इस लिये आता है कि अपनी कीर्ति पर अपयश के इस धब्बे से भी हम लोग इतने समय तक संतुष्ट बैठे रहे।"* यह आशा की बात है कि राष्ट्र और समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित हो गया है और विश्वास है कि शीघ्र ही भारत इस कलंक को धो सकेगा। बीसवीं शताब्दी में ही रूस, टर्की और जापान आदि के ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिन्होंने अल्पकाल में अपने देश से निरक्षता एवं अशिक्षा का विनाश कर दिया है। क्या भारत के लिये यह असम्भव है?

शिक्षा और साक्षरता

शिक्षा और साक्षरता में अंतर है। साक्षरता शिक्षा की एक कुञ्जी मात्र है जिसकी सहायता से मनुष्य ज्ञान के भंडार से अपनी आवश्यकतानुसार ज्ञान-राशि निकाल सकता है। यह सम्भव है कि एक निरक्षर आदमी भी शिक्षित हो। जो मनुष्य समाज और जीवन के साथ सामञ्जस्य स्थापित कर सकता है और शान्तिपूर्वक सांस्कृतिक जीवन व्यतीत कर सकता है वह निश्चित रूप से पूर्ण शिक्षित है। इतिहास में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिसमें निरक्षर मनुष्य भी पूर्ण शिक्षित और सभ्य थे। सम्राट अकबर इसका ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु इसमें शक नहीं कि साक्षरता से शिक्षा की गति तीव्र हो जाती है और यह शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। पहिले शिक्षा से साक्षरता का तात्पर्य समझा जाता था अतएव शिक्षा के अन्तरगत केवल साक्षरता

---

* श्री के० जी० सैदसेन-इण्डियन जरनल आव एडल्ट एडुकेशन।

को ही स्थान मिलता था। परन्तु अब इस विचार में परिवर्तन हो गया है। वर्तमान वैज्ञानिक-तरीकों से यह सम्भव है कि मनुष्य को बहुत सा लाभप्रद ज्ञान बिना साक्षरता के भी दिया जा सके। अतएव शिक्षा का क्षेत्र बढ़ता जाता है। भारतवर्ष में भी प्रारम्भिक काल में साक्षरता को ही जन शिक्षा का स्वरूप दिया गया था। इसलिये प्रारम्भ में जो प्रयत्न हुए वह अक्षर-ज्ञान तक ही सीमित थे। पर नवीन अनुभवों के के आधार पर इस प्रयत्न में परिवर्तन कर दिया गया और अब इस ओर प्रयत्न प्रारम्भ किया गया है कि किस प्रकार लाभ प्रद ज्ञान प्रौढ़ों को दिया जाय जिससे वे अपने जीवन में सफल हो सकें। अतएव इसे अब समाज-शिक्षा कहते हैं।

प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ

प्रौढ़-शिक्षा का क्षेत्र कहाँ तक सीमित है? यों तो शिक्षा का जीवन से सम्बन्ध है और मनुष्य जीवन से मृत्यु तक कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करता रहता है। पर संकुचित रूप से प्रौढ़-शिक्षा उन्हीं लोगों तक सीमित रहती है जिन्हें बाल्य काल में शिक्षा का अवसर नहीं मिला अथवा जो किन्हीं परिस्थितियों के कारण अपनी शिक्षा शीघ्र ही छोड़ने पर बाध्य हुये। विदेशों में जहाँ पर शिक्षा का प्रचार है और सब लोग साक्षर हैं वहाँ पर प्रौढ़-शिक्षा का दूसरा तात्पर्य है। ऐसे देशों में प्रौढ़-शिक्षा के द्वारा शिक्षित लोगों के ज्ञान की सीमा बढ़ाई जाती है और उन्हें नवीन ज्ञान से परिचित कराया जाता है तथा उनको जीवन और व्यवसाय से सम्बन्धित उपयोगी ज्ञान प्रदान किया जाता है। भारत में परिस्थितियों के कारण प्रौढ़-शिक्षा ने एक विशेष अर्थ ही ग्रहण कर लिया है। यहाँ पर प्रौढ़ों को जिनकी अवस्था १४ से ५० के अंतर्गत हैं उन्हें अक्षर-ज्ञान कराया जाता है और साथ ही समाज और जीवन से सम्बन्धित उपयोगी ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष में अनिवार्य शिक्षा की आयु अ ६ वर्ष से १४ वर्ष तक निश्चित कर दी गई है। अतएव इस आयु के अंतर्गत सम्पूर्ण बालकों

को प्राथमिक पाठशाला में भेजने का प्रबन्ध करना चाहिये। ५० वर्ष के बाद यहाँ लोगों की रुचि पढ़ाई-लिखाई में बहुत कम हो जाती है। अधिकतर लोग यहाँ अल्पायु भी होते हैं अतएव ५० वर्ष की आयु के बाद लोगों को शिक्षा देने से विशेष लाभ भी नहीं हो सकता।

समाज-शिक्षा की परिभाषा

अतएव भारतीय परिस्थितियों के अनुसार समाज-शिक्षा से उस शिक्षा का तात्पर्य है जो जन साधारण को जन स्वास्थ, सफाई, नागरिकता सहयोग और आर्थिक तथा व्यवसायिक ज्ञान प्रदान करती है और नागरिकों को इस बात के लिये प्रोत्साहित करती है कि वे किस प्रकार समाज में एक उत्तम नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत करें। प्रौढ़-साक्षरता का इसमें विशेष स्थान है और इस बात का निरन्तर प्रयत्न किया जाता है कि जो नागरिक १४ वर्ष से ५० वर्ष के अन्तर्गत है उन्हें पूर्ण साक्षरता प्रदान की जाय। स्वतन्त्रता के बाद समाज-शिक्षा का महत्व और भी बढ़ गया है। "प्रौढ़-शिक्षा शिक्षा के अन्य तरीकों से भिन्न है। इसमें किसी विशेष कारीगरी को सिखाने या विशेष ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता और न तो इसके अध्यापकों को ही कोई अधिकार रहता है।"

"वास्तव में प्रौढ़-शिक्षा जीवन की वास्तविकताओं के विशेष सन्निकट है। कभी-कभी ऐसा भान होता है कि इसमें कुछ वयस्क लोग, दूसरे वयस्क (अध्यापकों) लोगों से मिलते हैं ताकि उनकी रुचि का विकास हो या उन्हें अपने जीवन की समस्याओं का व्यक्तिगत रूप से और सामाजिक प्राणी के रूप में अधिक गहरा ज्ञान प्राप्त हो सके।"*

---

* Prof. Johannes Novrup Adult Education is the Genuine Child of Democracy.

२० वीं शताब्दी प्रौढ़-शिक्षा शताब्दी है :

आज से १०० वर्ष बाद जो मनुष्य शिक्षा का इतिहास पढ़ेंगे उन्हें प्रतीत होगा कि बीसवीं शताब्दी प्रौढ़-शिक्षा की शताब्दी है। अभी शिक्षा की इस विचारधारा का अन्त नहीं हो रहा है बल्कि इसका प्रारम्भ मात्र है। प्रौढ़-शिक्षा जन तन्त्र की वास्तविक सन्तान है। जन-तन्त्र में प्रत्येक नागरिक सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाओं के लिये उत्तरदायी है। ऐसी अवस्था में निरक्षरता महान घातक है। प्रत्येक मनुष्य को इतनी शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए कि वह अपने अच्छे बुरे को भली भाँति सोचले और अपना वोट उचित व्यक्ति को दे सके। प्रचार के इस युग में जब जीवन अधिक विषम हो गया है; उचित निर्णय करना महान आवश्यक है। ऐसी अवस्था में प्राथमिक-शिक्षा पर्याप्त नहीं होती क्योंकि बालक और किशोर में इतने परिपक्व विचार नहीं होते कि वह समस्याओं पर बुद्धिमत्ता पूर्वक स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकें। अतएव प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता होती है कि वह हमें सामाजिक-विषमताओं से परिचित करा सके तथा हमें साहित्य, कला, और विज्ञान तथा जीवन दर्शन की ओर हमारी दृष्टि फेर सके।

प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता

श्री विलियम रसेल ने शिक्षा-कांग्रेस में अपने भाषण में कहा था, "बुरे विचारों से बचाव अच्छे विचार हैं, अर्ध-सत्य से बचाव पूर्ण-सत्य है, प्रचार से बचाव शिक्षा है और शिक्षा पर ही जन-तन्त्र को विश्वास रखना चाहिये।"

शिक्षा जीवन पर्यन्त चलती रहती है। अतएव यह आशा करना असम्भव है कि किसी विशेष अवधि में या एक विशेष आयु पर पाठ-शालाओं से पूर्ण-शिक्षित व्यक्ति निकल आवेगें जिन्हें भविष्य में शिक्षा की आवश्यकता न होगी। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सदैव शिक्षा का अवसर मिलते रहना चाहिये।

और जीवन में शिक्षा का महत्व उन्हें स्वयं नहीं मालूम है। अतएव यदि भारत को शीघ्र शिक्षित करना है तो उसके लिये जहाँ वह आवश्यक है कि अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय वहाँ यह भी आवश्यक है कि प्रौढ़-शिक्षा और समाज-शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। प्रौढ़-शिक्षा और अनिवार्य-शिक्षा दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यदि देश की निरक्षरता शीघ्र समाप्त करनी है तो दोनों योजनायें शीघ्र प्रारम्भ करनी चाहिये।

केन्द्रीय मन्त्रालय ने समाज-शिक्षा का उद्देश्य निम्न शब्दों में घोषित किया।

"प्रौढ़ शिक्षा की किसी भी योजना का उद्देश्य है कि वह पुरुष और स्त्रियों को निर्णय एवं विचार की परिपक्वता प्रदान करें, उनमें जिम्मेदारी एवं जागरूकता की भावना का विकास करें और उनके जीवन में उपयुक्त सिद्धान्तों को विकसित करने का प्रयत्न करें और उनमें ऐसी रुचियों का विकास करे जिससे वे अपने अवकाश का पूर्ण उपयोग कर सकें।"

समाज-शिक्षा के द्वारा प्रौढ़ों में निम्न भावना विकसित होनी चाहिये :

(१) प्रौढ़ संसार एवं जीवन के विभिन्न विभागों की वास्तविकता से पूर्ण परिचित हो जायँ।

(२) उनमें तर्क-पूर्ण भावना जागृत हो ताकि वे समाज की विभिन्न समस्याओं पर विचार कर सकें। उनको ऐसा अवसर मिलना चाहिये कि वे समाज के प्रत्येक अंग पर ध्यान पूर्वक बिना किसी पक्षपात के सोच सकें।

(३) प्रौढ़-शिक्षा में जीवन के विभिन्न भागों और विभिन्न अवस्थाओं में समता स्थापित करने की शक्ति हो।

(४) प्रौढ़-शिक्षा के द्वारा स्वतंत्र निर्णय की क्षमता विकसित होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान सदैव रखना चाहिये कि हम ऐसे संसार में रहते हैं जहाँ पर हमारे विचार और कार्य में परिवर्तन के लिए सदैव नवीन और वैज्ञानिक योजनायें

काम में लाई जाती हैं। दूसरे शब्दों में हममें तुच्छ-प्रचार से अपने को सुरक्षित रख सकने की क्षमता विकसित होनी चाहिये। प्रौढ़ शिक्षा का यह प्रमुख कर्तव्य है।

आयु और शिक्षा

पहिले मनोवैज्ञानिकों का यह विश्वास था कि प्रौढ़ या वृद्ध हो जाने पर लोगों में पढ़ने या नवीन विचार ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। पर अब नवीन अनुसंधानों से यह विचार गलत सिद्ध हुआ है। वरनन (Vernon) ने इस बात को निम्न शब्दों में रक्खा है :—

"साधारण मनुष्यों में बुद्धि और सीखने की शक्ति १५ वर्ष के बाद अधिक नहीं विकसित होती (यद्यपि यह सत्य है कि अनुभव जीवन पर्यन्त बढ़ता जाता है।) लेकिन यह योग्यता २० से ३० वर्ष तक निश्चित रहती है। ४० वर्ष के बाद इसमें कुछ कमी आने लगती है और ६० वर्ष के बाद ही यह समाप्त हो पाती है। ३० वर्ष के बाद प्रौढ़ मनुष्य घूमने फिरने में वयस्क ही अपेक्षा धीमे अवश्य होते हैं और उनके सुनने और देखने की शक्ति में कमी होती है। उनको नई आदतें बनाने और पुरानी आदतें तोड़ने में भी कठिनाई होती है लेकिन उनको नवीन ज्ञान प्राप्त करने में किशोर की अपेक्षा कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये यदि उनमें नई चीज की सीखने की इच्छा शक्ति है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रौढ़ शिक्षा या समाज-शिक्षा प्रसार में मानसिक स्तर पर कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

समाज शिक्षा का इतिहास

(प्राचीन काल)

भारतवर्ष में समाज-शिक्षा का इतिहास बहुत प्राचीन है और इसकी रुढ़ि प्राचीन वर्णाश्रम धर्म में पाई जाती है। चतुर्थ आश्रम को सन्यास अथवा 'प्रव्रज्या', भी कहा गया है और सन्यासी को प्रव्रजित, की संज्ञा दी गई है। प्रव्रज्या, प्रव्रजित और परिव्राजक, ये शब्द इस

तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि सन्यासी को कभी एक स्थान पर न बैठकर, नगर-नगर ग्राम-ग्राम में घूमकर न केवल अध्यात्म नीति तथा सदाचार का प्रचार करना चाहिये अपितु अपने जीवन के आदर्शों द्वारा जन-जीवन को उन्नत बनाना चाहिये। ब्राह्मणों का त्यागमय जीवन तथा उनके आदर्श अब तक विद्यमान हैं। वे मानों चलते-फिरते पुस्तकालय थे जो इस प्रकार के वातावरण की सृष्टि करने में समर्थ होते थे जिनसे समाज में पुस्तक-पठन का अभाव कभी भी नहीं खलता था और जो जन साधारण को अपने उपदेश से सदैव उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की ओर इंगित करते रहते थे। इसके अलावा कथा-कीर्तन और नाटक आदि की परम्परा समग्र देश में विद्यमान थी। जोगी-बाउल, चारण तथा भाँट घर घर में जाकर, गा बजा कर जन-समाज को सदैव उच्च आदर्शों की ओर प्रेरित करते रहते थे।

मध्यकाल

मध्यकालीन भारत में भी कुछ ऐसी स्थित बनी रही पर राजनैतिक उथल-पुथल तथा सामाजिक ह्रास के कारण कालान्तर में समाज को उन्नत करने वाले यह श्रोत विनष्ठ हो गये और सामाजिक-शिक्षा का ह्रास हो गया। फिर भी शिक्षा की हालत अच्छी रही। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक युग में शिक्षा के जो सर्वे हुये थे उनसे यह स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिक्षा की दशा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से अच्छी थी और शिक्षित प्रतिशत गणना अत्यधिक थी। प्रत्येक गाँव में शिक्षा का कुछ साधन मौजूद था। ब्रिटिश शासन ने प्रारम्भिक काल में स्थानीय शिक्षा को प्रोत्साहन नहीं दिया। फलतः शिक्षा के बहुत से श्रोत विनष्ट हो गये और जन-साधारण में निरक्षरता बढ़ती गई।

वर्तमान युग

वर्तमान स्वरूप में प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। सबसे पहिले मद्रास प्रान्त में इसाई पादरियों ने भारतीय

इसाइयों के लाभ के लिये प्रौढ़ पाठशालायें खोलीं। उसके पश्चात् बंगाल और बम्बई में भी प्रौढ़ शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। पर वर्तमान स्वरूप में प्रौढ़ शिक्षा पर देश को अग्रसर करने का श्रेय मैसूर के दीवान श्री विश्वेश्वरैयया तथा विश्व-कवि श्री रविन्द्रनाथ टैगोर को है। श्री विश्वेश्वरैया ने १६१२ ई० में मैसूर राज्य में रात्रि पाठशालायें तथा चलते-फिरते पुस्तकालयों की योजना बनाई। टैगोर ने शान्ति-निकेतन के आस-पास के गावों में नवयुवकों की सहायता से शिक्षा का प्रसार किया। पर जैसे ही विश्वेश्वरैया मैसूर राज्य से रिटायर हुये उनकी सारी योजना समाप्त हो गई क्योंकि उसके पीछे जन-बल नहीं था।

प्रथम महायुद्ध

प्रथम महायुद्ध के द्वारा प्रौढ़-शिक्षा को बल मिला। बहुत से सैनिक जो विदेशों में लड़ने गये थे नवीन जागृति के साथ लौटे और उन्हें स्वयं अपनी उन्नति करने की इच्छा हुई। इसी इच्छा के फल-स्वरूप पंजाब में पंचायतों एवं सहकारी समितियों का निर्माण हुआ। इसी बीच भारतीय सन्विधान में परिवर्तन हुआ और शिक्षा भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ गई। निश्चित रूप से भारतीय मंत्रियों ने शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न किया। प्रत्येक प्रान्त में अनिवार्य शिक्षा के नियम पास किये गये। रात्रि पाठशालायें खोलने की व्यवस्था की गई तथा नगर-पालिकाओं को शिक्षा प्रसार के लिये प्रोत्साहित किया गया।

साक्षरता-आन्दोलन

१६३५ के भारतीय-शासन-विधान के अनुसार सर्वप्रथम १६३७ में प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। प्रान्तों का शासन भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ गया और उन्होंने शिक्षा-प्रसार के अनेक प्रयत्न किये। अनिवार्य शिक्षा के अलावा १६३७ ई० में सर्व-प्रथम साक्षरता-अंदोलन का श्री-गणेश किया गया। सभी प्रान्तों ने साक्षरता-दिवस तथा शिक्षा सप्ताह मनाये जिनमें प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति

से इस बात की प्रतिज्ञा कराने का प्रयत्न किया गया कि वह कम से कम एक निरक्षर को साक्षर बनायेगा। विद्यार्थियों एवं शिक्षकों को भी प्रोत्साहित किया गया। इसी समय डा० फ्रैंक लोबक तथा श्री एवं श्री मती-विलियम्स भारत में आये। श्री लोबक प्रौढ़-शिक्षा के विशेषज्ञ थे और उन्होंने फिलिपाइन में मोरो जो वहाँ के आदिम निवासी थे उनमें शिक्षा-प्रसार में अधिक सफलता पाई थी। लोबक ने भारत के अनेक प्रान्तों की यात्रा की और उन्होंने हिन्दी, मराठी, गुजराती तथा अन्य कई प्रान्तों की भाषाओं में शिक्षा के चार्ट बनाये। लोबक के चार्ट हालांकि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित हैं फिर भी उनकी सर्वप्रियता नहीं हो पाई क्योंकि उसमें जो वर्णों का वस्तुओं से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया वह बहुत दूर का है और अप्राकृतिक दिखता है।

अखिल भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ १९३८

सन् १९३८ में अखिल-भारतीय प्रौढ़-शिक्षा संघ की स्थापना की गई। इसके प्रथम सभापति सर शाह सुलेमान एवं सचिव श्री एच० बी० रिचर्डसन हुए। संघ ने प्रौढ़ शिक्षा की एक त्रैमासिक पत्रिका निकालना प्रारम्भ किया। इसके अलवा संघ ने प्रौढ़ शिक्षा प्रसार के लिये पाठ्यक्रमों का आयोजन किया तथा कई सिमेनार किये। संघ का प्रमुख उद्देश्य, भारतीय नागरिकों में उनके लाभ-एवं सांस्कृतिक विकास के लिये सभी प्रकार के ज्ञान का प्रसार करना, जहाँ पर आवश्यक हो वहाँ प्रौढ़-शिक्षा की प्रक्रिया प्रारम्भ करना तथा प्रौढ़-शिक्षा के सूचना केन्द्र एवं प्रौढ़ शिक्षा में लगी हुई संस्थायों के बीच सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करना था। संघ स्थापना काल से प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में उपयोगी कार्य कर रहा है।

डा० सैयद महमूद समिति

प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक प्रान्त में कार्य हो रहा था। अतएव केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा के इन प्रयत्नों को संगठित करने के लिये

केन्द्रीय सलाहकार परिषद् की सिफारिश पर, दिसम्बर १६३८ में, डा० सैयद महमूद की अध्यक्षता में एक प्रौढ़-शिक्षा-समिति की स्थापना की। समिति ने प्रौढ़ शिक्षा के प्रत्येक पहलू पर ध्यान दिया और अपनी सिफारिशें पेश कीं। परिषद ने जुलाई १६४० की अपनी मीटिंग में समिति की बहुत सी सिफारिशें मान लीं। समिति ने प्रौढ़ शिक्षा के निम्न उद्देश्य निर्धारित किये थे :—

(१) संकुचित दृष्टि से प्रौढ़ों को साक्षर बनाना।

(२) प्रौढ़ जो शिक्षित हैं या जो भविष्य में शिक्षित किये जाँयेगे उन्हें अधिक शिक्षा की ओर प्रोत्साहित करना और उन्हें ऐसी सुविधायें प्रदान करना।

(३) जो प्रौढ़-शिक्षा की ओर रुचि दिखायें उन्हें उच्च शिक्षा की ओर प्रेरित करना।

सार्जेन्ट रिपोर्ट

इसी समय द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और युद्ध काल में शिक्षा की अनेक योजनायें स्थगित करनी पड़ीं। सार्जेन्ट रिपोर्ट ने युद्ध के अनन्तर शिक्षा की जो योजना प्रस्तावित की उसमें प्रौढ़-शिक्षा पर भी प्रकाश डाला गया और इसे अग्रसर करने का प्रयत्न किया गया। रिपोर्ट ने प्रौढ़-शिक्षा में साक्षरता पर विशेष जोर दिया। उसमें कहा गया है कि एक बालक को दौड़ने के पूर्व चलना सीखना पड़ता है अतएव एक निरक्षर को सबसे पहिले अक्षर-ज्ञान कराना चाहिये इसके पहिले कि उसे वृहत रूप में शिक्षा का लाभ दिया जा सके। अतएव कुछ समय तक इस देश में साक्षरता पर जोर देना आवश्यक है हालांकि योजना के प्रारम्भ से ही प्रौढ़-शिक्षा की वृहत रूप में भी कुछ व्यवस्था करनी पडेगी जिससे साक्षर व्यक्तियों को अपनी शिक्षा बढ़ाने के लिये अवसर प्राप्त हो।

योजना ने प्रौढ़ों की आयु १० से ४० वर्ष तक निश्चित की तथा प्रौढ़ शिक्षा में श्रव्य-दृश्य वस्तुओं के उपयोग की सिफारिश की।

समाज-शिक्षा

इस योजना पर कार्य करने का अवसर ही नहीं मिला। राजनैतिक परिस्थितियाँ द्रुति-गति से परिवर्तित हुईं और स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा-योजना में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव सन् १६४८ में श्री मोहनलाल सक्सेना के सभापतित्व में एक समिति का निर्माण किया गया जो सरकार को प्रौढ़ शिक्षा की योजना पर सलाह दे। समिति की राय में प्रौढ़-शिक्षा के उद्देश्य संकुचित थे। अतएव उन्होंने उसे बदल कर इसे समाज-शिक्षा का नाम दे दिया और सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया। तब से सब प्रौढ़-शिक्षा की योजना समाज-शिक्षा के नाम से विख्यात है।

समिति ने समाज शिक्षा के निम्न उद्देश्य रक्खे :—

(अ) नागरिकों को उनके अधिकार एवं कर्त्तव्य की ओर जागरुक करना तथा उनमें समाज-सेवा की भावना भरना।

(ब) जन तंत्र के लिये प्रेम उत्पन्न करना और उन्हें इसकी समझ देना कि जन-तंत्रीय सरकार में किस प्रकार शासन होता है।

(स) संसार और देश के सामने जो समस्यायें हैं उनको समझाने का प्रयत्न करना।

(द) इतिहास, भूगोल और सांस्कृतिक ज्ञान के द्वारा अपनी संस्कृति के लिये गौरव उत्पन्न करना।

(य) व्यक्तिगत एवं समाजिक स्वास्थ्य के साधारण नियमों का ज्ञान कराना।

(फ) जीवन में सहयोग की भावना भरना।

(क) दस्तकारी में कुछ प्रशिक्षण देना जिसे वे अपने अवकाश के समय तथा अपनी आर्थिक उन्नति के लिये प्रयुक्त कर सकें।

(ख) नाटक, गायन, कविता, नृत्य और सामुहिक नृत्यों द्वारा सांस्कृतिक एवं प्रसन्नता के अवसर प्रदान करना।

(ग) सामुहिक विवाद एवं पठन-पाठन के द्वारा प्रमुख नैतिक मूल्यों का ज्ञान कराना।

(घ) लिखने पढ़ने एवं साधारण गणित का उचित ज्ञान कराना तथा ज्ञान विस्तार के लिये प्रोत्साहित करना।

(च) पुस्तकालय, विवाद-समूह, समितियों एवं जनता महाविद्यालयों द्वारा नागरिकों में शिक्षा जारी रखने का प्रयत्न करना।

समिति ने कार्य प्रणाली एवं आर्थिक पहलू पर भी सिफारिश की और यह राय प्रकट की कि अगले तीन वर्षों में ५० प्रतिशत निरीक्षरों को साक्षर बनाया जाय। आर्थिक क्षेत्र में समिति ने राय प्रकट की कि प्रत्येक नागरिक के पीछे कम से कम दो आना खर्च किया जाय जिसका ५० प्रतिशत केन्द्रीय सरकार दे। इस योजना पर विचार करने के लिये प्रान्तीय शिक्षा मन्त्रियों का एक सम्मेलन जनवरी १९४९ में नई दिल्ली में बुलाया गया। समिति की बहुत सी सिफारिशों को मंत्रियों ने स्वीकार कर लिया और यह निश्चय किया गया कि अप्रैल सन् १९४९ से यह योजना काम में लाई जाय और केन्द्र प्रान्तीय सरकारों को कुल एक करोड़ की आर्थिक सहायता दे। यह राशि प्रत्येक प्रान्त में प्रौढ़ों की संख्या के अनुपात से बाँटी जायगी। पर आर्थिक संकट के कारण केन्द्र निश्चित आर्थिक सहायता नहीं दे सका। केवल ६७ लाख रुपये ही दिये जा सके। परन्तु प्रत्येक राज्य सरकारों ने समाज-शिक्षा की अपनी योजनायें बनाईं और उन पर कार्य प्रारम्भ किया।

१९५२ में पंचवर्षीय-योजनायें प्रारम्भ हुईं। इसमें समाज-शिक्षा के अतरिक्त सामुहिक-विकास-योजनाओं में साघन-शिक्षा योजना तथा समाजिक-शिक्षा प्रसार की योजनायें हैं। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में इन योजनाओं के अतिरिक्त भी भारत सरकार ने समाज शिक्षा पर ५ करोड़ रुपया खर्च करने का व्यवधान किया है।

प्रौढ़-मनोविज्ञान

समाज-शिक्षा का प्रौढ़ मनोविज्ञान से बहुत सम्बन्ध है। बालक और प्रौढ़ की मानसिक अवस्था में बहुत अन्तर होता है। प्रौढ़ों के विचार और क्रियायें बालकों की अपेक्षा परिपक्व होती हैं और यदि वे चाहें तो किसी चीज को बड़ी जल्दी सीख सकते हैं। जीवन में उसको अपना स्थान मालूम रहता है। उनका प्रमुख उद्देश्य अपने व्यवसाय में उन्नति करना होता है। अतएव यदि समाज शिक्षा का प्रौढ़ों के व्यवसाय से कुछ सम्बन्ध हो तो उसमें वे अधिक ध्यान देते हैं। बालकों को तो दण्ड से भी शिक्षा दी जा सकती है पर प्रौढ़ों के लिये किसी प्रकार का अनुशासन-बन्धन अप्रिय सिद्ध होगा। जो कुछ भी उन्हें पढ़ाया जा सकता है वह उन्हें समझा बुझाकर ही पढ़ाया जा सकता है। समाज-शिक्षक को सदैव इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि प्रौढ़ों की बड़प्पन की भावना को किसी प्रकार ठेस न लगे। कार्य कर्त्ता को कार्य करते समय कभी भी यह मालूम न हो कि वह उपदेश देने आया है बल्कि उनमें यह भावना बनी रहे कि यह हमारा एक मित्र है जो हर समय हमारी सहायता कर सकता है। प्रौढ़ों में आलस्य का एक बड़ा कुटेव होता है। समाज के कार्य-कर्त्ता को सदैव इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि उसका समाज-भवन मनोरंजन एवं सफाई का एक केन्द्र रहे जहाँ वयस्क प्रौढ़ स्वयं अपने आप खिंच आवें। वयस्कों की मनोवृत्ति पर तत्कालीन राजनीति का गहरा प्रभाव पड़ता है। राजनीति के अलावा धर्म भी एक ऐसा तत्व है जो जनता की मनोवृत्ति पर गहरा प्रभाव डालता है। प्रत्येक धर्म के साथ कुछ अचार विचार और परम्परायें लगी हुई होती हैं और उनसे हमारा प्राकृतिक मोह होता है। समाज के किसी भी कार्य कर्त्ता को उसके विरुद्ध एकदम से कार्य नहीं प्रारम्भ कर देना चाहिये। अन्त में प्रत्येक चतुर कार्य कर्त्ता को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसके कार्य-क्रम में प्रौढ़ों की मूल-प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के साधन मौजूद हों। प्रौढ़ों की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं।

(१) खाद्य-शरण और वस्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा जीवन की सुरक्षा।

(२) प्रजननात्मक प्रवृत्ति।

(३) कुतूहल अथवा खेल की प्रवृत्ति।

(४) संगठन और मैत्री की प्रवृत्ति।

(५) आत्म प्रबलता की प्रवृत्ति तथा आत्मनिवेदन की प्रवृत्ति।

(६) सुख तथा मनोरञ्जन की आकांक्षा।

(७) आध्यात्म जीवन तथा शान्ति की भावना।

पाठ्य-विषय

सामाजिक शिक्षा समिति के द्वारा स्थापित उद्देश्यों के अनुसार समाज शिक्षा के अन्तर्गत वे सब विषय आते हैं जो प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के साथ ही साथ उसे एक उत्तम नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत करने में सहायक हों। अतएव वयस्कों के पाठ्य-क्रम में जो विषय निर्धारित किये जाँय वे उनके वातावरण से सम्बन्धित हों और जानकारी इस प्रकार दी जाय जो निरी-सैद्धान्तिक न होकर व्यवहारिक भी हो। पाठ्य विषयों में निम्नलिखित विषयों का सामन्यतः समावेश होता है: —

(१) मातृभाषा-वर्तालाप, वाद-विवाद, अभिनय करण, पढ़ना, लिखना।

(२) प्रारम्भिक-गणित।

(३) सामान्य-विज्ञान।

(४) प्रारम्भिक नागरिक शास्त्र एवं अर्थशास्त्र।

(५) संक्षिप्त ऐतिहासिक कहानियाँ।

(६) प्रारम्भिक भूगोल।

(७) कृषि, पशुपालन तथा उद्योग।

(८) नैतिक और आध्यात्मिक समस्यायें।

(९) प्रारम्भिक चिकित्सा।

(१०) हस्त-उद्योग।

प्रौढ़-शिक्षा के साधन

प्रौढ़ों को ज्ञान देने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि उनकी रुचि ज्ञान की ओर आकर्षित करने और उसे बनाये रखने ही बहुत सी शक्ति व्यय करना पड़ता है। वर्तमान काल में तो यह कार्य वैज्ञानिक साधनों के द्वारा आसान हो गया है और इसमें बहुत सी श्रव्य-दृश्य-सहायक सामग्रियों (Audo-Visual-Aids) का उपयोग किया जाता है जिसमें सिनेमा, रेडियो, ग्रामोफोन, पोस्टर और तस्वीरें प्रमुख हैं। इनसे प्रौढ़ों का मनोरञ्जन भी होता है और उन्हें अनेक विषयों पर लाभ-प्रद जानकारी भी प्राप्त होती है। सर्वप्रथम सिनेमा की गाड़ियों एवं रेडियो द्वारा जनता एक स्थान पर एकत्रित की जाती है। पुनः उन्हें नागरिकता, जन स्वास्थ्य, सफाई, कृषि एवं वैज्ञानिक अनुसंधान सम्बन्धी उपयोगी चल-चित्र दिखाये जाते हैं। इन चल चित्रों का प्रौढ़ों के मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव पड़ता है। पर ऐसे प्रौढ़ केन्द्र में जहाँ पर साक्षरता देनी हो उनका संगठन अन्य प्रकार से किया जाता है। प्रारम्भ में प्रौढ़ों को आकर्षित करने के लिए भजन-कीर्तन करते हैं- फिर वार्तालाप द्वारा उन्हें स्थानीय तथा देशी समाचार बताये जाते हैं। जिसमें मौसम का हाल, कृषि तथा उद्योग बन्धित समाचार मुख्य होते हैं। फिर २० मिनट तक उन्हें अक्षर ज्ञान कराया जाता है और फिर बातचीत एवं उपयोगी ज्ञान देने के पश्चात उनकी कक्षा समाप्त होती है। जहाँ तक सम्भव हो प्रौढ़ों की कक्षायें एक या डेढ़ घन्टे से अधिक न चलें क्योंकि अधिक समय लगने से उनका ध्यान उचटने लगता है और फिर प्रौढ़ केन्द्र में नहीं आते।

अक्षर-ज्ञान

प्रौढ़ों को अक्षर-ज्ञान कराने के लिये प्रत्येक प्रान्तीय भाषाओं में पुस्तकें लिखी गई हैं तथा उपयोगी चार्टों का प्रबन्ध किया गया है।

इसमें लौबक (Laubach) प्रणाली विशेष प्रसिद्ध है। श्री लौबक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वयस्क साक्षरता के एक विशेषज्ञ समझे जाते हैं। उन्होंने साहचर्य-सिद्धान्त के द्वारा अपने चार्ट बनाये हैं। सबसे पहिले उन्होंने कुछ ऐसे साधारण शब्द ले लिये हैं फिर उनका सम्बन्ध उन वस्तुओं से किया गया है जो वयस्क साधारणतः बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त करते हैं फिर उनका सम्बन्ध उन वस्तुओं से किया गया है जो वे वातावरण में देखते हैं। इस चार्ट में उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया है कि अक्षरों की बनावट और वस्तुओं के आकार में समता हो और इस प्रयत्न में उनके चार्ट कुछ अप्राकृतिक हो गये हैं। सामन्यतः प्रौढ़ों को अक्षर ज्ञान कराने में निम्नलिखित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिये :—

(१) प्रारम्भ में अक्षर वाक्यों द्वारा या वाक्यगत शब्दों द्वारा सिखाये जायें। यह प्रणाली अधिक मनोवैज्ञानिक एवं लाभ प्रद होती है।

(२) वाक्य या शब्द वयस्कों के दिन-प्रतिदिन के जीवन एवं कार्यों से सम्बन्ध रखते हों।

(३) यह आवश्यक नहीं है कि वर्णों को उनके परम्परागत क्रम में ही अभ्यास कराया जाय। आकृति-साम्य पर उनका क्रम अधिक-सुविधा जनक है।

(४) पाठ—छोटे और सरल हों तथा किसी कहानी और घटना के रूप में प्रस्तुत किये जाँय।

नव-साक्षरों का साहित्य

नव साक्षरों के साहित्य तैयार करने के लिये अखिल-भारतीय-प्रौढ़-शिक्षा-संघ तथा यूनेस्को (Unesco) दोनों ने परियाप्त प्रयत्न किया है। अखिल भारतीय-प्रौढ़-शिक्षा-संघ ने तो इस पर एक सेमिनार भी किया था। उनके निर्णय का शारांश पृष्ठ २२० पर है :—

नव-साक्षरों के लिये जिस साहित्य का निर्माण किया जाता है उसे तीन स्तरों में विभक्त किया जा सकता है:—

प्रथम, स्तर का साहित्य

द्वितीय स्तर का साहित्य

तृतीय स्तर का साहित्य

प्रथम और द्वितीय स्तर के साहित्य में यथा संभव संयुक्त अक्षरों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। तृतीय स्तर के साहित्य में संयुक्त अक्षरों का थोड़ा-थोड़ा प्रयोग हो सकता है। वस्तुतः अक्षरों और मात्राओं पर हमारा ध्यान उतना नहीं होना चाहिये। ऐसे वाक्यों और शब्दों का प्रयोग किया जाय जिनसे वयस्क अधिक परिचित हों और जिनका वे अपने दैनिक जीवन से अधिक सम्बन्ध जोड़ सकें।

वयस्कोपयोगी साहित्य भिन्न-भिन्न शैलियों में होना चाहिये किन्तु जिस क्रम से उनका उल्लेख किया जाता है उसी क्रम से उनको प्रधानता दी जानी चाहिये:—

कहानी

पद्य

इतिवृत्तात्मक गद्य

नाटक

वार्तालाप

चिट्ठी

साहित्योपयोगी विषय मुख्यतः द्वितीय और तृतीय स्तर के वयस्कों के लिये एक सूची दी जाती है। क्रम से उनका महत्व और प्रधानता अपेक्षित है:—

(१) स्वास्थय (२) जीवन चरित्र (३) खेती (४) सामाजिक कर्त्तव्य (६) प्रचलित उद्योग धंधे (७) ग्राम्य संगठन (८) ग्रामीण खेल (९) लोक-गीत और लोक-कथाऐं।
(१०) परम्परा और पौराणिक कथायें (११) पशुपालन एवं पशुचिकित्स (१२) पथ-चेतना (१३) स्थानीय भूगोल।

नव साक्षरों के साथ ही प्रौढ़ शिक्षकों को भी साहित्य की आवश्यकता होती है और उनके लिये साधारण निर्देश पुस्तिका (General Hand Book or Guide) और प्रत्येक-विषय के लिये अलग पुस्तकें आवश्यक हैं।

अभी तक नव-साक्षरों के साहित्य की बड़ी कमी है। पर अब इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

साक्षरता निश्चित रखने के उपाय

प्रौढ़ों को साक्षर एवं शिक्षित बना देने से ही सारा काम खतम नहीं हो जाता बल्कि साक्षरता के बाद ही उन्हें इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता होती है जो उनके शिक्षा प्रेम को जीवित रक्खे तथा ज्ञान बढ़ाने में सहायक हो। इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक विषय पर छोटी-छोटी उपयोगी पुस्तकें हों जो सरल तथा रोचक भाषा में लिखी हों और जिनकी छपाई और जिल्द सुन्दर हो। प्रत्येक केन्द्र में पुस्तकालय तथा वाचनालय का होना बहुत आवश्यक है। जहाँ तक सम्भव हो प्रौढ़ों के लिये विशेष समाचार पत्र छपने चाहिये। इस प्रकार के साहित्य-निर्माण में सरकार को विशेष सहायता देने की आवश्यकता है क्योंकि ऐसा साहित्य लाभप्रद नहीं होता अतएव प्रकाशक इस ओर विमुख रहते हैं।

साक्षरता नष्ट होने की सीमा

पहिले लोगों का बिश्वास था कि यदि प्रौढ़ों को उचित साहित्य न मिलेगा तो वे पुनः निरक्षर हो जायेगें। वास्तव में यदि उन्हें उचित साहित्य और प्रोत्साहन न दिया जाय तो नव-साक्षरों का बहुत सा ज्ञान नष्ट हो जायगा और वे ज्ञान-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकेगें। पर वे पुनः पूर्ण निरक्षर हो जायेंगे ऐसी कल्पना गलत है। इस प्रकार की पूर्ण निरक्षरता का औसत केवल ३ या ४ प्रतिशत होता है। वर्तमान अनुसंधानों से यह बात पूर्ण सिद्ध हो गई है।

केन्द्र सामग्रियाँ

एक समाज केन्द्र के लिये जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है उन्हें निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) शिक्षक, कार्यकर्ता एवं अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चारित शब्द।
(२) रेडियो अथवा ग्रामोफोन द्वारा पुनरुच्चारित शब्द।
(३) लिखित शब्द।
(४) चित्र, नक्शे, चार्ट, इत्यादि।
(५) प्रस्तुत अथवा पुनः प्रस्तुत पदार्थ यथा मूर्तियाँ, माडल (Model) नाटकीय दृश्य, स्वांग और प्रादर्शन आदि।
(६) फिल्म, फिल्म-स्ट्रिप और लैन्टर्न स्लाइड आदि।
(७) अजायब घर और प्रदर्शिनियों में सजाये गये पदार्थ।

ज्ञान संम्पादन में जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है उन्हें दो भागों में विभाजित किया जाता है:—

(१) पाठ्य-सामग्री।
(२) श्रव्य-दृश्य सामग्री।

पाठ्य सामग्रियों में निम्नलिखित वस्तुयें आती हैं:—

(१) पुस्तक-पुस्तिकायें।
(२) दैनिक-पत्र।
(३) पत्रिकायें।
(४) चार्ट, चित्र, नक्शे, ग्राफ आदि।
(५) श्याम-पट, स्लेट, पेन्सिल, कागज आदि।

श्रव्य दृश्य सामग्रियों में ग्रामोफोन, रेडियो, मैजिक लैनटर्न, फिल्म और फिल्म स्ट्रिप तथा प्रोजेक्टर आते हैं।

प्रौढ़ केन्द्र का कार्य-क्रम निम्न प्रकार का हो सकता है:—

(१) सामूहिक प्रार्थना।
(२) समाचार पत्रों से मुख्य सूचनायें देना।
(३) गांव की प्रमुख समस्यायें।
(४) साक्षरता कार्य।

नाम , गांव और पता लिखाना ।
पत्र लिखना , कहानी लिखना ।
सरल उपयोगी हिसाब-किताब ।
प्राइमर , पुस्तक का पठन-पाठन ।
रामायण अथवा इसी प्रकार की पुस्तकों का पाठन ।

(५) स्थानीय हस्त कला ।
(६) सम्मलित गायन ।

शिक्षण संस्थाओं द्वारा समाज शिक्षा

शिक्षण संस्थाओं द्वारा समाज सेवा और प्रौढ़-शिक्षा का काय प्रमुख रूप से किया जा सकता है । नैतिक दृष्टि से शिक्षण संस्थाओं की यह जिम्मेदारी भी है क्योंकि जिस समाज पर वे आश्रित हैं उस समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का उन्हें निर्वाह करना चाहिये एवं उन्हें जाग्रत करना चाहिये । विदेशों में शिक्षण-संस्थायें समाज-सेवा का प्रमुख कार्य करती हैं । इसके लिये पाठशाला के अधिकारियों को विशेष सुविधा देनी चाहिये । प्रायः प्रत्येक पाठशाला में अब इस प्रकार का कुछ न कुछ कार्य प्रारम्भ हो गया है । पाठशालाओं के कार्य निम्न-लिखित स्वरूप ले सकते हैं :—

(१) गाँव तथा मुहल्ले में सफाई तथा सेवा कार्य ।
(२) आकस्मिक परिस्थितियों में सहायता ।
(३) प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र का संचालन ।
(४) सांस्कृतिक मनोरंजन एवं लोक मंच का निर्माण ।
(५) शिक्षा-सप्ताह तथा प्रदर्शनी ।
(६) रक्षा-दल का निर्माण ।
(७) सार्वजनिक संस्थाओं की मरम्मत ।

शिक्षण संस्थाओं में जब सेवा कार्य हो तो उनका निरीक्षण बहुत अच्छी तरह होना चाहिये और इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि बालक संयत रूप से कार्य करें। जहाँ पर समाज सेवा अनिवार्य न

हो वहाँ पर बालकों को विशेष प्रमाण पत्र दे देना चाहिये। यदि सरकार समाज सेवा के कार्य को मान्यता प्रदान करने लगे तो इसे बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा। उत्तर-प्रदेश सरकार ने समाज-सेवा के विशेष शिक्षण-शिविर खोल रक्खे हैं तथा उनके चलित-दल (Mobile Squad) समाज सेवा के काम कर रहे हैं। प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय ने भी समाज-सेवा दल का संगठन कर रक्खा है। पर इनके कार्य अर्थाभाव के कारण ठीक ढंग से नहीं चलते। इसके लिये विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है तथा उनका यह ध्येय होना चाहिये कि वे विद्यार्थियों में सेवा की भावना भर दें तथा सेवा-कार्य उनकी आदत में आ जाय। राष्ट्र का कल्याण इसी में है। तुर्की, रूस और जापान में शिक्षकों और विद्यार्थियों ने इस क्षेत्र में बड़ा कार्य किया है।

विदेशों में प्रौढ़ शिक्षा रूस

विदेशो में प्रौढ़ शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार है। विशेष कर अमेरिका, इंगलैंड, रूस और डेनमार्क में। क्रांति के पहिले रूस की हालत भारत जैसी थी। वहाँ पर साक्षरता केवल ५ प्रतिशत थी। पर क्रांति के बाद रूस ने निरक्षरता निवारण के विशेष प्रयत्न किये। सब स्थानों पर 'रेडकारनर' खोले गये जहाँ पर निरक्षरों को साक्षर किया जाता था। पाठशाला एवं विश्वविद्यालयों को प्रौढ़ों को विशेष रूप से खोल दिया गया। दिन में पाठशालाओं में विद्यार्थी पढ़ते थे और रात को वयस्क। फल यह हुआ कि पिछले ५० वर्षों में रूस ने निरक्षरता का विनाश कर दिया।

इंगलैंड

अमेरिका और इंगलैंड में प्रौढ़ शिक्षा विशेष रूप से स्वैच्छिक-संगठनों के द्वारा चलाई जाती है। सरकार भी उसमें आर्थिक सहायता देती है। महाविद्यालय और विश्व विद्यालय में समाज सेवा-विभाग हैं जो नागरिकों को उत्तम जीवन व्यतीत करने में सहायता देते हैं।

डेनमार्क

प्रौढ़ शिक्षा का सबसे उत्तम कार्य डेनमार्क में होता है। उसके फोक हाई स्कूल (Folk High School) भारतीय अवस्थाओं के लिये अनुकरणीय हैं। यह विद्यालय विशेष रूप से सांस्कृतिक हैं और जनता को सम्मुन्नत जीवन की ओर अग्रसर करते हैं। अब उनमें व्यवसायिक विषयों का भी ज्ञान कराया जाता है। यह स्कूल विशेष रूप से ऐसे हैं जिनमें प्रौढ़ उस समय आकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं जब उनको अपने खेतों पर कोई काम नहीं रहता। उनका सामुहिक जीवन अनुकरणीय है।

असफलता के कारण

केन्द्रीय सरकार ने भी अब विदेशों की तरह ग्रामीण विश्व-विद्यालय, जनता-विद्यालय और ग्रामीण-हाई-स्कूल खोलने का निश्चय किया है। इस वर्ष केन्द्रीय सरकार ने दस ग्रामीण विश्वविद्यालय खोलने की घोषणा की है जिसमें वार्धा, विद्या भवन उदयपुर, जामिया मिलिया दिल्ली इत्यादि प्रमुख हैं।

उदासीनता

अभी तक भारतवर्ष में प्रौढ़-शिक्षा सफल नहीं हो सकी। इसका प्रमुख कारण है कि जनता का सक्रिय सहयोग नहीं प्राप्त होता। प्रौढ़ विशेष रूप से उदासीन रहते हैं और उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा-प्राप्त करने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं होती।

गरीबी

जनता में अत्याधिक गरीबी है। गरीबी के कारण लोग सदैव अपनी रोटी की ही चिंता में पड़े रहते हैं। इसमें शक नहीं कि गरीबी अनेक बुराइयों की जड़ होती है। इसी कारण लोग किसी प्रकार की शिक्षा को अमीरों का व्यसन समझते हैं। गरीब माँ-बाप शीघ्र ही अपने लड़कों को किसी न किसी प्रकार के काम में लगा देते हैं। स्वयं

अपनी शिक्षा पर कोई व्यय नहीं कर सकते। अतएव सरकार की ओर से प्रयत्न होने पर भी विशेष उन्नति नहीं हो पाती।

रूढ़ि

भारतीय नागरिक अपने जीवन की सफलता और असफलता को विशेष रूप से दार्शनिक-दृष्टि से देखता है। उसे जो भी सफलता या असफलता मिलती है उसे वह अपने प्राचीन कर्मों का फल ही समझता है। अतएव उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन करने का प्रयत्न नहीं करता। जीवन में कर्म के सिद्धान्त का यह गलत दृष्टि कोण है। कर्म तो जीवन को क्रियाशील बनाता है। अतएव हमें जन-साधारण के हृदय से इस प्रकार की निराशा की भावना दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली

वर्तमान शिक्षा ने प्रौढ़-शिक्षा पर बुरा-प्रभाव डाला है। शिक्षा के प्रभावों के कारण जन-साधारण की शिक्षा से श्रद्धा उठ गई। उनका यह निश्चित विचार हो गया कि शिक्षा हमें बेकार बनाती है। पढ़ लिख कर मनुष्य अपने घर के किसी प्रकार के कार्य के लायक नहीं रह जाता अतएव ऐसी शिक्षा से निरक्षरता ही अच्छी है। इस प्रकार की शिक्षा बालकों को घर बार छोड़ कर शहरों में भाग जाने को प्रोत्साहित करती है।

गलत तरीके

प्रौढ़-शिक्षा का पूर्ण-प्रश्न ही अभी तक गलत तरीकों से प्रारम्भ किया गया था। प्रौढ़ शिक्षा का सब भार प्राथमिक पाठशाला के अध्यापकों पर छोड़ दिया गया था। उन्हें न तो इसके लिये किसी विशेष प्रकार का प्रशिक्षण ही मिला था और न तो पारिश्रमिक स्वरूप विशेष आर्थिक लाभ ही होता था। फल यह होता था कि अपने कार्य से थके हुये होने पर वे इस कार्य में जुटते थे। यह प्राकृतिक है कि इस प्रकार

कार्य में जुटे रहने के कारण उन्हें प्रौढ़-शिक्षा के काम में विशेष रूचि नहीं रहती थी।

अर्थाभाव

स्वैच्छिक-संस्थाओं ने भी अर्थाभाव के कारण इस क्षेत्र में विशेष, सराहनीय कार्य नहीं किया। अभी तक प्रौढ़-शिक्षा के लिये न तो कोई उत्तम पद्धति ही निकल पाई थी और न तो इसके लिये कोई प्रशिक्षण की ही व्यवस्था थी। शिक्षा का यह क्षेत्र अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा नवीन है। इसमें अभी विशेष अनुसंधान भी नहीं हो पाया है। नव-साक्षरों के लिये पाठ्य पुस्तकें और पढ़ने योग्य साहित्य भी नहीं हैं। प्रौढ़ शिक्षा की इन कमियों को धीरे धीरे दूर किया जा रहा है।

प्रचार की कमी

प्रौढ़-शिक्षा की ओर अभी तक जनता का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है और न तो जन-साधारण अभी तक इसकी उपादेयता ही समझ पाये हैं। सरकार को जनता का ध्यान इधर आकर्षित करने के लिये अभी प्रचुर प्रचार करने की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ

अशिक्षित जन-समाज से व्यक्तिगत और स्थानीय समाज को ही हानि नहीं होती इससे विश्व शान्ति को भी खतरा है। आजकल प्रचार के इतने साधन बढ़ गये हैं और प्रचार इस प्रकार विषम हो गया है कि जन-साधारण को सत्य और असत्य मालूम करने में विशेष कठिनाई पड़ती है। कोई भी तानाशाह जनता को किसी प्रकार धोखा दे सकता है। द्वितीय महायुद्ध की विभीषिकायें अभी तक शान्त नहीं हुई हैं। अतएव यह आवश्यक है कि जन-साधारण की शिक्षा इतनी पर्याप्त रहे कि वह उचित निर्णय ले सकें और आवश्यकता पड़ने पर सरकार का भी मार्ग-निर्देशन कर सकें। इसलिये संसार में शिक्षा-प्रसार के लिये अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें भी काम कर रही हैं। युनेस्को (Unesco) ऐसे राष्ट्रों में जहाँ पर निरक्षरता अधिक है, मूल शिक्षा-प्रसार

(Fundameantal Education) में प्रयत्नशील है। भारत सरकार की सहायता से उन्होंने एशियाई देशों का मैसूर में एक प्रौढ़-शिक्षा का सिमेनार भी किया था

आशा है राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से भारत से निरक्षरता का कलंक शीघ्र दूर हो जायगा।

युनेस्को और साक्षता

संयुक्त राष्ट्र की निरक्षरता-अध्ययन सम्बन्धी रिपोर्ट से अभी विदित हुआ है कि सारे संसार के लगभग दो तिहाई मनुष्य पढ़ने अथवा समाचार-पत्र समझ सकने के अयोग्य हैं।

रिपोर्ट में कहा गया है कि हालांकि पढ़े लिखे आदमियों की संख्या में वृद्धि हुई है और इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने की कोशिश की जा रही है फिर भी संसार की जन संख्या की वृद्धि इतनी द्रुत गति से हो रही है कि निकट भविष्य में निरक्षरों की संख्या घटने की अपेक्षा बढ़ जाने की सम्भावना है।

डा० लूथर इवान्स जो युनेस्को के डाइरेक्टर जनरल हैं और जिन्होंने यह रिपोर्ट प्रकाशित की है उन्होंने कहा है कि हम लोगों की निरक्षरता के विरूद्ध प्रगति बहुत मंद है। संसार के केवल एक तिहाई व्यक्ति ही आज अखबार पढ़ या समझ सकते हैं। डा० इवान्स ने कहा कि आज के ७० करोड़ की निरक्षरों की संख्या न बढ़ने देने के केवल तीन ही उपाय हैं:— संसार की जन संख्या की वृद्धि रोकना, प्राथमिक पाठशालाओं में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाना और सक्रिय कार्यों से निरक्षर प्रौढ़ों की संख्या कम करना।

युनेस्को निरक्षरता के विषय में अध्ययन कर रहा है और साक्षर बनाने की विधियों को संतुलित कर रहा है। मेक्सिको और मिश्र में इसकी विकास योजनायें चल रही हैं। साथ ही भारत, कम्बोडिया, कोरिया, लाइबेरिया, पेरु, थाइलैन्ड, तुर्की और वाइटनाम सरकारों को साक्षरता केन्द्र खोलने के लिये यह सहायता दे रहा है।



६

स्त्री शिक्षा

स्त्री शिक्षा का महत्व

अंगरेजी में एक कहावत है, जो हाँथ पालने झुलाता है वही संसार का शासन भी करता है।* इस कहावत से माँ का बालकों के जीवन पर क्या प्रभाव है, स्पष्ट है। संसार में जितने भी महापुरुष हुये हैं उन्होंने अपने कार्यों में माँ का ऋण अवश्य स्वीकार किया है। एक अशिक्षित माँ अपने बालकों का पालन-पोषण किस प्रकार करेगी इसकी कल्पना भली भांति की जा सकती है। अतएव इसमें दो मत हो ही नहीं सकते कि स्त्रियों को शिक्षा दी जाय। हाँ यह शिक्षा किस प्रकार की हो और कैसे दी जाय यह अवश्य विवाद ग्रस्त विषय है। अक्सर स्त्री और पुरुष की तुलना परिवार में गाड़ी के दो पहियों की भांति की जाती है। यदि गाड़ी को ठीक प्रकार से चलना है तो उसके दोनो पहिये ठीक होने चाहिये। चाहे एक पहिया कितना भी सुन्दर क्यों न हों गाड़ी ठीक से नहीं चल सकती। वह समय चला गया जब स्त्री और बालक पुरुषों की सम्पति समझे जाते थे और पुरुष अपनी इच्छानुसार उनका क्रय-विक्रय कर सकता था। आज कल प्रत्येक सभ्य देश और समाज में स्त्री और पुरुष का स्थान बराबर है और उन्हें

* The hand that rocks the cradle, rules the world.

बराबर नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। भारतीय संविधान में जहाँ स्त्रियों को कुछ सुविधायें दी गई हैं वहाँ शासन के प्रत्येक क्षेत्र में उनको समानता दी गई है। जनतंत्रीय शासन पुरुष और स्त्री दोनों से समान बुद्धि और निर्णय की अपेक्षा करता है। शिक्षित भारतीय स्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे पुरुषों की अपेक्षा किसी भी क्षेत्र में कम नहीं हैं। स्वतंत्रता की लड़ाई में उन्होंने पुरुषों के साथ बराबर भाग लिया। आज कल भी भारतीय स्त्रियों ने शासन और समाज-सुधार के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलता पूर्वक कार्य किया है। अतएव उनकी शिक्षा आवश्यक ही नहीं है बल्कि सरकार को उनकी शिक्षा की विशेष व्यवस्था करनी चाहिये। वास्तव में भारत के विगत शताब्दियों में पिछड़े-रहने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि स्त्रियाँ अशिक्षित थीं।

भारत में स्त्री और पुरुषों की संख्या लगभग बराबर है। पर पुरुषों की शिक्षित संख्या स्त्रियों की संख्या से कहीं अधिक है। अतएव सरकार को स्त्रीयों के शिक्षा-प्रसार में विशेष प्रयत्न करना पडेगा।

प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा

ऐतिहासिक रूप से यदि देखा जाय तो प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा समुन्नत थी और स्त्रीयाँ पुरुषों के समकक्ष थीं। सभ्य-समाज में स्त्रियों का स्थान सदैव उच्च रहता है। असभ्य और बर्बर समाज में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे रहती हैं क्योंकि जहाँ शारीरिक-शक्ति पर कार्य संचालन होगा वहाँ वे अग्रणी नहीं हो सकतीं। वैदिक काल में स्त्रियों का समाज में आदर था। वे अर्धांगिनी समझी जाती थीं और पुरुष के साथ वैदिक-यज्ञों में भाग लेती थीं। उन्हें वैदिक मंत्रों का अध्ययन करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। बहुत सी स्त्रियों ने वैदिक ऋचाओं के संकलन में भी भाग लिया है। वैदिक युग में शिक्षा-जगत में प्रसिद्ध स्त्रियों में विश्ववारा, अपाला, घोषा, गार्गी और मैत्रयी प्रमुख हैं। वह शास्त्रार्थ में पुरुषों के साथ भाग लेती थीं। बहुत सी स्त्रियाँ आजन्म

ब्रह्मचारिणी रहती थीं और अपना सारा-जीवन शिक्षा-दीक्षा में व्यतीत करती थीं हालांकि इनकी संख्या समाज में कम ही रही होगी।

बुद्ध-धर्म में स्त्रियों को भी संघ में लिया जाता था। इस कारण उच्चस्तर की स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार बहुत बढ़ा। धर्म प्रचार के लिये वे विदेशों में भी जाती थीं। अशोक ने स्वयं अपनी पुत्री संघमित्रा को धर्म प्रचार के लिये लंका भेजा था। यह प्रथा हर्ष के समय तक जारी रही। हर्ष की बहन राज्यश्री हर्ष के साथ राज्य-कार्य में भाग लेती थी और हर्ष उससे परामर्श लेता था।

उत्तर वैदिक काल में जब यज्ञों और कर्मकाण्डों की अधिकता हुई तब शिक्षा के लिये अधिक समय की आवश्यकता पड़ने लगी। लड़कियों का विवाह अधिक से अधिक सत्रह या अठारह साल में हो जाता था। अतएव उन्हें वैदिक कर्मकाण्डों को पढ़ने और समझने के लिये अधिक समय नहीं मिलता था। अशुद्ध मंत्र-उच्चारण करने से, लोगों का विश्वास था, हानि होगी। अतएव धीरे धीरे लड़कियों का वैदिक मंत्रों का पढ़ना बंद हुआ और फिर उत्तर स्मृतिकारों ने लड़कियों का उपनयन बंद कर दिया। साथ ही उनकी वैदिक शिक्षा भी समाप्त हो गई। इसका स्त्री-शिक्षा पर कटु प्रभाव-पड़ा। धीरे धीरे वैदिक-मंत्रों को पढ़ने के लिये स्त्रियाँ वर्जित कर दी गईं और उनकी गणना शूद्रों में की जाने लगी।

प्राचीन काल में लड़कों की तरह लड़कियों की शिक्षा भी घर में ही दी जाती थी। पिता या परिवार का और कोई वृद्ध ही शिक्षक होता था। फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे स्थल आये हैं जब उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये लड़कियाँ आश्रमों में जाती थीं। कहीं कहीं पर तो विधवा या वृद्ध स्त्रीयाँ भी शिक्षा देती थीं और उनसे पढ़ने के लिये बाहर से लड़कियाँ आती थीं। सम्पन्न-व्यक्ति अपने लड़कियों की शिक्षा के लिये घर में हो प्रबन्ध करते थे। साहित्य और ललित कला ही स्त्री-शिक्षा के प्रिय विषय थे और उनकी शिक्षा का यह उद्देश्य नही था कि स्त्रीयाँ आर्थिक दृष्टि से पूर्ण हों। स्त्रीयों की आर्थिक-सम्पन्नता तो वर्तमान विचार है।

मध्यकाल में स्त्री-शिक्षा

मुसलमान काल में स्त्री-शिक्षा में और भी कमी हुई। राजनैतिक-क्रान्ति के कारण प्राचीन सम्पन्न परिवार नष्ट हो गये और उनकी आर्थिक अवस्था ऐसी नहीं रही कि वे अपनी लड़कियों की शिक्षा के लिये विशेष प्रबंध कर सकें। कुछ राजपूत अथवा धनी व्यक्ति लड़कियों की शिक्षा का प्रबंध करते थे। पर समाज पूर्ण रूप से स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध हो गया था। लोग स्त्रीयों को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे थे और समझते थे कि अक्षर ज्ञान से वे चरित्र भ्रष्ट हो सकती हैं। कुछ ऐसा भी विश्वास हो चला था कि पढ़ने-लिखने से स्त्री शीघ्र ही विधवा हो जाती है। स्त्री शिक्षा का १८वीं शताब्दी में ऐसा भयंकर ह्रास हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में केवल एक प्रतिशत लड़कियाँ ही लिख-पढ़ सकती थीं। वार्ड (Ward) ने लिखा है कि शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार हिन्दू औरतों को किसी प्रकार की शिक्षा वर्जित है और साधारण जनता का भी यही मत है। इसलिये लड़कियों के लिये सारे देश में कोई भी पाठशाला नहीं है। यह मत दूसरे छोर का है। भारत में उस समय भी स्त्री शिक्षा का प्रसार था और वार्ड ने स्वयं अन्य स्थलों पर इसे स्वीकार किया है कि स्त्री शिक्षा भारत में है और बहुत सी विदुषी औरते हैं। वास्तव में स्त्री-शिक्षा घरेलू वातावरण तक ही सीमित थी और उसका कोई संगठित रूप नहीं हो पाया था। हाँ यह मानना ही पड़ेगा कि स्त्री-शिक्षा का उस समय ह्रास था।

वर्तमान युग में स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों के लिये वर्तमान शिक्षा का प्रारम्भ इसाई पादरियों ने किया। ब्रिटिश-शासन ने इस क्षेत्र में एक दीर्घ काल तक कोई भी कदम नहीं उठाया। १८५४ में सरकार ने स्त्री-शिक्षा को सरकारी-शिक्षा का एक अंग स्वीकार कर लिया। लड़कियों के लिये सबसे पहिले १८१८ में चिनसुरा में रेवेरेन्ड में (Rev. May) ने एक स्कूल खोला। कुछ

समय बाद वह स्कूल बंद हो गया। एक साल बाद श्री कैरे (Carey) ने श्रीरामपुर में एक दूसरा स्कूल खोला। बैपटिस्ट-मिशन की अपील पर भारत की अंगरेजी औरतों ने कलकत्ता फीमेल जुवेनाइल सोसाइटी (Calcutta Female Juvenile Society) की स्थापना की। इस सभा के तत्वाधान में लड़कियों के लिये कलकत्ते में और आस-पास कई स्कूल खोले गये। सोसाइटी की मदद के लिये इंगलैन्ड की (Foreign Aid Society) फौरेन एड सोसाइटी ने मिस कुक (Miss Cooke) जो पीछे श्रीमती विल्सन के नाम से प्रसिद्ध हुईं, भेजा। कुछ समय बाद भारत के चर्च ने उनकी सेवायें स्वीकार कर लीं। श्रीमती विल्सन ने लड़कियों के शिक्षा का कार्य बड़ी शीघ्रता से प्रारम्भ किया। उन्हों ने बहुत सी पाठशालायें स्थापित कराईं। उनकी सहायता से कलकत्ते के आस-पास कुल २२ स्कूल खुल गये। इन स्कूलों का पाठ्यक्रम पढ़ना-लिखना, भूगोल और सिलाई का काम था। स्त्री शिक्षा का सबसे बड़ा काम श्री ड्रिंक वाटर बेथून (Mr. Drink Water Bethune) ने किया है। उन्हांने स्त्री शिक्षा के लिये १० हज़ार पौण्ड की अपनी सारी अर्जित सम्पति दे दी और इस धन से कलकत्ते में १८४६ में बेथून-स्कूल की स्थापना की गई। मिस्टर बेथून ने तत्कालीन भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौजी को भी इस कार्य में रुचि लेने के लिये प्रोत्साहित किया था। अतएव श्री बेथून की मृत्यु के बाद उस स्कूल का खर्च लार्ड डलहौजी ही चलाते थे।

इसके अलावा लार्ड डलहौजी ने सर्व-प्रथम स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये अपनी कार्य कारिणी में प्रस्ताव पास किया था :—

डलहौजी का प्रस्ताव

"गवर्नर-जनरल और उनके कार्य कारिणी का मत है कि भारतीय-लड़कियों की शिक्षा से यहाँ के निवासियों की बहुत सी समाजिक आदतों में सुधार होगा। साधारणत भारतीय लड़कियाँ अशिक्षा के अंधकार में ही बढ़ती हैं, लेकिन यह प्रथा उनके धर्म के भी विरुद्ध

है। वास्तव में धनी व्यक्ति लड़कियों को, घर पर शिक्षक रख कर उन्हें कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य देते हैं।"

"गवर्नर-जनरल और उनकी कार्य-कारिणी यह चाहती है कि शिक्षा-परिषद् को इस बात की सूचना दी जाय कि भविष्य में उनका कार्य स्त्री-शिक्षा का भी निरीक्षण करना होगा और जहाँ भी भारतीय नागरिक स्त्री-शिक्षा की ओर रुचि दिखायें उन्हें प्रत्येक प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाय। गर्वनर जनरल यह चाहते हैं कि प्रमुख सिविल अधिकारियों को इसकी सूचना दी जाय कि भारतीय-नागरिकों में स्त्री-शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है और उन्हें इस बात की भी सूचना दी जाय कि वे सभी सार्थक तरीकों से उसे प्रोत्साहित करने का प्रयत्न करें।"

१९५४ का अधिकार-पत्र

१८५४ के वुड्स के अधिकार-पत्र में डलहौजी द्वारा की गई सिफारिशों को दुहराया गया और स्त्री-शिक्षा के लिये आर्थिक-योग देने की सलाह दी गई। वुड्स के अधिकार-पत्र में यह निर्देश है कि, "हमने यह पहिले से ही राय प्रकट की है कि जिन पाठशालाओं को आर्थिक सहायता दी जाय उसमें लड़कियों के स्कूल भी शामिल हैं और इस दिशा में जो प्रयत्न हो रहे हैं उनसे हमारी पूर्ण सहानुभूति है। हमारे गवर्नर जनरल ने यह घोषणा की है कि भारतीय-स्त्री-शिक्षा को समुचित सहायता दी जाय और इससे हम सहमत हैं।"

इस प्रकार वुड्स के अधिकार पत्र के द्वारा सरकार की स्त्री-शिक्षा से उदासीनता दूर हुई और वे इसके प्रसार के लिये सहायता देने लगे। परन्तु इस पर भी सरकार ने स्त्री-शिक्षा की जिम्मेदारी नहीं ली और पाठशाला चलाने का प्रयत्न नहीं किया। इसलिये प्रगति कम रही। इसमें कुछ तो राज्य की उदासीनता थी और कुछ नागरिकों में प्रयत्न की कमी। सरकार तो उस दिन की बाट देख रही थी जब जनता में इतनी जागृति हो जायगी कि वह स्वयं स्त्री शिक्षा की माँग करेंगे। यह समय १९२० के पहिले नहीं आया। अतएव स्त्री-शिक्षा उन सब कठिनाइयों का सामना करती रही जो भारतीय-समाज में निहित थीं।

संक्षेप में भारतीय-स्त्री-शिक्षा का विकास धीमा था पर यह भारत के लिए ही कोई नवीन बात नहीं थी। प्रत्येक देश को स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है। परन्तु भारतीय-नेताओं के प्रयत्न से स्त्री-शिक्षा के विरोध में कमी हो रही थी और उनके प्रयत्न से बंगाल और उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानों पर विद्यालय खुल रहे थे। ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विद्यालय निरिक्षक के रूप में ४० बालिका-पाठशालायें खुलवाईं। समाज में पुनरूत्थान हो रहा था और सामाजिक कुरीतियाँ दूर हो रही थीं। अतएव बंगाल में ब्रह्म-समाज और बम्बई में पारसी स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान दे रहे थे।

१८७१ ई० में भारत वर्ष में बालिकाओं के लिए १३४ माध्यमिक और १७६० प्राथमिक पाठशालायें थीं। १८७८ में बूथेन स्कूल में विश्व-विद्यालय की कक्षायें प्रारम्भ की गईं जिनका सम्बन्ध कलकत्ता विश्व-विद्यालय से था। १८८४ ई० में पूना में महाराष्ट्रीय-स्त्री शिक्षा समिति की स्थापना की गई।

हन्टर-कमीशन और स्त्री-शिक्षा

भारतीय-शिक्षा-आयोग १८८२ (हन्टर कमीशन) ने स्त्री-शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया और उसके सुधार के लिए कई सुझाव दिए। सरकार ने उनकी कई सिफारिशों पर कार्य भी किया। लड़कियों के स्कूल के निरीक्षण के लिए एक बालिका-स्कूल निरीक्षिका की नियुक्त की गई तथा स्त्री-शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कई प्रशिक्षण विद्यालय भी खोले गये।

विश्वविद्यालयों द्वारा प्राथमिक अवरोध

पर जहां तक लड़कियों के लिये उच्च-शिक्षा की व्यवस्था का प्रश्न था भारतीय विश्व-विद्यालय उसे प्रोत्साहित नहीं करते थे। यह विशेष महत्व की बात है कि भारतीय विश्व-विद्यालय, वश्वविद्या-

लय की परीक्षाओं को केवल लड़कों के लिये ही समझते थे। १८५७ ई० में विश्व-विद्यालयों के सम्मुख एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न हुई। एक लड़की ने बम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में सम्मलित होने के लिये अनुमति मांगी और यह अनुमति विश्व-विद्यालय ने नहीं दी। उनकी राय में विश्व-विद्यालय के नियम में प्रत्येक स्थान पर जो सर्वनाम प्रयुक्त हुये हैं (He, Him, His) वे केवल पुरुषों के लिये हैं। अतएव कोई भी स्त्री परीक्षा में उपस्थित नहीं हो सकती। प्रार्थी को इसकी सूचना दे दी गई कि विश्व-विद्यालय के नियमों के अन्तर्गत स्त्रियों को विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में सम्मलित होने की अनुमति नहीं प्रदान की जा सकती। इस विषय को कलकत्ता विश्व-विद्यालय के पास भी मत के लिये भेजा गया पर कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने इस पर कोई निर्णय नहीं लिया और उन्होंने इस प्रश्न को टाल दिया। कलकत्ता विश्व-विद्यालय के सिन्डिकट ने प्रस्ताव पास किया कि किसी महिला ने परीक्षा में सम्मलित होने की अनुमित नहीं मांगी है और न भविष्य में ही किसी के अनुमति मांगने की आशा है अतएव यह प्रश्न ही आधार हीन है। पर कुछ महीनों के पश्चात् उनके सामने भी यह प्रश्न उपस्थिति हुआ जब देहरादून की कुमारी चन्द्रमुखी बसु नाम की एक ईसाई महिला ने परीक्षा में सम्मलित होने की अनुमति मांगी। उनका प्रार्थना पत्र अस्वीकृत हो गया पर उन्हें उन विषयों में परीक्षा देने की अनुमति मिल गई जो बालकों के लिये थे। मद्रास में १८८१ ई० में लड़कियों के लिए अलग से एक उच्च-परीक्षा की व्यवस्था की गई।

१८७७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने लड़कियों को मैट्रकुलेशन की परीक्षा में बैठने की अनुमति दी और विश्वविद्यालय की अन्य परीक्षाओं में बैठने से भी रोक हटा दी। १८८३ ई० में बम्बई विश्व-विद्यालय ने भी महिलाओं को परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी। मद्रास में १८६२ ई० में लड़कियों के लिए जो उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी वह समाप्त कर दी गई और लड़कियाँ विश्वविद्यालय की परीक्षाओं

में स्वीकृति की जाने लगीं। चन्द्रमुखी बसु और कादम्बनी बसू नाम की दो प्रथम भारतीय महिलाओं ने बी० ए० की परीक्षा पास की।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल

१६०१-०२ में सम्पूर्ण भारतवर्ष में महिलाओं के लिए १२ महाविद्यालय, ४६७ माध्यमिक पाठशालायें और ५,६२८ प्रार्थमिक पाठशालायें थीं जिनमें कुल ४४४,४७० लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं पाठशालाओं में १८८६-८७ में लड़कियाँ १'६ प्रतिशत १८६६-६७ में २'१ प्रतिशत और १६०१-०२ से २'२ प्रतिशत थीं। इससे प्रतीत है कि स्त्री-शिक्षा की प्रगति भारत में बहुत मंद थी।

१६०२ के पश्चात भारत में स्त्री-शिक्षा की प्रगति तीव्र हुई। शिक्षा विभाग ने सक्रिय रूप से बालिका पाठशालाओं और बालिका-विद्यालयों का संगठन प्रारम्भ कर दिया। जनता में जागृति आई और माता-पिता भी समझने लगे कि लड़कियों की शिक्षा उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी लड़कों की। राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार से शिक्षा प्रसार और बढ़ा। इसी समय अनिवार्य-शिक्षा विधेयक पास कराने का भी प्रयत्न होने लगा। फल स्वरूप स्त्री-शिक्षा का प्रसार तीव्रगति से हुआ। लड़कियों के लिये अलग स्कूल खुले। उनको पाठशाला ले जाने के लिये गाड़ियों का प्रबन्ध हुआ। बालिका पाठशालाओं के लिये अलग से निरीक्षका नियुक्त की गई। लड़कियों के स्कूल के लिये परियाप्त आर्थिक सहायता दी गई और शिक्षा-विभाग में औरतों को आकर्षित करने के लिये प्रयत्न किया गया। बालिकाओं के शिक्षा-समस्या के विषय में सुझाव देने के लिये उपसमितियाँ नियुक्त की गईं।

१६०४ में श्रीमती एनीबीसेन्ट ने वर्तमान ढङ्ग से हिन्दू धर्म के अनुसार लड़कियों को शिक्षा देने के लिए बनारस में सेन्ट्रल-हिन्दू स्कूल की स्थापना की। १६१६ में दिल्ली में महिलाओं के लिये अलग से लेडी हार्डिंग-मेडिकल कालेज खुला। १६१६ में महिलाओं के लिये १२ कला के महा-विद्यालय, ४ व्यवसायिक महा-विद्यालय और १६६

माध्यमिक विद्यालय थे। पाठशालाओं में लड़कियों की संख्या में भी वृद्धि हुई पर अधिकांशतः लड़कियाँ स्कूल की शिक्षा के बाद पढ़ाई बंद कर देती थीं। लड़कियों के पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में भी जनता में असन्तोष फैलने लग गया था। अधिकतर पाठशालायें बालकों की थीं और बालिकाओं की पाठशालाओं में भी बालकों के पाठशालाओं की तरह पाठ्य-क्रम था जो भारतीय बालिकाओं के लिये उपयुक्त नहीं है। इन त्रुटियों को दृष्टि में रख कर श्री जी० डी० कार्वे ने १९१६ में पूना में औरतों के लिए पूना-विश्वविद्यालय की स्थापना की जिसमें महिलाओं की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर शिक्षा दी जाती है।

स्त्री शिक्षा की सबसे अधिक प्रगति १९२० के बाद हुई। बहुत सी प्राचीन रूढ़ियाँ जो स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में रोड़ा थीं नष्ट हो रही थीं। शारदा-एक्ट से बाल विवाह अवैधानिक घोषित कर दिया गया। गांधी जी ने भी स्त्री-समाज से राष्ट्रीयता की अपील की। बहुत सी औरतों ने पर्दा छोड़ दिया महिला समितियाँ और सभायें साधारण हो गईं। अखिल भारतीय-महिला सम्मेलन में १९२७ में रानी साहेब संगली ने भाषण करते हुये कहा था, "एक समय था जब स्त्री-शिक्षा का भारत में कोई सहायक नहीं था बल्कि लोग उसकी आम खिलाफत करते थे। स्त्री शिक्षा प्रत्येक स्तरों से होकर गुजर चुकी है जिसमें लोग उदासीन थे, मजाक करते थे, आलोचना करते थे और अब उसे स्वीकार करने लगे हैं।"

१९४५-४६ में केवल अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत महिलाओं के लिये ४६ कला और विज्ञान के महा विद्यालय, १९ व्यवसायिक विद्यालय १,४५५ माध्यमिक पाठशालायें और २१,५६७ प्राथमिक पाठशालायें थीं जिसमें छात्रों की संख्या ४०,२०,४४८ थी। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान सालों में भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रसार बालकों के शिक्षा-प्रसार की अपेक्षा तीव्रतर रहा। लेकिन लड़कों और लड़कियों की शिक्षा में जो असमानता थी वह अब भी बनी है। लड़कियों की शिक्षा में बरबादी (Wastage) भी अधिक होती है। लड़कियों की संख्या लड़कों की अपेक्षा पाठशालाओं में केवल एक तिहाई है।

स्त्री-शिक्षा कीक ठिनाइयाँ

लड़कियों की शिक्षा में अन्य दिशाओं में भी उन्नति हुई है। लड़कियाँ अब पाठशालाओं में अधिक सालों तक शिक्षा ग्रहण करती हैं। लिन्ड से (Lindsay) आयाग ने लिखा है कि, "महिला-महाविद्यालय पुरुषों के महाविद्यालयों की अपेक्षा अधिक संतोष जनक हैं। उनमें शिक्षकों की संख्या अच्छी है और विद्यार्थियों की संख्या भी इतनी ही है जिसका प्रबन्ध किया जा सके। उनमें व्यक्तिगत ध्यान अधिक दिया जाता है।" यह और सन्तोष जनक है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलायें परीक्षाओं में विशेष योग्यता दिखाती हैं। फिर भी स्त्री-शिक्षा की अनेक समस्यायें हैं। अब भी इस देश में १७ करोड़ से अधिक स्त्रियाँ अशिक्षित हैं। उनके पाठ्य-क्रम उनके भविष्य के जीवन और वातावरण से साम्य नहीं रखते। सह-शिक्षा की समस्या का हल अब भी नहीं निकल पाया है। इसके अलावा प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की कमी तथा आर्थिक और सामाजिक कुरीतियाँ हैं जो स्त्री शिक्षा की प्रगति में बाधक हैं।

सबसे पहिला प्रश्न जो स्त्री-शिक्षा के विषय में उठता है वह यह कि क्या लड़कों और लड़कियों की शिक्षा अनुरूप होनी चाहिए ?

लड़कियों का पाठ्य-क्रम

लड़कों और लड़कियों के शारीरिक और सामाजिक-जीवन में विभिन्नता होती है। उनकी रुचि भी साधारणतः भिन्न होती है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर भी लड़कों और लड़कियों में विशेष अन्तर होता है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा जल्दी बढ़ती हैं। वे लड़कों की अपेक्षा शीघ्र बोलती भी हैं। उनमें साहित्यिक अभिरुचि अधिक होती है। किशोर-काल में तो लड़कों और लड़कियों के शारीरिक और मानसिक विकास में अधिक अन्तर हो जाता है। लड़कियों का किशोर-काल शीघ्र प्रारम्भ हो जाता है। उनमें शारीरिक शक्ति

लड़कों की अपेक्षा कम होती है और वे अधिक कष्ट भी नहीं सहन कर सकतीं। जहाँ तक सहज-बुद्धि का सम्बन्ध है वह लड़कियों और लड़कों में समान होता है। लड़कों और लड़कियों के रुचि के विषय में जानकारी प्राप्त की गई थी। अधिकतर लड़कियों ने शिक्षक बनना, नर्स बनना या समाज सेवा के अन्य कार्य पसन्द किए थे। बालक इञ्जीनियर, डाक्टर या सेना में जाना पसन्द करते हैं।

इसी प्रकार समाज में भी अधिकतर औरतों को पारिवारिक भार उठाना पड़ता है और पुरुष बाहर जाकर कार्य करते हैं। हालांकि नागरिकता के अधिकार पुरुष और स्त्रियों को समान हैं और स्त्रियाँ आर्थिक स्वतन्त्रता की ओर भी अग्रसर हो रही हैं पर अगली कई दशाब्दियों तक समाज का ढाँचा यही रहेगा। अतएव यह आवश्यक है कि समाजिक और मानसिक आवश्यकताओं का ध्यान रखकर ही बालिकाओं का पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय। यद्यपि वर्तमान समय में औरतों ने प्रत्येक प्रकार के पाठ्यक्रम लिए हैं और बहुत सी उसमें सफल भी हुई हैं पर बहुसंख्यक औरतें पुरुषों का पाठ्य-क्रम नहीं पसन्द करतीं। अतएव माध्यमिक स्तर पर जहाँ तक सम्भव हो प्रत्येक बालिका-पाठशाला में अन्य विषयों के साथ ललित कला और गृह-विज्ञान पढ़ाने का प्रबन्ध होना चाहिए उनके अन्तर्गत निम्न विषय आते हैं :—

ललित-कल

(१) कला का इतिहास
(२) ड्राइङ्ग और डिजाइनिंग
(३) पेन्टिङ्ग
(४) माडलिङ्ग
(५) सङ्गीत
(६) नृत्य

गृह-विज्ञान

(१) घरेलू अर्थशास्त्र
(२) न्युट्रिशन और कुकरी
(३) मदर क्राफ्ट
(४) हाउस होल्ड मैनेजमेन्ट एण्ड होम नर्सिंग

माध्यमिक शिक्षा आयोग

माध्यमिक-शिक्षा-आयोग ने लिखा है कि अब पुरुषों और औरतों के लिए समान सुविधायें प्राप्त हैं। अतएव आयोग की राय में समाजिक-विकास की इस अवस्था में औरतों की शिक्षा के लिए अलग व्यवस्था करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हर प्रकार की शिक्षा जो पुरुषों को प्राप्त है उसे औरतें भी ग्रहण कर सकती हैं। परन्तु उन्होंने आगे यह लिखा है कि औरतों को समाज में दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। एक तो सामाजिक और दूसरा पारिवारिक। अगर गृह विज्ञान और विशेष कर उसके व्योहारिक स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया जाय, जिसमें जीवन की नित्य-प्रति की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न हो तो जीवन और पाठशाला की, तथा घर और समाज के बीच जो खाई है वह कम हो जायगी तथा उससे बालिकाओं के भविष्य-जीवन की तैयारी हो जायगी जिसमें गृह-सञ्चालन निश्चय ही प्रमुख-स्थान ग्रहण करेगा। एक शिक्षित लड़की जो अपनी आय के अनुसार परिवार भली-भाँति नहीं चला सकती वह अपने परिवार की प्रसन्नता और उन्नति में हाथ नहीं बटा सकती और न तो वह राष्ट्र का सामाजिक स्तर ही उठा सकती है।

सह-शिक्षा

दूसरी समस्या सह-शिक्षा की है? इस पर दो दृष्टि कोण हैं—एक तो किसी प्रकार की सह-शिक्षा चाहे वह प्राथमिक स्तर पर ही क्यों न हो पसन्द नहीं करता, दूसरे प्रत्येक स्तर पर सह-शिक्षा चाहते हैं। उनके अनुसार औरतों की शिक्षा का अलग प्रबन्ध करना श्रम और धन दोनों की हानि है। वास्तव में स्त्री-शिक्षा का यह बहुत ही जटिल प्रश्न है।

मार्च १९३४ में (Inter University Board) अन्त-विश्वविद्यालय सङ्घ को यह प्रश्न दिया गया। परन्तु इस पर उन्होंने कोई निश्चित मत नहीं दिये। बहुमत सह-शिक्षा की ओर ही था। वास्तव

१६

में वयस्क स्तर पर जहाँ पर कानून, डाक्टरी या कला की पढ़ाई होती है वह सह-शिक्षा नहीं बल्कि वह समान-अभिभाषण है। उसका और शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कभी कभी सह-शिक्षा के लिए लोग पेस्टोलाजी : (Pestalozzi) नामक प्राचीन शिक्षा-शास्त्री का कथन प्रयुक्त करते है कि सह-शिक्षा में लड़के और लड़कियाँ घर के ही समान एक से वातावरण में भाई-बहन की तरह शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु यह दृष्टान्त प्राकृतिक नहीं है। विभिन्न माता-पिता के तथा अनेक सामाजिक वातावरण से आये बालक एक ही माता-पिता के बच्चों की तरह भाई-बहन का सा वर्ताव नहीं कर सकते। लड़के यह अन्तर बहुत जल्द समझ जाते हैं। एक अच्छे परिवार का वातावरण अनोखा होता है। उसकी समता पाठशाला के वातावरण से नहीं की जा सकती।

दूसरा तर्क जो सह-शिक्षा के सन्बन्ध में दिया जाता है वह यह है कि बालकों और बालिकाओं को भविष्य में साथ-साथ पारिवारिक जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतएव उनकी शिक्षा भी साथ साथ हो तो अधिक स्वाभाविक है। इस प्रकार वे एक दूसरे के सम्पर्क में अधिक आ सकेगें और एक दूसरे की समस्यायें समझ सकेंगे। डा० यस हावर्ट ने कहा है कि "यदि शिक्षा-जीवन की तैय्यारी है तो सह-शिक्षा इसका एक बड़ा साधन है। विद्यार्थी जीवन में लड़कों और लड़कियों को अलग-अलग पढ़ाना और फिर उन्हें समाज में एक साथ फेंक देने से उनमें सहयोग उत्पन्न होगा, ऐसी आशा करना एक जुआड़ी की आशा है।"

सत्य तो यह हैं कि सहशिक्षा में लड़के और लड़कियों का प्रभाव भी एक दूसरे पर अच्छा नहीं पड़ता। सहशिक्षा के समर्थक डा० हावर्ट का कहना है कि लड़के और लड़कियों के एक साथ रहने से एक दूसरे पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। लड़कों का व्यवहार अधिक सांस्कृतिक और सौम्य हो जाता है और लड़कियों में स्वतन्त्रता तथा विश्वास की भावना बढ़ती है। एलाइस उड का कहना है कि "सच तो यह है कि

प्रत्येक पुरुष या स्त्री दूसरे के सम्मुख अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में आने का प्रयत्न करती है।" साम्राज्ञी विक्टोरिया के कहने में कि उनके कोई भाई नहीं था जो उनकी शून्य शान्ति को अपनी दृढ़ता या हंसी मजाक से विनष्ट करता, कुछ सत्य का अंश है। परन्तु अनुभव से सिद्ध होता है कि ऐसी अवस्था में लड़कों में जनानापन, और लड़कियों में मर्दानगी आने लगती है, जो अप्राकृतिक है।

वास्तव में लडकों और लड़कियों को एक दूसरे का पूरक होना चाहिए। जो गुण दूसरे में नहीं है वह मिलकर पूर्ण हो। पर एक साथ रहने से जो समानता विकसित हो जायगी उसमें पूर्णता की मात्रा नहीं रहेगी। अमेरिका, रूस और स्काटलैण्ड आदि देशों में जहाँ पर सहशिक्षा अधिक है वहाँ पर वैवाहिक जीवन अधिक सुखी है इसमें शक है क्योंकि वहाँ पर कैथोलिक मतावलम्बियों की अपेक्षा जिनके यहाँ सह-शिक्षा कम है, तलाक अधिक होता है।

सह-शिक्षा में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसे प्रत्येक आयु के बालकों के साथ नहीं लागू किया जा सकता। पठन-पाठन के अवसर पर अध्यापक को दैनिक-जीवन से और सामाजिक वातावरण से अनेक उदाहरण देने पड़ते हैं। जो उदाहरण लड़कों की कक्षा के लिए उपयुक्त हो सकते हैं वह लड़कियों की कक्षा के लिए नहीं। कोई भी अध्यापक अनुपयुक्त उदाहरण देकर सह-शिक्षा की कक्षा में अपने को मूर्ख ही बनावेगा।

कभी-कभी सहशिक्षा आर्थिक-बचत के लिए दी जाती है। परन्तु सह-शिक्षा की पाठशाला में भी लड़कियों की व्यवस्था और उनकी सुविधा का प्रबन्ध करना पड़ता है तथा उसके योग्य पाठ्य-क्रम की व्यवस्था करनी ही पड़ती है। सह-शिक्षा के समर्थक पाठशाला की व्यवस्था के लिए अनेक बन्धन बताते हैं। उनके अनुसार पाठशाला के प्रबन्ध और अनुशासन में काफी सतर्कता रखनी चाहिये। लड़कों तथा लड़कियों को बिना किसी कारण मिलने की सुविधा नहीं देनी चाहिए। वास्तव में सहशिक्षा के समर्थक सह-शिक्षा के लिए जो पूर्व-

सावधानी की व्यवस्था करते हैं उससे ही उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती। सहशिक्षा के समर्थक लड़कों और लड़कियों को मिलने की सुविधा कक्षा के शान्त वातावरण के अलावा और कहीं नहीं देना चाहते।

प्राथमिक स्तर पर लड़कों और लड़कियों की शिक्षा एक ही पाठशाला में हो सकती है। वयस्क होने पर विश्व-विद्यालय में उनकी शिक्षा एक साथ हो सकती है। वास्तव में कठिनाई किशोर-काल में होती है, जब उनकी आयु और विचारों में प्रौढ़ता नहीं रहती। उनकी मानसिक रुचि विभिन्न होती है। अतएव माध्यमिक स्तर पर बालकों और बालिकाओं की पाठशालायें अलग-अलग होनी चाहिये।

माध्यमिक-शिक्षा-आयोग ने इस विषय में अपना मत निम्न-प्रकार से दिया है :—

"हमें मालूम पड़ता है कि सह शिक्षा के सम्बन्ध में कोई कठोर नीति नहीं धारण की जा सकती। इस सम्बन्ध में हमारे पाठशालाओं का संगठन समाज से जिसमें पाठशाला स्थित है उससे आगे नहीं जा सकता। हमारी राय है कि जहाँ तक सम्भव हो (माध्यमिक स्तर पर) लड़कियों के लिये अलग स्कूल खोले जाँय क्योंकि ऐसे स्कूल सहशिक्षा के स्कूलों की अपेक्षा शारीरिक, सामाजिक और मानसिक विकास के लिये अधिक अवसर प्रदान करेंगे और प्रत्येक राज्य को ऐसे स्कूल परियाप्त संख्या में खोलना चाहिए। लेकिन लड़कियों के लिए यह स्वेच्छा रहनी चाहिए, कि जिनके माता-पिता को कोई संकोच नहीं है कि वे लड़कों के स्कूल में भी पढ़ सकें।"

पर जनतन्त्रीय समाज में जहाँ पर पुरुष और औरत को एक सी नागरिकता का निर्वाह करना है उन्हें दो भिन्न प्रकार के मानसिक विकास की सुविधायें नहीं प्रदान की जा सकतीं। परन्तु आयोग का मत है कि सहशिक्षा की पाठशालाओं में भी लड़कियों के योग्य पढ़ाने के विषय की सुविधा रहनी चाहिए।

है कि स्त्री-शिक्षा में अधिक बरबादी होती है। फिर विवाह हो जाने पर स्त्रियों का जीवन अधिकतर पति की इच्छा पर निर्भर रहता है। अक्सर स्त्रियाँ विवाह के बाद नौकरी छोड़ देती हैं। अतएव प्रशिक्षित अथवा योग्य अध्यापिकाओं की कमी के कारण भी स्त्री-शिक्षा का पूर्ण प्रचार नहीं हो पाता।

प्रौढ़-स्त्री-शिक्षा

इसी समस्या से सम्बन्धित प्रौढ़-औरतों की शिक्षा की समस्या है। वास्तव में प्रौढ़-औरतों की शिक्षा प्रौढ़-आदमियों की शिक्षा से और कठिन है। प्रौढ़-औरतें सबेरे-शाम परिवार के कार्य में व्यस्त रहती हैं। अतएव वह शिक्षा के लिए नहीं आ सकतीं। उसके लिए उपयुक्त समय २ से ४ बजे शाम का होता है। फिर प्रौढ़-औरतों को शिक्षा देने के लिए शिक्षित औरतों का मिलना और मुश्किल है। इन्हीं कारणों से प्रौढ़-औरतों की साक्षरता मर्दों की अपेक्षा पीछे है।

अनुपयुक्त पाठ्य-क्रम

स्त्री-शिक्षा के विकास में अड़ंगा डालने वाला सबसे बड़ा कारण पाठ्य-क्रम की अनुपयुक्ता है। साधारण पाठशालाओं में जो शिक्षा दी जाती है वह सामाजिक और पारिवारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है। उससे सामाजिक असमानता और बढ़ जाती है। जो विषय पाठशाला में पढ़ाये जाते हैं उनका ग्राहस्थ्य-जीवन में कोई उपयोग नहीं होता। अतएव साधारण माता-पिता का वर्तमान शिक्षा से विश्वास उठ गया है और वह इस प्रकार की शिक्षा अपने लड़लियों को नहीं दे सकते।

आशा है कि निकट भविष्य में सरकार के सक्रिय कार्य और समाज के सहयोग से स्त्री-शिक्षा की वर्तमान समस्याओं का उचित हल निकल आवेगा और भारत की सुशिक्षित नारियाँ प्राचीन-काल की भाँति समाज में अपना पुनः स्थान बना सकेंगी जिसके उदाहरण उन्होंने वर्तमान काल में भी दिये हैं।



७

शारीरिक शिक्षा

शारीरिक-शिक्षा का महत्व

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिये शारीरिक शिक्षा का उतना ही महत्व है जितना मानसिक या आध्यात्मिक शिक्षा का। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा का उचित सामञ्जस्य आवश्यक है। जिस प्रकार किसी चित्र में यदि अकृति का सिर बड़ा हो और हाँथ पैर तथा अन्य भाग बहुत कृष हों तो अच्छी नहीं लगेगा या हाँथ-पैर और अन्य भाग बहुत तन्दुरुस्त हों और सिर बहुत छोटा हो तो अच्छा नहीं लगेगा उसी प्रकार यदि कोई मनुष्य बहुत विद्वान हो पर शारीरिक दृष्टि से अनुपयुक्त और और अस्वस्थ्य हो तो समाज की अधिक भलाई नहीं कर सकता।

उचित-शिक्षा के लिये उचित स्वास्थ्य आवश्यक है। कहावत भी है कि स्वस्थ्य मस्तिष्क, स्वस्थ्य शरीर में ही रहता है। किसी भी कार्य के लिए चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, स्वास्थ्य बहुत आवश्यक है। पिछले दो महायुद्धों में लोगों के जो स्वास्थ्य परीक्षण हुये उनसे स्पष्ट है कि जन-संख्या का एक, बहुत बड़ा भाग सैनिक कार्य के लिये उपयुक्त नहीं है और उनमें कोई अस्वस्थ्यता अवश्य है। शारीरिक स्वास्थ्य की कमी से देश को दो तरह से हानि होती है—एक तो

अस्वस्थ्य मनुष्य कार्य नहीं कर सकता तो देश को उसकी शक्ति का पूर्ण लाभ नहीं हो पाता, दूसरे अस्वस्थ्य मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये देश को अस्पताल और दवाइयों पर राष्ट्र की आय का एक बहुत बड़ा भाग खर्च करना पड़ता है।

भारतीय विद्यालयों में स्वास्थ्य-शिक्षा की कमी

उचित-स्वास्थ्य की सब से बड़ी आवश्यकता बाल्य-काल और किशोर काल में पड़ती है। इस समय बालकों का शारीरिक विकास बहुत तीव्र होता है। अतएव यदि उन्हें स्वास्थ्य-प्रद भोजन और उचित व्यायाम का अवसर और अवकाश नहीं मिला तो उनका स्वास्थ्य सदैव के लिये खराब हो जाता है और भविष्य में बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं बनता। अतएव प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाओं में शारीरिक शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। भारतवर्ष के प्रायः ६० प्रतिशत विद्यार्थियों को उपयुक्त भोजन नहीं मिलता। ८० प्रतिशत से अधिक विद्यार्थियों के लिये खेलने का उचित प्रबन्ध नहीं है। ५० प्रतिशत से अधिक विद्यार्थी अन्धेरे और गन्दे घरों में रहते हैं जिसमें हवा और रोशनी अच्छी तरह से नहीं आती। इन सब कारणों से उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वे बीमारी के शिकार हो जाते हैं।

शारीरिक शिक्षा और समाज

स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि भारत को अब भागवत गीता की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो अब खेल के मैदान चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि बालकों को शारीरिक शिक्षा की उतनी ही आवश्यकता है जितनी मानसिक शिक्षा की। हमारी वर्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि यह अधिक संकीर्ण, साहित्यक और पुस्तकों पर आधारित थी। इसमें शरीर और समाज की वास्तविक आवश्यकताओं को स्थान नहीं था। समाज में भी जो मनुष्य शरीर के प्रति अधिक ध्यान देता था उसे लोग नीची-दृष्टि से देखते थे। इसलिये अब इस दृष्टिकोण में परिवर्तन की अवश्यकता है।

व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय रक्षा के लिये शारीरिक स्वास्थ्य उतना ही आवश्यक है जितना सांस्कृतिक और समाजिक उन्नति के लिये मानसिक शिक्षा और बौद्धिक विकास। अब इस ओर शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान आकर्षित हुआ है और आशा है निकट भविष्य में समुचित ध्यान दिया जायगा।

प्राचीन भारत में शारीरिक शिक्षा

शारीरिक शिक्षा की परम्परा भारतीय-शिक्षा में बड़ी पुरानी है। प्राचीन भारत में २५ वर्ष तक विद्यार्थी ब्रम्हचारी रहकर विद्या अभ्यास करता था। ब्रम्हचर्य-अवस्था में शारीरिक स्वास्थ्य का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। भारतीय शिक्षा आश्रम भी ऐसे स्वास्थ्यकर स्थानों में बने हुये थे जहाँ पर प्राकृतिक रूप से मनुष्य शुद्ध-वायु और जल का सेवन कर सकता था। सुरम्य स्थानों में विद्या वनस्थली प्राकृतिक रूप से ही विद्याथियों के स्वास्थ्य की ओर सजग रहती थी। इनके साथ ही

अखाड़ा

अखाड़ों और योगाभ्यास की प्रथा थी। अखाड़ों में अधिक व्यय नहीं था। खुले स्थान पर पृथ्वी का एक छोटा सा टुकड़ा जिसे सींच कर मिट्टी मुलायम कर ली जाती थी, अखाड़े की सारी आवश्यकता थी। साथ ही लकड़ी के दो टुकड़ों से मुगदर बना लिया जाता था। सब लोग प्रातःकाल या सायं अखाड़े में एकत्रित होते थे और वहीं पर दण्ड बैठक करते अथवा मुगदर भांजते थे। यह शारीरिक क्रियायें उपयुक्त और स्वास्थ्यकर होती थीं। इन्हीं अखाड़ों में कभी कभी लाठी चलाना तीर और तलवार चलाना तथा गदे का प्रयोग भी बताया जाता था। वर्तमान काल में अखाड़ों का ह्रास हो गया है और कुश्ती-लड़ना या मुगदर भांजना कुछ पेशेवर पहलवानों का ही व्यवसाय हो गया है जिसे देखने के लिये पढ़े-लिखे आदमी कभी-कभी पहुँच जाते हैं। यह अवस्था बड़ी दयनीय है। वास्तव में स्वास्थ्य-शिक्षा की सर्व-प्रियता के लिये आवश्यक है कि अखाड़ों की प्राचीन परम्परा पुनर्जीवित की जाय और उन्हें वर्तमान वातावरण के उपयुक्त बनाया जाय।

योगाभ्यास

शारीरिक स्वास्थ्य का नैतिक-विकास एवं आत्म चिंतन के साथ जैसा अच्छा सामंजस्य प्राचीन आर्यों ने अपने योगाभ्यास में किया था वह एक अनोखी चीज है और संसार में अन्यत्र अप्राप्य है। आर्य एक योद्धा ही नहीं था, वह एक विचारक भी था। अतएव प्रातःकाल जब वह संध्या करता था तब प्राणायाम करना आवश्यक था।

प्राणायाम आसन

प्राणायाम में सांस की प्रक्रिया के द्वारा आन्तरिक मान्सपेशियों की कसरत होती है। आर्यों को यह भली भांति मालूम था कि आत्मचिंतन तभी हो सकता है जब शरीर को वश में रखा जाय और शरीर को आत्म विकास के लिये तभी प्रयुक्त किया जा सकता है जब दोनों में सहयोग और सामञ्जस्य है। अतएव योगिक क्रियायों में जो कसरतें हैं वह आसनों के रूप में हैं जिसमें शरीर के विभिन्न अवयवों को तोड़-मोड़ कर एक विशेष अवस्था में रक्खा जाता है जिससे सम्पूर्ण मान्स-पेशिओं पर मानसिक अधिकार प्राप्त हो जाता है तथा शारीरिक क्रियाओं और स्वांस पर भी अधिकार प्राप्त होता है।

शारीरिक शिक्षा के वर्तमान प्रयत्न

उन्नीसवीं शताब्दी में जो भारतीय शालायें थीं उनमें अखाड़ों और योग की कुछ प्राचीन परम्परा तो जीवित थी पर सामुहिक रूप से संग-ठित शारीरिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। वर्तमान शिक्षा के प्रारम्भिक काल में भी लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ। सबसे पहले १८८२ ई० में प्रथम भारतीय शिक्षा आयोग ने शिक्षकों एवं निर-क्षिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। उन्होंने सिफारिश की कि शारीरिक-विकास को स्थानीय खेल, जिमनैस्टिक और स्कूल-ड्रिल तथा दूसरी उपयुक्त कसरतों के द्वारा प्रोत्साहित किया जाय। बहुत दिनों तक इस पर कोई सक्रिय कार्य नहीं हो पाया। १९१७ में कलकत्ता-विश्व-

विद्यालय आयोग ने विद्यालयों में एक शारीरिक-शिक्षा संचालक तथा विद्यार्थी-सेवा बोर्ड के स्थापना की पुनः सिफारिश की। शिक्षा में अब जागृति हो रही थी और राष्ट्रीय नेताओं का भी ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा था। अतएव विश्वविद्यालयों और माध्यमिक पाठशालाओं ने स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षा का प्रबन्ध किया। १६४८ में राधाकृष्णन रिपोर्ट ने भारतीय विश्वविद्यालयों में इस कमी की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया और अब प्रत्येक विद्यालय इस कमी को पूरी करने का प्रयत्न कर रहा है।

शारीरिक-शिक्षा और स्वास्थ्य की महत्ता सभी मानते हैं। इसलिये स्वास्थ्य का एक अनिवार्य विषय माध्यमिक पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में रक्खा गया है। प्रत्येक पाठशाला में एक खेल का निरीक्षक या स्वास्थ्य संचालक रहता है। परन्तु अब भी यह व्यवस्था बहुत संकुचित है और शीघ्रातिशीघ्र इसमें विकास करने की आवश्यकता है।

शारीरिक शिक्षा की परिभाषा

"शारीरिक-शिक्षा, शिक्षा की वह अवस्था है जो शारीरिक क्रियायों द्वारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास करने का प्रयत्न करती हैं।"* ब्रिटिश मेडिकल एसोसियेशन ने शारीरिक शिक्षा का निम्न उद्देश्य घोषित किया है:—

शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य है कि वह शरीर का जहाँ तक सम्भव हो विकास करे और उन्हें उसी अवस्था में स्वस्थ्य रक्खे जिससे वह मानसिक और चारित्रिक विकास में सहायक हों। यदि हम शारीरिक शिक्षा के उद्देश्यों की ओर देखें तो उनके मूल में हमें निम्न सिद्धान्त मिलेगें:—

---

*Physical Education is that phase of education which has to do with the development and training of the whole individual through physical activities" Modern Philosophy of Education, P. M.

उद्देश्य

(१) शारीरिक क्रियाओं द्वारा शारीरिक अवयवों का विकास।

(२) शरीर की उन मान्सपेशियों (Neuro-Muscular System) का विकास ताकि वे मूल क्रियायें जो उन पर आधारित हैं उन पर नियन्त्रण किया जा सके।

(३) शारीरिक क्रियायों एवं स्वास्थ्य के प्रति रुचि एवं उचित भावनाओं का विकास।

(४) उपयुक्त सामाजिक रुचि और कार्यों का विकास।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शारीरिक-शिक्षा का केवल यही उद्देश्य नहीं कि शरीर ही स्वस्थ्य रक्खा जाय बल्कि यह उस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होती है जिसके लिये मनुष्य की रचना की गयी है और वह है व्यक्तित्व के विकास के द्वारा पूर्ण आनन्द की प्राप्ति। इस में शारीरिक विकास आत्मिक विकास का एक अंग है। अतएव शिक्षा में शारीरिक शिक्षा भी सम्मलित रहती है क्योंकि शरीर आत्मा का साथी है। शारीरिक शिक्षा के द्वारा बालक और बालिका में निम्नलिखित तात्कालिक उद्देश्यों के प्राप्ति की आशा की जाती है:—

(१) मन बहलाव।

(२) प्रसन्नता।

(३) समुदाय के साथ सहयोग।

(४) शक्ति और सहनशीलता (Strength and Endurance)।

(५) अच्छा स्वास्थ्य (Good Physique)।

(६) आकर्षक व्यक्तित्व: लड़कियों के लिये।

(७) अच्छे ढंग से खेल खेलना।

(८) व्यक्तिगत-महत्ता।

(९) दूसरों के द्वारा सराहना।

शारीरिक-शिक्षा बनाम स्वास्थ्य शिक्षा

शारीरिक शिक्षा का एक दूसरा अंग है स्वास्थ्य शिक्षा। शारीरिक-शिक्षा (Physical Education) शारीरिक विकास और स्वास्थ्य

के बढ़ाने की ओर ध्यान देती है परन्तु स्वास्थ्य शिक्षा (Health Education) उपयुक्त वातावरण में जैसा स्वास्थ्य है उसे उसी अवस्था में ठीक रखने की ओर ध्यान देती है। एक का उद्देश्य है विकास और दूसरे का उद्देश्य है स्थायित्व। शारीरिक शिक्षा की दोनों अवस्थाओं का पाठशालाओं में प्रबन्ध होना आवश्यक है। सबसे पहिले हमें यह देखना चाहिये कि हम बच्चों को जिस अवस्था में पाते हैं, कम से कम उसी तरह से हम उनका स्वास्थ्य किस प्रकार कायम रख सकते हैं। यह अवस्था स्वास्थ्य शिक्षा की है। इसके लिये सर्व प्रथम बालकों में स्वास्थ्य-प्रद आदतें डालने का प्रयत्न करना चाहिये। पाठशाला और घर दोनों का सहयोग इसमें आवश्यक है। उनको इस प्रकार की सीख दी जाय जो व्यवहारिक हो, जिससे वे स्वास्थ्य शिक्षा का मूल्य ही नहीं समझें बल्कि अपने स्वास्थ्य के विकास और उसे बनाये रखने का प्रयत्न करें। मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर है इसलिये यह सब पाठशालाओं की जिम्मेदारी हो जाती है कि उनके विद्यार्थी स्वास्थ्य रहें।

स्वास्थ्य-जांच

सब विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की जाचँ (Medical Examination) पाठशाला में प्रवेश के समय, कम से कम साल में एक बार और पाठशाला छोड़ते समय जरूर होनी चाहिये और इसका लिखित-विवरण रखना चाहिये। इस विवरण से हमेशा इस बात का पता चलता रहेगा कि बालक स्वस्थ्य है कि नहीं अथवा उसके स्वास्थ्य के लिए क्या प्रयत्न करना चाहिए। स्वास्थ्य के जाँच का प्रबन्ध तो स्कूलों में बहुत दिनों से है और प्रत्येक स्कूल किसी न किसी प्रकार इस नियम का पालन करने का प्रयत्न अवश्य करता है, स्कूलों के अलग डाक्टर और अस्पताल हैं, विश्वविद्यालयों में स्वास्थ्य-निरीक्षक-अधिकारी निश्चित हैं, पर इस प्रकार के स्वास्थ्य-परीक्षण की पूर्ण उपादेयता नहीं हो पाई है। माध्यमिक शिक्षा-आयोग की दृष्टि में इसके कारण पृष्ट २५४ पर दिये गये हैं :—

(१) स्वास्थ्य की जाँच पूर्ण रूप से नहीं की गई।
(२) इस जाँच से जो बुराइयाँ मालूम पड़ीं उसका उपचार नहीं किया गया क्योंकि उनके उपचार के लिए जो उपाय बतलाये गये थे वह पूरे नहीं किए गए।
(३) स्वास्थ्य की जाँच के बाद रोगियों को दृष्टि-गत (Follow-up) नहीं किया गया। उन अवस्थाओं में भी जहाँ इसकी आवश्यकता थी।
(४) माता-पिता और स्कूल-अधिकारियों के बीच इस विषय में सहयोग नहीं स्थापित हो सका। इसका कारण या तो अज्ञानता है या आर्थिक कठिनाई या दोनों। माता-पिता अपने बालकों के अस्वास्थ्यता की रिपोर्ट स्वास्थ्य-अधिकारी को कभी नहीं देते।

माध्यमिक-शिक्षा-आयोग की सिफारिश

अतएव माध्यमिक-शिक्षा-आयोग ने सिफारिश की है कि :—
(१) जहाँ तक सम्भव हो प्रति वर्ष विद्यार्थियों के स्वास्थ्य की जाँच पूर्ण रूप से की जाय। स्कूल छोड़ने से पहिले भी बालक के स्वास्थ्य की जाँच अवश्यक है।
(२) जिन विद्यार्थियों को कोई गम्भीर बीमारी है या जिन्हें कोई भयंकर रोग है उनकी परीक्षा कई बार होनी चाहिये।
(३) स्वास्थ्य-परीक्षा में बतलाये गये उपायों को पूर्ण करवाने का प्रयत्न करना चाहिए।
(४) परीक्षा की एक प्रति पाठशाला में रहे और दूसरी माता-पिता के पास जाय। स्कूल के स्वाध्य निरीक्षक का यह कर्त्तव्य होना चाहिये कि इस प्रकार के विद्यार्थियों पर जिन्हें स्वास्थ्य के विषय में सलाह चाहिये पूर्ण दृष्टि रक्खें।

पाठशाला और समाज का सहयोग

पाठशाला की स्वास्थ्य-सेवा और समाज के सम्बन्ध में जो वर्तमान विचार हैं उनमें भी परिवर्तन की आवश्यकता है। बहुत से

ऐसे स्थल हैं जहाँ पर पाठशाला और समाज एक दूसरे की पारस्परिक सहायता कर सकते हैं। स्वास्थ्य-रक्षा का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ स्कूल की सुविधायें घर तक पहुँचनी चाहिये। अगर स्कूल इन वाह्य परिस्थितियों का ध्यान नहीं रक्खेगा तो उनके सम्मलित प्रभाव, पाठशाला के प्रभाव को विनष्ट कर देंगे। पाठशाला माता-पिता के सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकता है इसके लिये उन्हें प्रचार तथा सहयोग के द्वारा प्रभावित करने का प्रयत्न करना चाहिये। स्कूल यदि आस-पास के वातावरण में सफाई और स्वास्थ्य-प्रचार का प्रयत्न करे तो इसका बड़ा उपयोगी प्रभाव पड़ता है।

शिक्षकों का कर्त्तव्य

अभी तक स्वास्थ्य-रक्षा तथा खेल का कार्य केवल एक ही अध्यापक पर निर्भर रहता है। अन्य अध्यापक इसमें रुचि नहीं लेते। इस अवस्था में एक ही शिक्षक पर सब बोझ पड़ जाता है जिसे वह उठा नहीं सकता। अतएव सब शिक्षकों का स्वास्थ्य रक्षा के विषय में सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है। शिक्षक-प्रशिक्षण-विद्यालयों में इसके लिये स्वास्थ्य-रक्षा का एक अनिवार्य पाठ्य-क्रम रखना आवश्यक हैं। कक्षा का शिक्षक ही ऐसा व्यक्ति है जो बालक के निकट सम्पर्क में आता है। अतएव बालकों के स्वास्थ्य के विषय में सबसे पहिले उसे सूचना-प्राप्त हो सकती है। यदि प्रथम सूचना पर ही सतर्कता-पूर्वक कार्य किया जाय तो बहुत सा श्रम और व्यय नष्ट न हो।

बाल-क्रीड़ा स्थल

५० प्रतिशत से अधिक बालक ऐसे घरों में रहते हैं जो स्वास्थ्यप्रद नहीं हैं। घरों की स्थिति और उनकी खिड़कियां बड़ी खराब हालत में हैं। ऐसी अवस्था में बालकों का स्वास्थ्य खराब होने में कोई शक ही नहीं है। यह अवस्था देश की आर्थिक अवस्था से सम्बन्धित है और जब तक आर्थिक अवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं होता तब तक इसमें कोई स्पष्ट परिवर्तन दृष्टि गोचर नही हो सकता। फिर

भी सरकार सामुहिक बाल-क्रीड़ा-स्थल और स्थानीय-पार्क आदि बनवा कर इस अवस्था में कुछ सुधार कर सकती है।

मध्यकालीन भोजन की व्यवस्था

जैसे पहिले कहा गया है भारतवर्ष में ६० प्रतिशत ऐसे बालक हैं जिन्हें उचित स्वास्थ्य प्रद भोजन नहीं मिलता। उचित मात्रा में दूध मिलना जो इस स्तर की महान आवश्यकता है, इसकी कौन कहे। विकास की अवस्था में भोजन मिलना नितान्त आवश्यक है। इसके अलावा हमारे पाठशालाओं के समय भी ऐसे हैं जिनमें विद्यार्थियों को अवकाश के समय भोजन या दूध की आवश्यकता होती है। अत-एव पाठशाला और राज्य का कर्त्तव्य है कि बालकों के मध्यकालीन भोजन की व्यवस्था करे। इसमें सरकार को भी उचित आर्थिक योग देना चाहिये। जो विद्यार्थी अपने खाने का पैसा दे सकते हैं उनसे फीस भी ली जा सकती है। इंगलैंड ने युद्ध काल में भी बालकों के मध्य-कालीन भोजन की व्यवस्था रक्खी और उसमें सुधार किया। इंग्लैंड के प्रधान स्वास्थ्य-रक्षक की रिपोर्ट के अनुसार १६३८ में जब पूर्ण शान्ति थी १६०,००० विद्यार्थी स्कूल में भोजन करते थे। यह संख्या विद्यार्थियों की संख्या की ३·८ प्रतिशत थी इसमें ११०,००० को मुफ्त भोजन मिलता था। ५०,००० अपने खाने की फीस देते थे। १६४३ ई० में सरकार ने युद्ध की परिस्थितियों से जिनका बालकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता उससे बचाने के लिए ७५ प्रतिशत विद्यार्थियों के खर्चे का इन्तजाम किया और इस प्रकार सम्पूर्ण विद्यार्थियों के खाने का प्रबन्ध हो गया। भारतवर्ष में आर्थिक हीनता के कारण बालकों के खाने की व्यवस्था की और भी आवश्यकता है।

स्वास्थ्य के नियमों और भोजन का उचित ज्ञान

कभी कभी अज्ञानता के कारण भी हम बहुत सा ऐसा काम कर जाते हैं जो स्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध है, विशेष कर खाने में ही। भोजन की जीवन-शक्ति और उनके अनुपात और सामञ्जस्य के विषय

में ज्ञान न रहने कारण कभी कभी हम लोग एक ही प्रकार का भोजन करते रहते हैं जिनसे शरीर में अन्य उपयोगी पदार्थों की कमी हो जाती है। इसके लिये आवश्यक है कि हमें अपनी खुराक और उसमें जीवन दायी तत्वों के अनुपात का पूर्ण ज्ञान रहना चाहिये। विशेष कर लड़कियों के लिये ऐसे ज्ञान की तो और आवश्यकता है।

शारीरिक शिक्षा का प्रबन्ध

शारीरिक-शिक्षा स्वाथ्य के विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत पाठशालाओं में विभिन्न प्रकार का प्रबन्ध किया जाता है। इसमें खेल, सामुहिक कसरतें, स्कूल या विश्वविद्यालय में जिमनेजियम आदि का प्रबन्ध प्रमुख है। इनसे स्वास्थ्य-निर्माण ही नहीं होता बल्कि इनका चरित्र पर भी असर पड़ता है।

ड्रिल

स्वास्थ्य-शिक्षा के अन्तर्गत सामुहिक-ड्रिल का प्रबन्ध भारतीय पाठशालाओं में बीसवीं शताब्दी की देन है और विशेष रूप से अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव। पश्चिमी देशों में सामुहिक ड्रिल का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही हो गया था। सामुहिक-ड्रिल की विशेषता यह है कि वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। शरीर के प्रत्येक अवयवों और विभिन्न मान्स-पेशियों के लिये अलग-अलग ड्रिल होती है। इसमें बालक की आयु और उसके शारीरिक विकास का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता है। भारतीय कसरतों में यह विभाजन नहीं है। प्रत्येक आयु और शारीरिक अवस्था वाले बालक के लिये एक सी ही कसरत होती है। पश्चिमी कसरतों में स्वीडिश और डेनिश दो प्रकार की कसरतें होती हैं। दोनों प्रकार की कसरतें भारतीय विद्यालयों में प्रचलित हैं।

प्राथमिक पाठशालाओं में शारीरिक शिक्षा

प्राथमिक स्तर पर शारीरिक शिक्षा के अंतर्गत ऐसी कसरतें होनी चाहिये जो शारीरिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त बालकों को आत्म-

प्रकाशन का अवसर प्रदान करें तथा उनमें भाग लेने वाले बालकों की प्राकृतिक रुचि पर आधारित हों और उनके द्वारा ऐसी अवस्थायें भी उत्पन्न होती रहें जिनके द्वारा बालकों का सामाजिक विकास भी सम्भव हो।

प्राथमिक पाठशालाओं में बालकों को कम से कम ५ घन्टे की सक्रिय शारीरिक क्रिया की आवश्यकता होती है। हमारे पाठशालाओं में प्रायः आध घंटे की शारीरिक क्रियाओं का प्रबन्ध रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि साढ़े चार घंटे या तो छुट्टी में बीतते हैं या उनका कोई प्रबन्ध नहीं है। चूंकि प्राथमिक पाठशालाओं में इतना अवसर नहीं मिलता कि बालकों को वह सब शारीरिक क्रियायें सिखाई जांय जिनकी उन्हें आवश्यकता होगी, अतएव उन्हें ऐसी क्रियायें सिखा देनी चाहिये जो वे पाठशाला के बाहर कर सकें। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें कई प्रकार के खेल सिखाये जांय। कभी कभी कहा जाता है कि बालकों को प्राथमिक स्तर पर ऐसे खेल सिखाये जाने चाहिये जो वे भविष्य जीवन में खेलेंगे। यह उचित नीति नहीं है। बालकों को उनकी आयु के अनुसार जो प्राकृतिक हो वही शारीरिक क्रियायें करानी चाहिये। निम्नलिखित योजनायें प्राथमिक पाठशालाओं में उपयोगी होंगी।

(१) स्वतन्त्र शारीरिक कार्य जैसे चलना, दौड़ना, कूदना, सरकना या चढ़ना।
(२) नकल करना, कहानी पर आधारित खेल, नाटक, गानों पर आधारित खेल, खेलते हुये गाना।
(३) रिद्मिक क्रियाएँ (Rhythmic Activities)।
(४) छोटे छोटे यन्त्रों, के द्वारा कार्य करना जैसे छोटे डंडे की कसरत, लेजिम, डम्बल, आदि।
(५) मार्चिंग।
(६) कैलिस्थनिक।
(७) व्यक्तिगत स्वास्थ्य-कारक कसरतें।

माध्यमिक पाठशालाओं में शारीरिक शिक्षा

माध्यमिक पाठशालाओं में शारीरिक क्रियाओं का उद्देश्य अवयवों का विकास और उनका गठन, आत्म-प्रकाशन का अवसर प्रदान करना, विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति, भाग लेने वालों को प्रसन्नता का अवसर प्रदान करना तथा समाजिक-विकास का अवसर प्रदान करना होता है।

माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों के लिये दो घन्टे की सक्रिय शारीरिक-क्रिया की आवश्यकता होती है। इसलिए माध्यमिक कक्षा के विद्यार्थियों के लिए ऐसी शारीरिक क्रियायें सिखानी चाहियें जिन्हें वे पाठशाला में भी कर सकें और पाठशाले के बाहर भी उसका अभ्यास कर सकें। माध्यमिक पाठशालाओं में शारीरिक शिक्षा के अंतर्गत निम्नलिखित कसरतें रक्खी जा सकती हैं :—

(१) शक्तिशाली स्वतन्त्र क्रियायें जैसे कूदना, पैर चलाना (Kicking) और फिसलना (Skipping)।
(२) मार्चिंग और पैर मिला कर चलना।
(३) यन्त्रों के साथ फुर्ती से करसतें करना।
(४) शिक्षण-क्रियायें जिसमें उपयोगी यौगिक कसरतें भी शामिल हैं।
(५) सामुहिक सामुदायिक नृत्य एवं सधी हुई क्रियायें (Folk dancing and Rhythmic Activities)।
(६) प्रसन्नता युक्त प्रक्रियायें।
(७) प्रमुख खेल (Major games)।
(८) एथलिटिक्स (Athletics)।
(९) एक्वाटिक्स जहाँ पर सुविधा हो। (Aquatics where facilities exist)।
(१०) कम्बाटिव-क्रियायें (Combative Activities)।
(११) एथलिटक्स और गेम्स में सङ्गठित-शिक्षा।
(१२) मुकाबलों के खेल (Frequent Competitions)।

विश्वविद्यालयों में शारीरिक-शिक्षा

विश्वविद्यालयों में जो शारीरिक शिक्षा दी जाती है उनका प्रमुख उद्देश्य प्रसन्नता और मन बहलाव होता है। वहाँ पर ऐसी ही क्रियायें होती हैं जिन्हें विश्वविद्यालयों का विद्यार्थी करना चाहता है। विश्वविद्यालयों में सङ्गठित शारीरिक क्रियाओं में बहुत थोड़े विद्यार्थी भाग लेते हैं। जो विद्यार्थी शारीरिक क्रियायों में भाग नहीं लेते उन्हीं को इसकी अधिक आवश्यकता होती है और वे सदैव पाठ्य-क्रम के बहाने स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते हैं। जिन्हें शारीरिक क्रियायों से प्रेम है वे कभी भी ऐसे बहाने नहीं करते।

स्वास्थ्य रहना स्वास्थ्य के लिए खर्च करने से अच्छा है

शारीरिक-शिक्षा का प्रथम सिद्धान्त यह है कि वह शारीरिक क्षति से बचावे और उसका दर्शन यह है कि स्वस्थ्य रहना, स्वास्थ्य के लिए खर्च करने से अच्छा है। लेकिन फिर भी फौज के लिए अनुपयुक्त मनुष्यों की संख्या देखने से मनुष्यों को स्वास्थ्य के लिए प्रोत्साहित करने की आवश्यकता होती है।

खेल का महत्व

पाठशाला में सामुहिक खेलों का महत्वपूर्ण स्थान है। सामुहिक-खेल केवल शारीरिक शिक्षा के लिए ही उपयोगी नहीं होते बल्कि उनमें चरित्र-निर्माण की सबसे अधिक शक्ति रहती है। खेल के मैदान में ही बालकों को सहयोग, भातृ-भाव, एक साथ मिलकर व्यायाम करने की क्षमता तथा समूह के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को दबाने आदि गुणों के उपयोगी अवसर मिलते हैं। खेल में हारकर भी अपने प्रतिपक्षी की सराहना, निर्णय और आगे बढ़कर कार्य करने का अवसर मिलता है। अंगरेजी में तो कहावत है कि वाटरलू का युद्ध इटन और हैरो (स्कूलों के नाम) के खेल के मैदान में जीता गया था। यह

कहावत सामुहिक खेलों की चरित्र-निर्माण करने की शक्ति की ओर संकेत करती है।

खेलों का प्रबन्ध

खेलों में कुछ भारतीय खेल भी ऐसे हैं जिनका हमारे स्कूलों में उचित उपयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए कबड्डी एक ऐसा भारतीय खेल है जिसमें व्यक्तिगत एवं सामुहिक कार्य शक्ति दोनों का समान अवसर मिलता है। खेल से अक्सर तात्पर्य अंगरेजी खेलों से लिया जाता है। भारतीय खेल उसमें शामिल नहीं किये जाते। हमारे ८० प्रतिशत स्कूलों में खेल का उचित प्रबन्ध नहीं है। शिक्षा के प्रसार से यह सुविधा और कम हो रही है। अतएव समाज और सरकार दोनों को इसके प्रसार के लिये सजग रहना चाहिये।

प्रत्येक स्कूल में जहाँ पर ५०० सौ से अधिक छात्र हैं वहां पर एक जिमनैजियम (Gymnasium) का प्रबन्ध होना चाहिये। इसके अलावा विद्यालयों में दौड़, घुड़ सवारी और तैरने आदि का प्रबन्ध करना उपयोगी है और जहाँ पर यह सुविधायें प्राप्त हो सकें वहाँ पर स्कूलों को इसका प्रबन्ध करना चाहिये।

एन• सी• सी०

आज-कल शारीरिक-शिक्षा के साथ फौजी ट्रेनिंग का समावेश साधारण हो गया है। ऐसी अवस्था में बालकों की शारीरिक-शिक्षा भी होती है और राष्ट्रीय-शिक्षा का भी प्रबन्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति और युद्ध के समय में नवयुवकों को इस प्रकार का प्रशिक्षण बड़ा उपयोगी होता है। प्रत्येक सभ्य देश इस प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। भारत ने भी नेशनल कैडेट कोर, (एन०सी० सी०) नाम से पाठशालाओं में सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। इसकी उपादेयता सब को स्पष्ट है। यह अधिक लाभ प्रद होगा यदि एन० सी० सी० का विस्तार सभी उपयुक्त और पुष्ट बालकों तक किया जा सके।

स्काउटिंग

ब्याय स्काउट और गर्ल गाइड का भी शारीरिक-शिक्षा में उपयोगी स्थान है और इसके समुचित विकास से हमारी शारीरिक-शिक्षा की बहुत सी कमियाँ दूर हो जाँयगी।

शारीरिक कसरतों के चुनाव के गुण

स्वास्थ्य एवं सामाजिक झुकाव और व्योहार की महत्ता को देखते हुए शारीरिक-शिक्षा के शिक्षक का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वह यह निश्चित कर सके कि उसके प्रत्येक कार्य-क्रम में विद्यार्थी को सफल नागरिक बना सकने का गुण कहाँ तक विद्यमान है। प्रत्येक उपयोगी शारीरिक-शिक्षा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) शारीरिक अवयवों का विकास।
(२) अवयवों का निर्माण एवं विकास।
(३) चेतनमान्स पेशियों का नियन्त्रण।
(४) सामाजिक झुकाव एवं बर्ताव।
(५) वर्तमान प्रसन्नता के गुण।
(६) भविष्य में प्रसन्नता देने का गुण।
(७) शारीरिक क्षति ग्रस्त बालक के लिये विशेष उपादेयता।
(८) बचाव की प्रवृत्ति एवं आदत।

प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी

आजकल शारीरिक-शिक्षा का महत्व बढ़ जाने एवं पाठशालाओं में इसके अनिवार्य हो जाने से प्रशिक्षित अध्यापकों की इस क्षेत्र में कमी हो गई है। पहिले भी शारीरिक-शिक्षा प्रशिक्षण-विद्यालय कम थे। एक प्रमुख विद्यालय वाई० एम० सी० ए०, मद्रास (Y. M. C. A. Madras) का था जिसमें बी० ए० पास विद्यार्थियों को एक वर्ष और एफ० ए० पास विद्यार्थियों को दो वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाता था। जिसके पश्चात उन्हें पाठशालाओं में शारीरिक-शिक्षा का शिक्षण देने

का प्रमाण-पत्र मिलता था। अब प्रायः प्रत्येक प्रान्तीय सरकार ने शारीरिक-शिक्षा के प्रशिक्षण-विद्यालय खोल लिये हैं जिनमें बी० ए० और उससे निम्न योग्यता के शिक्षक भी प्रशिक्षित होते हैं पर अब भी इस प्रकार के योग्य प्रशिक्षित अध्यापक कम हैं, विशेष रूप से प्राथमिक पाठशालाओं में।

प्रशिक्षण विद्यालयों में शारीरिक-शिक्षा की व्यवस्था

इस प्रकार प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी के कारण शारीरिक-शिक्षा में एक विशेष समस्या पैदा हो जाती है। खेल और शारीरिक-शिक्षा का सारा काम एक ही अध्यापक के सिर पर पड़ जाता है जिसे वह अच्छी तरह कर ही नहीं सकता। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक अध्यापक शारीरिक-शिक्षा के कार्य में हाथ बटावे और उसमें उसे सामान्य प्रशिक्षण प्राप्त हो। इसके लिये शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों में एवं नार्मल स्कूलों में शिक्षण सिद्धान्त एवं व्योहारिक कार्य-क्रम के साथ शारीरिक-शिक्षा का भी एक व्योहारिक और सैद्धान्तिक प्रश्न-पत्र रख दिया जाय जो प्रत्येक आध्यपक के लिये अनिवार्य हो। इस प्रकार सब शिक्षक शारीरिक-शिक्षा के शिक्षक को उसके कार्य में सहायता दे सकेंगे। प्रमुख-शिक्षक का कार्य निरक्षण करना, योजनायें बनाना एवं स्कूल की सब कक्षाओं पर दृष्टि रखना होगा।

शारीरिक-शिक्षा का अध्यापक और शिक्षण

इसके साथ ही अक्सर विद्यार्थी शारीरिक शिक्षा के शिक्षक का अनुशासन नहीं मानते क्योंकि उसका पाठ्य-विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वृद्ध होने पर शारीरिक-शिक्षा का आध्यापक अपने कार्य को ठीक तरह से कर भी नहीं सकता। अतएव उसके स्थान पर दूसरे अध्यापक को रखना आवश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्थाओं से बचने के लिये आवश्यक है कि शारीरिक-शिक्षा के शिक्षक को कुछ विषय पढ़ाने के लिये दे दिये जांय। आयु के साथ उसे पाठ्य-विषय पढ़ाने का भी अनुभव होता जायगा और वृद्ध होने पर उसे पाठ्य-विषयों के शिक्षक

के रूप में लेकर उसके स्थान पर अन्य अध्यापक की नियुक्ति की जा सकेगी। शिक्षित शारीरिक-शिक्षा के शिक्षकों को इसमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक वेतन का प्रश्न है शारीरिक-शिक्षा के शिक्षक का वही वेतन-क्रम होना चाहिये जो उसी की योग्यता के एक प्रशिक्षित अध्यापक का होता है।

शारीरिक-शिक्षा का प्रचार

यद्यपि शारीरिक शिक्षा का विषय पाठशालाओं और विश्व विद्यालयों में प्रारम्भ हो गया है परन्तु अभी उसका पूर्ण प्रचार नहीं हो पाया है। शारीरिक-शिक्षा को लोग तुच्छ दृष्टि से देखते हैं और यह एक परम्परा हो गई है। भूत-काल में भी शारीरिक शिक्षा या इससे सम्बन्धित किसी भी विषय को लोग आदर की दृष्टि नहीं देखते थे। अतएव शारीरिक-शिक्षा के प्रचार की कमी का सबसे बड़ा कारण है साधारण लोगों में तथा विद्यार्थियों में रुचि की कमी। इस ओर लोगों की रुचि पैदा करने की सबसे अधिक आवश्यकता है। अतएव इसके लिये प्रचार की आवश्यकता है:—

(१) शारीरिक-शिक्षा-सम्बन्धी सूचनाओं को तस्वीरों पोस्टरों और सिनेमा की फिल्मों द्वारा प्रचार करना।

(२) इस विषय को पाठ्य-क्रम और परीक्षा का एक विषय बना दिया जाय।

(३) अकसर शारीरिक-शिक्षा सम्बन्धी मेले और प्रदर्शनी की जांय।

(४) इसमें विशेष योग्यता के लिये बैज या वजीफे दिये जाय।

(५) प्रत्येक शिक्षक को इस बात के लिये तैयार किया जाय कि वह शारीरिक-शिक्षा को अपना एक विषय समझे और उसमें रुचि ले।

प्रबन्ध की कमी

अभी तक पाठ्य-क्रम में शारीरिक-शिक्षा को बहुत कम स्थान दिया जाता है और साधारणतः जो शिक्षक और कोई विषय नहीं लेता उसे

यह विषय पढ़ाने को दे दिया जाता है। पाठ्य-क्रम में यदि समय का विभाजन देखा जाय तो शारीरिक-शिक्षा को समय के अन्त में रख देते हैं और उसके लिए एक घन्टे या उससे भी कम समय रहता है। भारतीय-विद्यालयों में दोपहर को खाने की व्यवस्था नहीं रहती। अतएव सब लड़के भूखे रहते हैं और छुट्टी होते ही घर भागने की चेष्टा करते हैं। शिक्षक इस बात का प्रयत्न करता है कि वह लड़कों को घेर रक्खे। इस प्रयत्न में शिक्षक अप्रिय हो जाता है। अतएव इसके लिए आवश्यक है कि पाठशाला में खेल के लिये उपयुक्त समय निर्धारित किया जाय और साथ ही पाठशालाओं में लड़कों के मध्यकालीन-उपाहार की व्यवस्था की जाय।

कानून बनाना एवं आर्थिक सहायता

सभी पाठशालाओं में शारीरिक-शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध नहीं है। न तो खेल के सामान हैं न अच्छे खेल के मैदान। स्कूल में जिमनेज़ियम आदि की तो और कमी है। अतएव इसके लिये नियम बनाने की आवश्यकता है। सरकार को बालकों की शारीरिक शिक्षा पर जो व्यय होता है उसके लिये विशेष आर्थिक-योग देना चाहिये ताकि पाठशाला इसका प्रबन्ध कर सके।

शारीरिक-शिक्षा के लिये प्रशिक्षित अध्यापकों की तो नितान्त कमी है। भूत में तो इसके लिये प्रशिक्षण-विद्यालयों की भी व्यवस्था नहीं थी। अतएव फौज से अवकाश प्राप्त व्यक्ति ही स्कूलों में काम करते थे। प्राथमिक कक्षाओं में जहाँ प्रशिक्षित अध्यापकों की नितान्त आवश्यकता है उस स्तर पर तो प्रशिक्षित अध्यापक बिलकुल नहीं मिलते। इसके लिये आवश्यक है कि शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों में और नार्मल स्कूलों में शारीरिक-शिक्षा के प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था की जाय।

योग्य निरीक्षक

अंतिम कमी इस क्षेत्र में योग्य निरक्षकों की है। निरक्षक अधिकतर शिक्षण-सिद्धान्तों और शिक्षण में शिक्षित रहते हैं। अतएव

इस ओर वे अधिक ध्यान नहीं देते। प्रत्येक निरीक्षक को चाहिये कि वह शारीरिक-शिक्षा की सुविधायें, उसकी व्यवस्था और उस पर व्यय देखे। पाठशालाओं को शारीरिक-शिक्षा का एक सुनिश्चित पाठ्य-क्रम रखना चाहिये। शिक्षा-विभाग को सावधानी के साथ ऐसे पाठ्य-क्रम निश्चित कर देने चाहिये।

स्वास्थ्य-रक्षा की भावना

अन्त में कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों में स्वास्थ्य रक्षा की भावना भर देने से, उन्हें शारीरिक-शिक्षा में भाग लेने के लिये प्रोत्साहन देने से तथा उनकी आयु और शारीरिक अवस्था के अनुसार शीरीरिक-शिक्षा के विभिन्न कार्य-क्रमों की व्यवस्था करने से इस क्षेत्र में उन्नति हो सकती है।

राष्ट्रीय-स्वास्थ्य राष्ट्रीय सम्पति है और इसकी उन्नति हमारा निश्चित-कर्त्तव्य है।



८

औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता

प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न एवं जन संख्या में संसार का द्वितीय राष्ट्र होने पर भी आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से भारत संसार के अनेक राष्ट्रों से पीछे है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में औद्योगिक-विकास एवं औद्योगिक शिक्षा पर पिछली शताब्दियों में ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय शिक्षा की यह प्रमुख कमजोरी रही है और अनेक शिक्षा-विदों ने, राष्ट्रीय नेताओं और सरकार का ध्यान इस कमी की ओर आकृष्ट किया है। वर्तमान काल में राष्ट्र की प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि उस कमी को शीघ्रातिशीघ्र दूर किया जाय। राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और द्रुत गति से वे इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में सरकार इस कमी को परियाप्त मात्रा में पूरी कर लेगी।

अपरेन्टिस

औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा भूतकाल में विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी। शिक्षा पर धर्म का प्रभाव था और शिक्षा-शास्त्री आत्मा की मुक्ति की चिंता में सांसारिक ज्ञान को तुच्छ

दृष्टि से देखते थे। अतएव संगठित रूप से व्योसायिक और औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। कारीगर अपने साथ नवयुवकों को रखकर उसे काम सिखाता था। इस अपरेन्टिसशिप की प्रथा से नवीन आदमी वास्तविक ज्ञान व्योहारिक रूप से प्राप्त कर लेता था पर उसकी वैज्ञानिक समीक्षा नहीं हो पाती थी। भारतवर्ष में भी यह प्रथा इसी प्रकार प्रचलित थी।

जाति प्रथा

प्राचीन काल में भारत का सामाजिक संगठन जाति व्यवस्था पर निर्भर था। प्रत्येक जाति का व्यक्ति अपने जातीय व्यवसाय को बाल्य-काल से ही सीखता था और अंत में बढ़कर वही व्यवसाय अपना लेता था। इस प्रकार कारीगर, बढ़ई, लुहार और सुनार आदि का व्यवसाय परम्परागत परिवार में चला आता था और उसके लिये किसी संगठित शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती थी।

वैज्ञानिक अनुसंधानों का उत्पादन में उपयोग होने से जो व्यवासायिक क्रान्ति हुई उससे उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में एक क्रान्ति आ गई और संगठित व्यवसायिक औद्योगिक शिक्षा प्रत्येक व्यवसाय के लिये आवश्यक हो गई।

वर्तमान व्यवसाय

प्राचीन काल में केवल तीन ही व्यवसाय थे और वे थे धार्मिक उपदेशक, वकील और डाक्टर के। इन व्यवसायों की महत्ता प्राचीन काल से ही चली आ रही है और वर्तमान काल में भी उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पर इन क्षेत्रों में भी ज्ञान की परिधि बढ़ती गई और इनका भी संगठित शिक्षण वर्तमान काल में आवश्यक हो गया। इसके अलावा वैज्ञानिक आविष्कारों के उद्योग में प्रयोग के कारण वर्तमान काल में नवीन प्रकार के अनेक उद्योग और व्यवसाय उत्पन्न हो गये। इनमें इंजीनियरिंग और टेकनोलाजी प्रमुख हैं। इन

विषयों के कई प्रमुख उप-विभाग हैं और आजकल तो इन के प्रत्येक क्षेत्र में विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है।

व्यवसायिक शिक्षा की कमी

किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिये औद्योगिक शिक्षा की महान आवश्यकता होती है। प्राकृतिक साधनों के प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहने से ही कोई देश वैभवशाली नहीं हो जाता बल्कि उनके उचित उपयोग से देश का सामुहिक धन बढ़ता है और देश उन्नत होता है। भारत के प्राकृतिक साधनों को अब तक राष्ट्रीय विकास के लिए प्रयोग नहीं किया जा सका। कुछ तो देश की पराधीनता के कारण विदेशी शासकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया क्योंकि उनका उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से भारत को लंगड़ा बनाये रखना था। वे भारत के कच्चे माल का स्वयं उपयोग करते थे और भारत को अपने बने हुये माल को एक बाजार समझते थे और कुछ सरकार और नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्टि नहीं हो पाया।

बीसवीं शताब्दी में औद्योगिक शिक्षा का प्रारम्भ

भारत में अंगरेजी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था अंगरेजी शासन में योग देने के लिये भारतीय बाबू उत्पन्न करना। कुछ समय तक अंगरेजी स्कूलों से निकले हुये विद्यार्थियों को सरकारी नौकरियाँ मिल जाती थीं अतएव यह शिक्षा बड़ी उपयोगी रही। पर शीघ्र ही शिक्षितों की संख्या बढ़ गई और उनके लिये नौकरियों का दरवाजा बन्द हो गया। फल यह हुआ कि जनता में शिक्षा के प्रति असंतोष पैदा हुआ और लोगों का ध्यान शिक्षा की बुराइयों की ओर आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम लोगों का ध्यान शिक्षा में विभिन्न रुचियों को सन्तुष्ट न कर सकने की क्षमता और औद्योगिक शिक्षा की कमी को दूर करने का प्रयत्न करने में लगा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट हो गया था। अतएव भारतवर्ष में औद्योगिक शिक्षा का प्रारम्भ प्रमुख रूप से बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ।

आर्थिक हीनता

भारतवर्ष के प्रत्येक नागरिक की औसत आय २८८ रुपया है। यह आय संसार के अन्य सभ्य राष्ट्रों से बहुत कम है। भारतवासियों की आय और रहन-सहन का स्तर संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत कम है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में अन्य उद्योगों का विकास नहीं हुआ है और अधिकांश देश वासियों का प्रमुख पेशा कृषि है। उसमें भी वैज्ञानिक-अनुसंधानों का प्रयोग नहीं किया जाता। अतएव कृषि से भी पूर्ण आय नहीं हो पाती। भारत की लगभग ६८ प्रतिशत वयस्क जन-संख्या अब भी कृषि में लगी हुइ है। १४ प्रतिशत उद्योगों में ८ प्रतिशत व्यापार और आवागमन के अन्य साधनों में तथा १० प्रतिशत अन्य व्यवसायों और सेवाओं में लगे हैं। इससे स्पष्ट है कि कृषि पर आवश्यकता से अधिक दबाव है और इस दबाव को कम करने तथा देश की राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिये आवश्यक है कि राष्ट्र की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जाय और वह केवल औद्योगिक शिक्षा के प्रसार से ही सम्भव है।

नैतिक दायित्व

व्यक्तिगत कारणों से भी औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। समाज का जो भी व्यक्ति वस्तुओं का उपयोग करता है उसका यह नैतिक दायित्व हो जाता है कि वह वस्तुओं का उत्पादन अवश्य करे और उसके लिये किसी न किसी प्रकार की औद्योगिक या व्यवसायिक शिक्षा आवश्यक है।

व्यक्तित्व का विकास

व्यक्तिगत दृष्टि कोण से, वास्तविक शिक्षा किसी योजना के निर्माण, उसको कार्य रूप में परिणत करने की क्षमता और अन्त में उसे पूर्णता पर ले जाने में निहित है। इससे व्यक्ति को सन्तोष होता है कि उसने कुछ कार्य किया है तथा उसे आत्मिक शांति प्राप्त होती है।

इससे विद्यार्थी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता है तथा उसे इस बात की प्रसन्नता होती है कि उसने अपने प्रयत्न और परिश्रम से कुछ उत्पादन किया है।

रुचि का नाव

प्रारम्भ में औद्योगिक शिक्षा के लिये उपयुक्त अवसर मिलने से प्रत्येक विद्यार्थी को इस बात का मौका मिलता है कि वह अपनी वास्तविक रुचि मालूम कर सके ताकि भविष्य में वह अपनी रुचि के आधार पर अपना व्यवसाय चुन सके। आत्म-प्रकाशन के उपयुक्त अवसर के कारण इससे व्यक्ति को भविष्य में उन्नति करने का अवसर मिलता है।

सहयोग

वर्कशाप में बालकों को सदैव दूसरों से सहायता लेनी पड़ती है और उसे दूसरों के कार्य में हांथ बटाना पड़ता है। अतएव इससे बालकों में सहयोग की भावना का विकास होता है। वर्कशाप वास्तव में चरित्र निर्माण की वास्तविक शाला है। यह आवश्यक है और जीवन में सफलता का मौलिक सिद्धान्त है कि बालक को अपने हांथों का सदुपयोग मालूम है और वह अपने शारीरिक परिश्रम से कुछ पैदा कर सकता है इसके लिये औद्योगिक शिक्षा की महान आवश्यकता होती है।

अनिवार्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा

औद्योगिक शिक्षा का अनिवार्य शिक्षा से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। अनिवार्य शिक्षा के द्वारा प्रत्येक बालक को प्राथमकि शिक्षा प्राप्त होती है। परन्तु प्रत्येक बालक को एक सी शिक्षा नहीं दी जा सकती क्योंकि उनकी रुचि और आवश्यकतायें भिन्न भिन्न होती हैं। अतएव जब अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय तो उसके साथ साथ शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों को भी खुला रक्खा जाय ताकि देश के नवयुवकों को

उनकी आवश्यकता, रुचि और बुद्धि के अनुसार उपयुक्त शिक्षा मिल सके नहीं तो राष्ट्र के सब नवयुवकों को एक सी ही शिक्षा मिलेगी जो उनकीदृष्टि से अनुपयुक्त और राष्ट्र के लिये अधिक बरबादी होगी।

उपयुक्त कार्यकर्ता

औद्योगिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय उद्योगों एवं राष्ट्र के लिये योग्य और उपयुक्त शासक और कार्यकर्त्ता तैयार करना है। योग्य व्यक्तियों से उद्योग में विस्तार होगा। इससे नई कार्यशीलता उत्पन्न होगी जिससे व्यापार के क्षेत्र में नये विचार और नई कार्य प्रणालियाँ उत्पन्न होंगी। इससे और अधिक लोगों को कार्य मिल सकेगा। यह तो निश्चित ही है कि उद्योग और व्यापार के विस्तार तथा राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों के उचित उपयोग के संकल्प के कारण निकट भविष्य में उपयुक्त इन्जिनियरों और कारीगरों की बड़ी आवश्यकता होगी।

हंटर कमीशन १८८२

जैसा पहिले कहा जा चुका है कि तीन व्यवसाय धार्मिक-शिक्षा, वकील और डाक्टर के पुराने हैं और इनका इतिहास भी औद्योगिक शिक्षा के इतिहास से पुराना है। पर नवीन उद्योगों का विकास औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात प्रारम्भ हुआ, अतएव इनका इतिहास भी नया है। राजनैतिक परिस्थितियों के कारण भारत के प्राचीन व्यवसाय नवीन प्रतियोगिता में अन्य राष्ट्रों के सम्मुख नहीं ठहर सके। नवीन व्यवसायों के लिये प्रोत्साहन नहीं मिला। फल यह हुआ कि यहाँ के सारे व्यवसाय नष्ट हो गये और कृषि पर उत्तरोत्तर अधिक दबाव बढ़ता गया। अतएव यहाँ की औद्योगिक शिक्षा भी नष्ट होती गई। शिक्षा की इस कमी की ओर शिक्षा-आयोगों ने अनेक बार सरकार का ध्यान आकर्षित किया है। १८८२ ई० में हन्टर कमीशन ने इस विषय पर लिखा हैं, अयोग से यह पूछा गया था कि क्या माध्यमिक पाठशाला के विद्यार्थियों का ध्यान अधिकतर विश्व-विद्यालय की इन्ट्रेंस परीक्षा में लगा रहता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि पाठशालाओं

में योरप के स्कूलों की तरह ,नवीन शिक्षण-विषयों का विकास नहीं हो पाया है। ऐसा निश्चित विश्वास है कि भारत में ऐसे पाठ्य-क्रम की विशेष आवश्यकता है जो बालकों को मैट्रिकुलेशन की आयु पर औद्योगिक और व्यापारिक पेशों के लिये तैयार कर सके। विश्व-विद्यालय इन्ट्रेन्स की परीक्षा को इस उद्देश्य से नहीं देखते कि इससे बालक अपने जीवन के दैनिक कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकेगा बल्कि वे इस बात का अन्दाजा लगाते हैं कि उनका मस्तिष्क इतना विकसित हो गया है कि नहीं कि वे विश्व विद्यालयों की शिक्षा से लाभ उठा सकें। अतएव शिक्षा विभाग का यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि वह व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर पाठ्य-क्रम का संगठन करें और जहाँ तक सम्भव हो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

एबट और उड रिपोर्ट

बीसवीं शताब्दी में इस प्रकार की शिक्षा की मांग और बढ़ती गई अन्त में सरकार ने व्यवसायिक-शिक्षा-संगठन के लिये एक समिति की स्थापना की। इसे उड और एबट (Wood & Abbot) उप समिति कहते हैं। श्री ए० एबट (A. Abbot) हिज मेजेस्टी की सरकार के औद्योगिक-स्कूल के प्रमुख निरीक्षक थे और श्री एच० एस० उड (H. S. Wood) शिक्षा बोर्ड के डाइरेक्टर आफ इन्टेलीजेन्स (Director of Intelligence) थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट १९३७ ई० में पेश की। व्यवसायिक-शिक्षा के सम्बन्ध में उनकी निम्न सिफारिशें थीं:—

(१) व्यवसायिक शिक्षा साहित्यिक शिक्षा से निम्न श्रेणी की नहीं है क्योंकि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मस्तिष्क, शरीर और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियों का विकास करना है ताकि समाज का कल्याण हो सके।

(२) साधारण और व्यवसायिक-शिक्षा शिक्षा के दो विभिन्न विभाग नहीं हैं बल्कि शिक्षा-विकास की प्राथमिक और अंतिम श्रेणियां हैं। व्यवसायिक शिक्षा के प्रत्येक विषय की उत्पति साधारण स्कूलों में होती है।

(३) पर साधारण और व्यवसायिक शिक्षा एक ही स्कूल में नहीं दी जानी चाहिये, क्योंकि उनके उद्देश्य विभिन्न होते हैं।

(४) व्यवसायिक शिक्षा से केवल स्कूल का ही सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह शिक्षा विशेष पेशे के लिये एक प्रकार की तैयारी है। इसमें औद्योगिक और व्यापारिक संगठनों का सहयोग अत्यावश्यक है, यदि व्यवसायिक शिक्षा उपयुक्त और आवश्यकता की पूर्ति करती है।

(५) सरकार एक परामर्शदात्री समिति की स्थापना करे जो व्यवसायिक शिक्षा पर सरकार को सलाह दिया करे। इस समिति में शिक्षा संचालक, उद्योग-संचलाक, तीन-चार व्यवसायिक स्कूलों के प्रधानाचार्य और चार या पाँच व्यापारी हों जिन्हें अपने व्यवसाय का प्रमुख ज्ञान हो। इस समिति की स्थापना से प्रत्येक राज्य में निकट सहयोग स्थापित हो सकेगा।

(६) व्यवसायिक शिक्षा के लिए जूनियर और सीनियर स्कूल खोले जाँय। जूनियर स्कूल में आठवीं कक्षा-पास और सीनियर स्कूलों में उच्चतर माध्यमिक-परीक्षा पास लड़कों को प्रवेश मिलना चाहिए।

(७) जूनियर स्कूल में तीन साल तक शिक्षा दी जाय और इसका पाठ्य-क्रम उच्चतर माध्यमिक पाठशालाओं के सामानान्तर हो। सीनियर स्कूलों का पाठ्य-क्रम दो साल का हो और वह वर्तमान इन्टरमीडियेट कक्षाओं के समकक्ष हो।

(८) अल्प-कालीन व्यवसायिक पाठशालाओं की भी स्थापना करनी चाहिये, जिससे वे लड़के जो दिन में काम करते हैं वे भी व्यवसायिक शिक्षा से लाभ उठा सके। जहाँ तक सम्भव हो

मालिक अपने कार्य कर्ताओं को सप्ताह में दो दिन, आधे दिन को छुट्टी दे दें ताकि वे व्यवसायिक स्कूल में पढ़ सकें।

(९) भारत में कला की शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाना चाहिये अन्यथा इस देश में उच्च-कला की शिक्षा की परम्परा नष्ट हो जायेगी। वर्तमान कला-कौशल के स्कूलों का क्षेत्र बढ़ा देना चाहिये और जैसे ही अवसर आये; इस प्रकार के अन्य स्कूलों की स्थापना की जाय।

(१०) व्यवसायिक-सलाह की महत्ता के कारण व्यवसायिक सलाह (Vocational guidance Counseller) कार की नियुक्त करनी चाहिए।

इस उपसमिति की रिपोर्ट के पश्चात भी १९५३ तक व्यवसायिक शिक्षा की विशेष उन्नति नहीं हो सकी। माध्यमिक-शिक्षा आयोग ने इसके निम्नलिखित कारण बताये हैं :—

(१) अभी तक केन्द्र और राज्य सरकारों ने औद्योगिक शिक्षा के प्रश्न पर पूर्ण गम्भीरता से विचार नहीं किया था।

(२) औद्योगिक-शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण की अभी तक कोई व्यवस्था नहीं थी; ऐसे शिक्षक जिन्हें परियाप्त साधारण ज्ञान हो और औद्योगिक और वैज्ञानिक ज्ञान भी उचित मात्रा मेंहो।

(३) प्रत्येक राज्य में शिक्षा विभाग ने अन्तरगत औद्योगिक-शिक्षा के विशेषज्ञों की कमी थी जो बुद्धिमता-पूर्वक औद्योगिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम का सङ्गठन कर सकते।

(४) सरकार के विभिन्न विभागों में सहयोग और संगठन नहीं रहा। कुछ संस्थायें-उद्योग-संचालक, कुछ श्रम-संचालक और कुछ शिक्षा-संचालक के अन्तरगत रहीं।

(५) बहुत सी योजनायें तो आर्थिक संकट के कारण विनष्ट हो गईं। किसी भी प्रकार की औद्योगिक-शिक्षा नहीं पनप सकेगी यदि उसके प्रारम्भिक और अन्तिम प्रशिक्षण काल में एक

निम्नतम कार्य की सुविधा न प्राप्त हो। औद्योगिक स्कूलों के खोलने और उनके लिये मशीने लाने में अधिक व्यय होता है साथ ही उसके लिए उपयुक्त-शिक्षक मिलना और मुश्किल है। फिर भी विभिन्न व्यवसायों की शिक्षा की प्रगति निम्न हैं:—

कृषि

भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है। जन संख्या का लगभग ६८ प्रतिशत अब भी खेती पर निर्भर रहता है। अतएव कृषि की उन्नति और विकास देश की उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अब भी देश का अधिकांश भाग प्राचीन-पद्धति से खेती करता है जिससे उपज अधिक नहीं हो पाती। अतएव कृषि की उन्नति के लिये आवश्यक है कि वैज्ञानिक ढङ्ग से खेती करने की शिक्षा दी जाय।

वोएलकर समिति

भारतवर्ष में कृषि-शिक्षा की व्यवस्था नवीन है। सर्व प्रथम १८८६ ई० में डा० जे० ए० वोएलकर इंगलैंड की रोयल एग्रीकलचरल सोसाइटी की ओर से भारतीय-कृषि के विषय में अध्ययन करने के लिये भेजे गये, उन्होंने विभिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन किया और भारत सरकार से कृषि के सम्बन्ध में महत्व-पूर्ण शिफारिशें की। इन शिफारिशों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने कृषि-शिक्षा के विषय में निम्नलिखित निर्णय किये :—

(१) कृषि-विज्ञान की डिग्रियों को कला और अन्य विज्ञान की डिग्रीयों के समकक्ष समझा जाय।

(२) उच्चकोटि के प्रमाण-पत्र देने के लिये चार संस्थायें खोली जांय। उनकी स्थापना कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में हो।

(३) कृषि-शिक्षक और कृषि संचालक के लिये उच्च-तम डिग्रीयां, डिप्लोमा आवश्यक हैं।

(४) कुछ पदों के लिए कृषि की व्योहारिक शिक्षा दी जाय।

(५) कृषि-डिप्लोमा के लिये विशेष स्कूल खोले जांय।

(६) स्कूल के अध्यापकों की नियुक्ति से पूर्व उनको कुछ व्योहारिक शिक्षा दी जाय।

इस निर्णय के आधार पर १६०२ ई० में पूना, शिवपुर, सैयदपेट (मद्रास) नागपुर और कानपुर में कृषि-शिक्षण सम्बन्धी संस्थायें खुलीं।

भारत सरकार ने भी कृषि-सम्बन्धी सुधारों की ओर इसी समय ध्यान दिया। १६०१ में केन्द्रीय सरकार ने एक इन्सपेक्टर जनरल आव एग्रिकलचर के पद की स्थापना की। १६०५ में सरकार ने २० लाख रुपया कृषि के प्रयोग तथा अनुसंधान के लिये सुरक्षित रक्खा। कृषि के सुधार के लिये सरकार ने भी योजनायें बनाई। १६०८ में पूसा (बिहार) से कृषि-अनुसान्धानशाला दिल्ली स्थानान्तरित कर दी गई। १६१०ई० तक पांच-स्थानों में कृषिसंबंधी उच्च-शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। १६२८ई० में रायल कमीशन आव एग्रीकलचर की नियुक्त की गई। इस कमीशन ने कृषि सम्बन्धी सम्पूर्ण समस्याओं का अध्ययन करके सरकार के सम्मुख कृषि-शिक्षण सम्बन्धी सुधारों की सिफारिश की। उनकी शिफारिश के आधार पर १६२६ में इम्पीरियल कौंसिल आव एग्रीकलचरल रिसर्च की स्थापना की गई। माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा में भी कृषि-विषय को पाठ्य-क्रम में सम्मिलित कर लिया गया।

भारत सरकार आजकल कृषि-शिक्षा तथा उससे सम्बन्धित प्रश्नों पर बड़ी सतर्क है क्योंकि सरकार का ध्यान भारत की खाद्य-समस्या को सुलझाने की ओर अधिक लगा हुआ है। इस समय देशके विभिन्न भागों में २१ स्थानों पर कृषि संबंधी उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है जिसमें आगरा, इलाहाबाद, कानपुर, अमृतसर, बंगलौर, और नागपुर प्रमुख हैं। दिल्ली में कृषि सम्बंधी उच्च-तम अनुसंधान का प्रबन्ध इन्डियन-कौंसिल-आव-एग्रिकलचरल रिसर्च नामक संस्था में है।

कानून

जैसे पहिले कहा गया है व्यवसायिक शिक्षा में कानून की शिक्षा बहुत प्राचीन है। पश्चिमी देशों में तो इसकी व्यवस्थित शिक्षा मध्य-

कालीन युग से ही प्रारम्भ हो गई थी। भारतवर्ष में कानून की व्यवस्थित शिक्षा अङ्गरेजी शिक्षा की देन है।

कम्पनी के शासन काल में अङ्गरेजी अफसरों को तत्कालीन हिन्दू-समाज के रीति-रिवाज और सामाजिक नियमों का जानना बहुत आवश्यक था। इसके अलावा निम्न श्रेणी के रेविन्यू आफिसरों को अंगरेजी के साथ साधारण कानून का जानना भी आवश्यक था। अतएव कम्पनी ने कानून की शिक्षा-व्यवस्था बहुत पहिले कर दी थी। कानून की शिक्षा सबसे पहिले कलकत्ता मद्रास और बनारस संस्कृत कालेज में प्रारम्भ हुई। १८३२ ई० में कानून की परीक्षा लेने के लिए कलकत्ता में एक समिति का निर्माण हुआ। १८४२ ई० में हिन्दू कालेज नें कानून की पढ़ाई के लिये एक प्रोफेसर की नियुक्ति हुई। १८५७ ई० में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और कानून की पढ़ाई इन विश्व विद्यालयों के तत्वाधान में होने लगी।

कानून के अध्ययन के लिये अलग से कानून के महाविद्यालय स्थापित किये गये या कानून की कक्षायें कला अथवा विज्ञान के महाविद्यालयों के साथ सम्बन्धित कर दी गई। कुछ प्रान्तों में मुख्तार की परीक्षायें चलाई गई जिनमें हाई-स्कूल पास, विद्यार्थी प्रवेश पाते थे। इनका नियन्त्रण प्रान्त के शिक्षा-विभाग करते थे। पर अधिकांशतः एल० यल० बी० की परीक्षायें विश्वविद्यालयों से संबन्धित थीं जिनमें लोग बी० ए० पास करने के बाद ही प्रवेश पाते थे।

कानून का विषय भारतीय विद्यार्थियों के साथ विशेष रूप से प्रिय रहा है क्योंकि अधिकांश भारतीय विद्यार्थी जो उच्च सरकारी नौकरियों में प्रवेश नहीं कर पाते थे वे कानून की ही शरण में जाते थे। अतएव भूतकाल में वकीलों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो गई।

कानून से भिज्ञ तथा अंगरेजी न्याय पद्धति से परिचित होने के कारण स्वतन्त्रता संग्राम में वकीलों का बड़ा हाथ रहा है और आज के हमारे उच्च-नेता अधिकतर वकील ही थे।

पर अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अवस्था में परिवर्तन आ गया है। समाज के लिए भिज्ञ वकीलों की अधिक आवश्यकता नहीं है बल्कि रचनात्मक कार्य कर्त्ताओं की आवश्कता है। अतएव अब कानून के शिक्षण एवं उसमें प्रवेश के लिये पुनर्गठन की आवश्यकता है। विश्व-विद्यालय कमीशन ने भी इस पर अधिक जोर दिया है।

चिकित्सा

चिकित्सा की परम्परा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है। वैदिक युग में भारतीय चिकित्सा-पद्धति परियाप्त रूप में विकसित हो चुकी थी। मौर्य और गुप्त काल में तो चिकित्सा पद्धति की बहुत ही उन्नति हुई। शल्य-क्रिया भी बहुत उच्चस्तर को प्राप्त हो चुकी थी और लोगों का यह विचार है कि प्राचीन काल में ऐसे ऐसे बारीक औजार थे जिनसे बाल को भी चीरा जा सकता था। चरक का नाम तो भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में अब तक विख्यात है। लोगों को आयुर्वेद की शिक्षा प्राचीन वैद्यों से मिलती थी। इसकी शिक्षा विशेषतः परम्परागत होती थी। प्राचीन हिन्दू परिपाटी मध्यकाल में मुसलमान सम्राटों के युग में भी प्रचलित थी। इसके साथ ही मुसलमान युग में यूनानी चिकित्सा पद्धति भी प्रारम्भ हो गई और प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के साथ विकसित होती रही।

अङ्गरेजों के भारतवर्ष में आने से पश्चिमी-चिकित्सा पद्धित प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम १८२२ ई० में कलकत्ता नेटिव मेडिकल इन्स्टीटयुशन की स्थापना हुई जो भारतीय नागरिकों को अंगरेजों के सहायक होने के लिए ट्रेनिंग देती थी। १८२६ ई० में कलकत्ता संस्कृत कालेज और मद्रास में चिकित्सा की कक्षायें जोड़ दी गई। परंतु इसमें प्राचीन ढङ्ग से शिक्षा दी जाती थी। १८३५ ई० में मेडिकल कालेज की स्थापना हुई। पहिले लोगों का विश्वास था कि मृत-शरीर का चीड़-फाड़ करने से हिन्दुओं को आपत्ति होगी। पर मधुसूदन गुप्त नाम के एक विद्यार्थी ने सर्व प्रथम चीड़-फाड़ करके यह भ्रम दूर कर

दिया। १८४४ में सरकार ने चार भारतीय विद्यार्थियों को चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा के लिए इङ्गलैंड भेजा। कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद चिकित्सा की यह कक्षायें विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दी गईं।

बम्बई में एलिफिन्सटन ने १८२६ ई० में एक मेडिकल स्कूल की स्थापना की थी। १८३६ ई० में पूना के कालेज में चिकित्सा की कक्षा खोली गई। १८४५ ई० में ग्रान्ट-मेडिकल कालेज की स्थापना की गई। यह कालेज इङ्गलैंड के रायल कालेज आफ सर्जन से सम्बन्धित था। बम्बई विश्वविद्यालय प्रारम्भ होने के पश्चात् यह कालेज विश्व-विद्यालय से संबंधित कर दिया गया। इसी प्रकार मद्रास में १८३५ ई० सर्वप्रथम मेडिकल स्कूल खुला। इसी में १८४२ ई० में कालेज की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। १८५५ ई० में यह कक्षायें विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कर दी गई। १८६० ई० में लाहौर में भी मेडिकल कालेज की स्थापना की गई। १६०१-०२ ई० तक भारतवर्ष में चार मेडिकल कालेज और २४ मेडिकल स्कूल थे।

बीसवी शताब्दी के अंतिम भाग में पशुचिकित्सा का भी विकास हुआ और क्रमःसे लाहौर १८८२, बम्बई १८८६ और कलकत्ता १८६३ में पशु चिकित्सा के कालेज प्रारम्भ हुये।

बीसवीं-शताब्दी में चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा की शीघ्रता से उन्नति हुई। १६४५-४६ में सम्पूर्ण ब्रिटिश इंडिया में १६ मेडिकल कालेज और ४४ मेडिकल स्कूल थे। चिकित्सा में अनुसंधान का कार्य भी शुरू हो गया था। देहरादून में एक्स रे इन्स्टीटुयूट खुला, कसौली में अनुसंधान के लिये एक इन्स्टीट्यूट की स्थापना हुई। १६३२ई० में राक फेलर-फाउन्डेशन, के द्वारा कलकत्ता में एक अखिल भारतीय जन-स्वास्थ्य एवं स्वास्थ्य रक्षा (All India Institute of Hygiene & Public Health) सम्बन्धी संस्था खुली। इस संस्था का उद्देश्य जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी शिक्षा का प्रचार और अनुसन्धान करना है। १६३४ ई० में अखिल भारतीय मेडिकल कौन्सिल (All India Medical Council)

का संगठन किया गया। इसका प्रमुख कार्य अखिल भारतीय स्तर पर चिकित्सा सम्बन्धी व्यवसाय के लिये योग्यतायें निर्धारित करना एवं सम्पूर्ण रजिस्टर्ड डाक्टरों की सूची रखना है।

भारतवर्ष में अभी योग्य डाक्टरों की अत्याधिक कमी है। अतएव यहाँ पर जन संख्या के अनुपात में डाक्टरों की संख्या पश्चिमी देशों की अपेक्षा बहुत कम है। विशेष रूप से गावों में तो डाक्टरों की संख्या बहुत ही कम है अतएव अभी तक सरकार इस प्रयत्न में है कि अधिक डाक्टरों को प्रशिक्षित करके देहातों में भेजा जाय।

चिकित्सा में अनुसंधान की भी कमी है। अतएव चिकित्सा सम्बन्धी अनुसंधान के लिये सरकार ने अभी हाल में कई अनुसंधान शालायें खोली हैं। विश्वविद्यालय आयोग ने चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षण के सुधार के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव रक्खें हैं:—

(१) मेडिकल कालेज में अधिक से अधिक १०० विद्यार्थी प्रविष्ट करने चाहिये।
(२) चिकित्सा सम्बन्धी सभी विभाग एक ही स्थान पर केन्द्रित हों।
(३) प्रत्येक विद्यार्थी के पीछे कम से कम १० पलंग हों।
(४) डाक्टरों के प्रशिक्षण का केन्द्र यदि ग्रामों में हो तो अधिक अच्छा है।
(५) अन्वेषण के लिये योग्य-शिक्षक और सामान की आवश्यकता है।
(६) जन-स्वास्थ्य-इंजिनीयरिंग तथा नर्सिंग का भी विकास हो।
(७) देशी चिकित्सा पद्धति की भी उन्नति होनी चाहिये।
(८) भारतीय चिकित्सा के इतिहास से भी विद्यार्थियों को परिचित कराना आवश्यक है।

इन्जीनियरिंग एवम् टेकनोलाजी

भारत के विशाल प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने और उनका विकास करने के लिये आवश्यक है कि भारत में इन्जीनियरिंग और

टेक्नोलाजी की शिक्षा का विकास किया जाय। भारतवर्ष में इस शिक्षा का विशेष अभाव रहा है और अब तक इस शिक्षा का विशेष विकास नहीं हो पाया। स्वतंत्रता के पश्चात सरकारी नीति में परिवर्तन हुआ और अब राष्ट्रीय सरकार शिक्षा के इस अङ्ग को शीघ्रता से पूरा करने का प्रयत्न कर रही है।

भारतवर्ष में इंजीनियरिंग की शिक्षा के प्रारम्भ के लिये सर्वप्रथम कलकत्ता के हिन्दू कालेज में एक प्रोफेसर का स्थान बनाया गया। पर यह स्थान उचित व्यक्ति के न मिलने के कारण बहुत दिनों तक रिक्त पड़ा रहा। १६२४ ई० में बम्बई में एक इन्जीनियरिंग की कक्षा आरंभ की गई। १८५४ ई० में पूना में एक इन्जीनियरिंग और मेकेनिकल स्कूल की स्थापना की गई। लार्ड डलहौजी के प्रयत्न से सर्वप्रथम कलकत्ता में एक कालेज खोला गया और कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात उससे सम्बन्धित कर दिया गया। मद्रास में १७६३ ई० से ही सर्वेयर लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए एक स्कूल था। १८५८ ई० तक इसे भी इन्जीनियरिंग कालेज में विकसित कर मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कर दिया गया।

उत्तर प्रदेश में १८४५ ई० में सहारनपुर में एक छोटा सा इन्जीनियरिंग स्कूल था। जब गंगा की नहर की खुदाई प्रारम्भ की गई तो इन्जीनियरों की आवश्यकता हुई। इसके लिये १८४७ ई० में रुड़की में इन्जीनियरिंग की कक्षायें प्रारम्भ की गईं। इसी कक्षा को पुनः एक कालेज का स्वरूप दे दिया गया और १८५४ ई० तक थाम्सन कालेज रुड़की की स्थापना की गई।

भारतवर्ष में गृह-निर्माण-विभाग, नगर-पालिकाओं, रेलवे, और खनिज कम्पनियों को योग्य इन्जीनियरों की आवश्यकता पड़ती थी और उनकी यह मांग दिनों-दिन बढ़ती ही जाती थी।

१८८० ई० में बंगाल में स्वतन्त्र रूप से शिवपुर में इन्जीनियरिंग कालेज की स्थापना की गई। १८६६ ई० में पूना का इन्जीनियरिंग कालेज बम्बई विश्वविद्यालय से सङ्गठित कर दिया गया। इलेक्ट्रिकल

औद्योगिए शिक्षा का प्रारम्भ तो प्रमुख रूप से इसी शताब्दी में हुआ। सरकार ने इस शिक्षा के लिये विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये छात्रवृत्तियाँ निश्चित कीं। जिसके योग से इंगलैंड में या अन्य देशों में विद्यार्थी औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। १६०५-१७ तक सरकार ने ११३ छात्रों को विदेशों में औद्योगिक शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा। परन्तु शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि छात्रवृतियों की यह योजना भली भांति काम नहीं कर रही है। इसका कारण यह था कि विदेशों में इतनी अधिक संख्या में विद्यार्थी नहीं भेजे जा सकते थे जितनी राष्ट्र के उत्तरोत्तर औद्योगिक विकास के लिये आवश्यकता थी। अतएव १६१८ में भारत सचिव ने एक उपसमिति की स्थापना की। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीः—

(१) छात्र-वृत्तियों की संख्या एक समय में ३० कर दी जाय।
(२) इनकी अवधि २ से ५ वर्ष तक हो।
(३) चुनाव का अंतिम निर्णय प्रान्तीय सरकारों के हाँथ में हो।
(४) विषयों के चुनाव में कपड़े, खनिज, चीन मिट्टी के बर्तन, शीसा, चीनी, कागज आदि को प्रधानता दी जाय।

पर भारतीय नेताओं को इससे सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने अपने प्रयत्न जारी रक्खे। १६०४ में कलकत्ते में एक संघ का निर्माण किया गया। (Association for the Advancement of Scientific and Industrial Education in India) इस सङ्घ का उद्देश्य विदेशों में विद्यार्थियों को पढ़ने के लिये धन एकत्रित करना था। सङ्घ ने १६०५ में १६, १६०६ में ४०, और १६०८ में ६६ विद्यार्थियों को विदेशों में शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा। इसमें से १४० विद्यार्थी विदेश से लौट कर भारतवर्ष में आये और उन्हें कार्य मिला।

१६२१-२२ में विदेशों में भारतीय विद्यार्थियों की समस्या पर विचार करने के लिये लार्ड लिटन की अध्यक्षता में एक उपसमिति का निर्माण किया गया। इस समिति ने निर्णय दिया कि इन्गलैंड में भारतीय विद्यार्थियों को ट्रेन्ड करने का क्षेत्र कम है क्योंकि प्रत्येक

उद्योग अपने व्यापारिक नुस्खों को गुप्त रखता है। दूसरे जिन उद्योगों की आवश्यकता हो उन्ही का विकास देश में करना चाहिये। अतएव समिति ने यह सिफारिश की कि औद्योगिक शिक्षा के विभिन्न विषयों का विकास भारतवर्ष में ही किया जाय। वास्तव में भारतीय मत इस सिद्धान्त की ओर बहुत दिनों से था।

१६११ ई० में बंगलोर में इण्डियन इन्स्टीटयूट-आफ साइंस खोला गया। इसमें एप्लाइड कमेस्ट्री (Applied Chemistry), बायोकेमेस्ट्री (Biochemistry) और एलेक्ट्रिकल टेकनोलाजी आदि से सम्बन्धित-उच्च विषयों के शिक्षण और अनुसंधान की व्यवस्था है। इसी समय भारतीय विश्व विद्यालयों ने भी ऐप्लाइड फिजिक्स (Applied-Physics) और केमेस्ट्री के विभाग खोले। इनमें कलकत्ता, बम्बई, आन्ध्र और बनारस विश्व-विद्यालय प्रमुख हैं।

भारत सरकार भी इन दिनों औद्योगिक विकास को जीवन से सम्बन्धित करने के उद्देश्य से प्रवर समितियों का निर्माण कर रही थी। १६११-१२ में ले० को० अटकिन्स जो रुड़की कालेज के प्रिन्सपल थे और टी० एस० डासन की समिति का निर्माण किया गया। १६१५ में सर थामस हालैण्ड की अध्यक्षता में एक इन्डस्ट्रीयल कमीशन की स्थापना की गई। ऐबट और डड की सिफारिशें सामने आई। सार्जेन्ट महोदय जिन्होंने भारतीय शिक्षा की युद्ध काल के पश्चात विकास की योजना बनाई थी उनकी रिपोर्ट आई। १६४४ ई० में श्री नलनी रंजन सरकार की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण हुआ जिसने भारतवर्ष में चार उच्च टेकनालोजिकल इन्स्टीट्यूट खोलने की सिफारिश की।

स्वतन्त्रता के पश्चात देश का सारा ध्यान इस पर केन्द्रित हुआ और पिछले कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में द्रत-गति प्रगति हुई है। १६४७ में भारत सरकार ने एक उप-समिति (Sceintific Man-power Committee) का निर्माण किया। जिसका उद्देश्य औद्योगिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में कितने ट्रेन्ड आदिमियों की

आवश्यकता होगी इनका अन्दाज लगाना था। इस समिति ने यह निर्णय दिया कि अगले १० वर्षों में भारतवर्ष के लिए लगभग ०७००० इन्जीनियरों और वैज्ञानिकों की आवश्यकता होगी। प्रतिवर्ष लगभग २७०० से ५४०० तक योग्य व्यक्ति चाहिए। उस समय भारतीय कालेजों से केवल १,१३० ग्रेजुएट निकलते थे। उनकी संख्या मांग की दृष्टि से बहुत कम थी। अतएव भारत सरकार ने शीघ्र औद्योगिक और वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग का सङ्गठन १६४८ में किया। केन्द्र में भारत सरकार ने वैज्ञानिक और औद्यगिक अनुसंधान विभाग का एक अलग मंत्रालय-खोला जिसका कार्य वैज्ञानिक शिक्षा का प्रसार है।

औद्योगिक-शिक्षा को सङ्गठित करने के लिये और प्रत्येकस्तर पर उसको व्यावसायों के साथ सहयोग देने के लिये भारत सरकार ने एक अखिल-भारतीय-औद्योगिक-शिक्षा-समिति (All India Council of Technical Education) का निर्माण किया है। इस समिति में सरकार ने प्रतिनिधि, विभिन्न उद्योगों के प्रतिनिधि, औद्योगिक शिक्षा से विशेषज्ञ, विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि और बोर्डों के प्रतिनिधि शामिल हैं। कार्य को सुव्ययस्थित ढङ्ग से चलाने और उद्योगों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए इस कौन्सिल ने अपने का चार रीजनल कौंसिलों में विभाजित कर लिया है। इन कौंसिलों का मुख्य कार्य स्थनीय आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा और उद्योगों में संपर्क स्थापित करना है।

अखिल भारतीय औद्योगिक शिक्षा समिति ने कार्य सञ्चालन के लिये निम्नलिखिति ६ बोर्ड की स्थापना की है :—

(१) इन्जीनियरिंग और मैटोलुराजी (Engineering & Metallurgy)।

(२) केमिकल इन्जीनियरिंग और केमिकल टेकनालाजी (Chemical Engineering & Chemical Technology)।

(३) टेक्सटाइल टेकनोलाजी (Textile Technology)।

(४) आरकीटेक्चर एण्ड रीजनल प्लानिंग (Architecture & Regional Planning)।

(५) एप्लाइड आर्ट (Applied Art)।

(६) कामर्स एण्ड बिजनेस एडमिनिस्ट्रेशन (Commerce & Business Administration)।

कौंसिल ने ग्रेजुएट स्तर के नीचे औद्योगिक शिक्षा को विभिन्न राज्यों में एक स्तर पर लाने के लिए एक परीक्षा का व्यवधान किया है। यह परीक्षा नेशनल डिप्लोमा कोर्स (National Diploma Course) के नाम से प्रख्यात है।

औद्योगिक शिक्षा में वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए केन्द्रीय सरकार ने दिल्ली में एक संस्था प्रारम्भ की है जो कौंसिल आफ इन्डस्ट्रीयल एण्ड साइन्टिफिक रिसर्च (Council of Industiral & Scientific Research) के नाम से प्रख्यात है। इस संस्था का कार्य उद्योगों से सम्बन्धित विभिन्न अनुसंधान करना है तथा उसमें विकास की विधि बतलाना है।

टेकनोलाजिकल इन्स्टीच्युट

एन० आर० सरकार समिति ने भारतवर्ष में चार हायर टेकनालाजिकल इन्स्टीच्युट की स्थापना की सिफारिश की थी। सरकार ने सिफारिश को स्वीकार कर लिया और इसके अनुसार पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चार हायर टेकनालाजिकल इन्स्टीच्युट स्थापित किये जांयेगें। इसमें पूर्व का इन्स्टीच्युट १९५१ में खरगपुर में स्थापित किया गया है। इसका प्लान अमरीका के प्रसिद्ध टेकनालाजिकल इन्स्टीच्युट मेसाचुसेट के आधार पर किया कया है और इन्हीं आधारों पर अन्य इन्स्टीच्युट भी स्थापित किये जांयेगें।

इस इन्स्टीच्युट में इन्जिनीयरिंग और टेकनोलोजी के विभिन्न विषयों के ग्रेजुयेट और पोस्ट ग्रेजुयेट स्तर की शिक्षा की व्यवस्था है। सरकार इस पर ३०५ लाख रुपया सज्जा और व्यवस्था में खर्च करेगी

और प्रतिवर्ष ४४ लाख रुपया खर्च किया जायगा। जब यह संस्था पूर्ण-रूप से कार्य करने लगेगी तो इसमें १३२० अन्डर ग्रेजुएट और ४०० पोस्ट ग्रेजुएट विद्यार्थियों की शिक्षा की व्यवस्था होगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत इसी प्रकार के इन्स्टीच्युट १९५६-५७ में वेस्टर्न ५८-५९ में सदर्न और ६०-६१ में नार्थ में स्थापित किये जायँगें। पर यह अंदाज लगाया गया है कि इन्जीनियरिंग की शिक्षा का इतना विकास होने पर भी तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंतिम सालों में भारतवर्ष में इन्जीनियरों और औद्योगिक विशेषज्ञों की कमी हो जायगी।

अनुसंधान शालायें

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान में प्रगति देने के लिये केन्द्रीय सरकार ने ११ राष्ट्रीय रसायन शालायें तथा अनुसंधान शालायें स्थापित की हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(१) नेशनल केमिकल लेबोरेटरी, पूना।
(२) नेशनल फिजीकल लेबोरेटरी, नई दिल्ली।
(३) नेशनल मेटोलोराजिकल लेबोरेटरी, जमशेदपुर।
(४) नेशनल फ्युवेल रिसर्च इन्स्टीस्यूट, धनवाद।
(५) सेन्ट्रल ग्लास एण्ड सिरामिक्स रिसर्च इन्स्टीटयूट, कलकत्ता।
(६) रोड रिसर्च इन्स्टीस्यूट, नई दिल्ली।
(७) बिल्डिग रिसर्च स्टेशन-रूड़की।
(८) ड्रग रिसर्च लेबोरेटरी, लखनऊ।
(९) फूड टेकनोलाजिकल, इन्स्टीस्यूट, मैसूर।
(१०) इलेक्ट्रो-केमिकल इन्डस्ट्रीज एण्ड रिसर्च इन्स्टीस्यूट, कराईकुरी मदूरा।
(११) लेदर इन्स्टीस्यूट, मद्रास।

छात्र वृत्ति

भारत सरकार ने टेकनिकल क्षेत्र में उन विषयों की शिक्षा के लिये जिनकी व्यवस्था भारत में अभी तक नहीं हो पाई है विद्यार्थियों

को विदेशों में शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति की व्यवस्था की है। अगले पाँच वर्षों में इस प्रकार के २५० विद्यार्थियों को शिक्षा में सुविधा प्रदान की जायेगी।

विश्वविद्यालयों को आर्थिक सहायता

भारत सरकार ने आल इन्डिया कौंसिल फार टेकनिकल एजूकेशन की सलाह से विभिन्न विश्वविद्यालय एवं संस्थाओं को, जिनमें औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था है, उनके सुधार के लिये आर्थिक सहायता की व्यवस्था की है। इस पर सरकार ने पिछले पाँच वर्षों में १६२ लाख की आर्थिक सहायता की और अब प्रतिवर्ष केन्द्रीय सरकार २५५ लाख रुपया खर्च करेगी। केन्द्रीय सरकार ने इंडियन इन्स्टीच्युट आव साइन्स, बंगलौर को १७७ लाख रुपये की आर्थिक सहायता दी।

माध्यमिक स्तर पर सहयोग

औद्योगिक शिक्षा की सब से बड़ी समस्या यह है कि उसका माध्यमिक स्तर पर साधारण शिक्षा से अभी तक कोई समन्वय नहीं है और न तो क्षेत्रीय उद्योगों से ही उसका कोई सहयोग हो पाता है। जो युवक आर्थिक अड़चनों के कारण किसी व्यवसाय में लग जाते हैं उन्हें अपने व्यवसाय की उच्च शिक्षा नहीं मिल पाती। वास्तव में शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार की हो कि जो लड़का १८-१९ साल की आयु में स्कूल से बाहर जाता है, उसे इतनी साधारण और औद्योगिक शिक्षा प्राप्त हो कि वह किसी कार्य में लग सके जिससे वह अपनी जीवका कमा सके। औद्योगिक-शिक्षा साधारण शिक्षा से खर्चीली भी होती है। अतएव सरकार को इस पर अधिक व्यय करना पड़ता है इन समस्याओं को दृष्टि में रख कर अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा आयोग ने निम्नलिखित सिफारिश की है :—

(१) मल्टीपरपज स्कूलों की व्यवस्था हो जिसमें साधारण शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा भी दी जा सके।

(२) इसके लिये सरकार विभिन्न उद्योगों पर विशेष कर (Industrial cess) लगाने का व्यवधान कर सकती है।

(३) औद्योगिक शिक्षा और विभिन्न उद्योगों में निकट सम्पर्क हो। इसके लिये औद्योगिक प्रतिनिधियों को औद्योगिक शिक्षा बोर्ड में स्थान दिया जाय। यदि आवश्यकता हो तो सरकार इस प्रकार का कानून भी बना दे जिससे औद्योगिक शिक्षा के विद्यार्थियों को विभिन्न उद्योगों के कारखानों में प्रायोगिक एवं क्रियात्मक शिक्षा मिल सके।

(४) अल्प समय में औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था भी हो जिसमें वे विद्यार्थी जो किसी काम में लगे हुये हैं, वे सुबह-शाम अपने व्यवसाय की अधिक साधारण शिक्षा प्राप्त कर सकें।

यदि इस प्रकार औद्योगिक शिक्षा को संगठित करने का प्रयत्न किया जाय तो इस क्षेत्र से कमी शीघ्र दूर की जा सकती है।

वाणिज्य

वाणिज्य की शिक्षा विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी की देन है। इसके पहिले संगठित रूप से वाणिज्य की शिक्षा देने के लिये स्कूल नहीं थे। धीरे-धीरे शीघ्र-लिपि और लेखा-बही की शिक्षा देने के लिये स्कूल खुले। इनका केन्द्र मुख्य रूप से बम्बई था। धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार इन संस्थाओं की वृद्धि होती गई। १६०१-०२ में वाणिज्य की शिक्षा के १५ स्कूल थे जिनमें कुल १२२३ छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। १६०३ में वाणिज्य की कक्षायें प्रसीडेंसी कालेज, कलकत्ता में प्रारम्भ की गईं। आगे चल कर यह कक्षायें कालेज से अलग कर दी गईं और स्वतन्त्र रूप से गवर्नमेंट कामर्सियल इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता, प्रारम्भ किया गया। बम्बई में सर्व-प्रथम १६१३ में वाणिज्य की उच्च शिक्षा के लिये सिदेनहम कालेज आव कामर्स और एकोनामिक्स, प्रारम्भ किया गया। पिछले तीस वर्षों में वाणिज्य की कक्षायें प्रायः सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में स्थापित कर दी गई हैं जिनमें

बी० काम० और एम० काम० की पढ़ाई तथा खोज का भी विधान है। पिछले कुछ वर्षों में वाणिज्य का विषय हाई स्कूल की कक्षाओं में भी प्रारम्भ कर दिया गया है।

उद्योग और व्यवसाय की उन्नति के साथ कुछ नये पेशे भी उत्पन्न हो रहे हैं, जैसे वाणिज्य-शासन और व्यवस्था (Business Administration and Management) और जन—सम्पर्क (Public Relation) इत्यादि। पश्चिमी देशों में इनके प्रशिक्षण की विशेष व्यवस्था है और हर एक मैनेजर को, जो किसी विशेष कारखाने या व्यवसाय के कार्य संचालन से सम्बन्धित है उसकी विशेष शिक्षा दी जाती है। भारतवर्ष में अभी इस शिक्षा की व्यवस्था नहीं है। खरगपुर टेकनोलाजिकल इन्स्टीट्यूट में सरकार वाणिज्य-शासन का पाठ्यक्रम चलाने की व्यवस्था कर रही है।

वास्तव में वाणिज्य-शासन और व्यवसाय अब बहुत क्लिष्ठ और वैज्ञानिक होता जा रहा है और इसके संचालन में विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष में इस प्रकार के पाठ्यक्रम को अब अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि भारत के उत्तरोत्तर बढ़ते हुये वाणिज्य और व्यवसाय को ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों की विशेष आवश्यकता होगी।

कला

भारतीय कला का संसार में अपना एक विशिष्ट स्थान है। प्रचीन-काल में भारतीय कला संसार प्रसिद्ध थी। आज भी भारतीय कला के नमूने देखकर विदेशी लोगों को आश्चर्य होता है।

प्राचीन-काल में कला प्रशिक्षण कला-विदों के सत्संग और उनकी शिष्यता से प्राप्त होता था। मध्यकाल और उन्नीसवीं शदी तक यह परम्परा चली आई। वर्तमान काल में कला की संगठित शिक्षा देने के लिये सबसे पहिले १८५० में डाक्टर हन्टर नामक एक अंगरेज ने ललित-कला का एक स्कूल खोला। कुछ दिनों पश्चात् सरकार ने इस

स्कूल को अपने शासन में ले लिया। बम्बई में सर जे० जे० टाटा ने कला का एक स्कूल खोलने के लिये एक लाख रुपये का अनुदान दिया और उससे १८५६ में जे० जे० स्कूल आफ आर्ट की स्थापना हुई। १८७५ में लाहौर में मेवो स्कूल आफ आर्ट की स्थापना की गई। कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट का १८६६ में पुर्नगठन किया गया। इस प्रकार भारतवर्ष में कला के चार स्कूल हो गये। १८६३ में भारत सचिव ने लार्ड एलगिन को यह सुझाव दिया कि इन स्कूलों को औद्योगिक स्कूलों में परिवर्तित कर दिया जाय। पर लार्ड एलगिन ने यह सुझाव नहीं स्वीकार किया और उन्होंने यह लिखा की भारतीय कला को जीवित रखने के लिये संरक्षण की आवश्यकता है।

शिमला कानफरेन्स में सुझाव दिया गया कि बालकों को इस प्रकार की कला सिखाई जाय जिससे वे अपनी जिविका भी चला सकें। १६०४ में शिक्षा-प्रस्ताव के द्वारा पुनः इस पर जोर दिया गया। वास्तव में कला का एक अंग व्यवसायिक भी है और व्यवसायिक कला, कला का एक विशेष अंग हो गई है। १६४६-४७ में कला के १४ स्कूल थे जिनमें १६६८ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इन संस्थाओं में ड्रफटमैन और ड्रइंग-टीचर प्रशिक्षित किये जाते हैं।

कला के प्रशिक्षण में अब विशेष जोर दिया जाता है। बेसिक शिक्षा पद्धति में तो प्रारम्भिक कक्षाओं में यह अनिवार्य विषय है। चित्रकला अब हाई स्कूल और बी० ए० की परीक्षाओं का पाठ्य-विषय है।

संगीत प्रशिक्षण के लिये भी अब विशेष स्कूल खुल गये हैं जिनमें मारिस स्कूल आव म्युजिक लखनऊ, संगीत विद्यालय कलकत्ता, कला क्षेत्र, अदयार, और भारत खण्डे स्कूल आव म्युजिक, बम्बई प्रमुख हैं।

शिक्षक-प्रशिक्षण

संगठित रूप से शिक्षक-प्रशिक्षण का प्रारम्भ भारतवर्ष में पाश्चात्य शिक्षा की देन है। प्राचीन और माध्यमिक काल में भारतवर्ष में शिक्षकों के साथ जो प्रिय और मेघावी छात्र रहते थे वही शिक्षण प्रारम्भ कर

देते थे। शिक्षण-पद्धति और पाठ्यक्रम प्रायः वही रखता था जिसे वे स्वयं पढ़ते थे और जिस भांति उन्हें पढ़ाया जाता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर प्रारम्भ में ध्यान नहीं दिया। पुर्तगाल के मिशनरियों ने पादरियों की शिक्षा के लिये कुछ संस्थाएं खोल रक्खी थीं और डेनिश पादरियों ने कुछ अध्यापकों को शिक्षित किया था। डा० एन्ड्रू बेल ने कुछ स्कूलों में मानीटोरियल सिसटम (Monitorial System) प्रारम्भ किया। श्री कैरे ने एक नार्मल स्कूल प्रारम्भ किया था। बम्बई प्रेसीडेन्सी में सबसे पहिले शिक्षकों का प्रशिक्षण प्रारम्भ हुआ। यहाँ पर २४ शिक्षकों का एक दल प्रशिक्षित किया गया और उनकी मद्‌ से अन्य प्राइमर शिक्षकों को लैकास्ट्रियन पद्धति की शिक्षा दी गई।

मुनरो और एलफिन्सटन ने कम्पनी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था पर डाइरेक्टरों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और एडमसोकी इस सिफारिश को, कमेटी आव पबलिक इन्सट्रक्सन, (Committe of Public Instruction) ने नहीं स्वीकार किया। कलकत्ता में १८४७ ई० में नार्मल स्कूल की स्थापना हुई और उत्तर पश्चिमी प्रदेश में आगरा, मेरठ और बनारस में नार्मल स्कूल क्रम से १८५२-५६ और ५७ में खोले गये।

शिक्षा की बृद्धि के साथ प्रशिक्षित शिक्षकों की मांग बढ़ती गई और उन्नसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में प्रायः प्रत्येक प्रवर समिति ने इस बात पर जोर दिया। १८८१-८२ में १०६ नार्मल स्कूल थे जिनमें ३८८६ शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जा रहा था। १९०१-०२ में १३६ नार्मल स्कूल पुरुषों के लिये थे जिनमें ४,४१० शिक्षक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे और ४६ स्कूल औरतों के लिये थे जिनमें १२९२ औरतें थीं।

हन्टर कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात, माध्यमिक शिक्षालयों के लिये शिक्षक प्रशिक्षित करने की ओर, सरकार का ध्यान गया और विभिन्न प्रान्तों में माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय प्रारम्भ किये गये। पर उनकी संख्या बहुत कम रही। १९०१-०२ में

केवल ६ ट्रेनिंग कालेज थे। इसके अलावा अन्य ५० शिक्षालयों में माध्यमिक-शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाता था। फिर भी तत्कालीन अवश्यकता के अनुसार यह सुविधायें कम थीं।

१६०४ के प्रस्ताव के द्वारा शिक्षक प्रशिक्षण की ओर सरकार का ध्यान केन्द्रित किया गया। इसी समय विभिन्न विश्वविद्यालयों ने प्रशिक्षण विभाग खोले। शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय बम्बई में १६०६ में, कलकत्ता में १६०८ में, पटना में १६०६ में और ढाका में १६१० में खोला गया। जबलपुर विद्यालय १६११ में पूर्ण रूप से कालेज के स्तर पर लाया गया। १६१३ में प्रस्ताव के द्वारा जो शिक्षक प्रशिक्षित न हों उनका स्थायित्व बन्द कर दिया गया और उनका शिक्षण भी वैध नहीं रहा। अतएव सभी प्रान्तों में प्रशिक्षण विद्यालयों का संगठन हुआ। १६४६-४७ में केवल ब्रिटिश इन्डिया में ३३ ट्रेनिंग कालेज थे जिसमें २,४७४ शिक्षकों को प्रशिक्षण मिल रहा था। इसके अलावा ३३६ ट्रेनिंग स्कूल पुरुष के लिये और १८८ स्कूल औरतों के लिये थे। जिनमें २३, ५२२ पुरुषों और, १०,५२२ औरतें प्रशिक्षित हो रही थीं।

शिक्षा के द्रुत गति से प्रसार और प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी के कारण वर्तमान काल में केन्द्रीय सरकार ने इसकी ओर विशेष ध्यान दिया है और प्रायः प्रत्येक प्रान्त में प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या बढ़ रही है। इसके अलावा ग्रेजुयट और प्राईमरी स्कूल के अध्यापकों के लिये बेसिक प्रशिक्षण विद्यालयों का भी संगठन हो रहा है।

शिक्षक-प्रशिक्षण और शिक्षण-अनुसंधान पर विश्वविद्यालय-शिक्षा आयोग और माध्यमिक-शिक्षा-आयोग दोनों ने अपने मत प्रकट किये हैं और उनके सुधार के तरीकों का सुझाव दिया है।

वास्तव में वर्तमान शिक्षक-प्रशिक्षण और पाठशालाओं की वास्तविक परीस्थिति तथा उनके पाठ्यक्रम में काफी विषमता है। अतएव प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रयुक्त पद्धत्तियाँ पाठशालाओं में अव्योहारिक सी प्रतीत होती हैं। प्रशिक्षण विद्यालयों और पाठशालाओं की यह विषमता शीघ्रातिशीघ्र दूर करनी चाहिये।

प्रशिक्षण का पाठ्य-क्रम प्रायः एक ही शिक्षण साल का है। यह समय प्रशिक्षण विद्यालयों के कार्यक्रम को देख कर बहुत ही कम है। सभी शिक्षा-विद् इससे सहमत हैं कि इनका प्रशिक्षण काल बढ़ना चाहिये। परन्तु शिक्षा के प्रसार-काल में व्यय और शिक्षकों की कमी के कारण इस ओर कोई व्योहारिक कदम नहीं उठाया जा सका है। एक विद्वान ने तो लिखा है कि 'शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों में रहकर कुछ नहीं सीखते वे तो केवल शीघ्रता के कारण जीवित रह पाते हैं।'

अधिक उपयुक्त हो यदि ग्रीष्मावकाश का समय शिक्षक प्रशिक्षण में और मिला दिया जाय और उनकी छुट्टियों में कुछ कमी करके समय पूरा किया जाय।

शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालयों में सह-पठ्यक्रम जिसमें समाज-सेवा, खेल-कूद, नाटक और ग्राम्य-सुधार आदि विषय आते हैं, इनके प्रशिक्षण का संगठन करना आवश्यक है। वास्तव में यही ऐसे व्यवहारिक विषय हैं जिनके द्वारा पाठशाला और समाज का निकट सम्पर्क स्थापित हो सकता है। अतएव पाठशाला को समाज का केन्द्र बनाने के लिये आवश्यक है कि अध्यापक को इन विषयों का व्यवहारिक ज्ञान हो। इस क्षेत्र में प्रायः प्रत्येक प्रशिक्षण-विद्यालय को सक्रिय रूप से काम करना चाहिये।

शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय में समय कम मिलता है। अतएव यदि प्रशिक्षण के लिये अनुभवी शिक्षक आवें तो अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु बहुत दिनों का अनुभव भी उपयुक्त नहीं होता क्योंकि इससे अध्यापकों की आदत पड़ जाती है और वे नवीन पद्धतियों को भली-भाँति नहीं सीख पाते।

माध्यमिक-शिक्षा-आयोग ने शिक्षक प्रशिक्षण में एक-रूपता लाने के लिये इस बात की सिफारिश की है कि वर्तमान काल में जो डिप्लोमा शिक्षा-विभाग देता है उसे बन्द कर दिया जाय और ग्रेजुयट प्रशिक्षण का कार्य विश्वविद्यालयों को ही सौंप दिया जाय।

शिक्षण-पद्धतियों और पाठ्य-क्रम में आन्वेषण के लिये प्रशिक्षण-विद्यालयों को निरन्तर कार्य करते रहना चाहिये। अब तक प्रायः प्रत्येक विश्व-विद्यालय ने प्रशिक्षण में पोस्ट-ग्रेजुयट का पाठ्य-क्रम प्रारम्भ कर दिया है। मास्टर आफ़ एजुकेशन (Master of Education) में प्रवेश के लिये प्रशिक्षण के पश्चात शिक्षण का कुछ व्योहारिक ज्ञान होना चाहिये ताकि वे अन्वेषण का कार्य व्योहारिक रूप से कर सकें।

शिक्षक प्रशिक्षण में किसी प्रकार की फीस नहीं लेनी चाहिये और सरकार को प्रशिक्षण काल में कुछ वजीफा भी देने का प्रयत्न करना चाहिये। वास्तव में शिक्षकों का वेतन और उनका समाज में स्तर वर्तमान काल में इस प्रकार का है कि शिक्षण कार्य में कोई योग्य और मेधावी नवयुवक नहीं आता। शिक्षा की सर्वोत्तम योजना भी अच्छे कार्यकर्त्ता के न होने से अच्छे ढंग से नहीं चल सकती। अतएव सारी सुधार की योजनायें असफल हो जाती हैं। यदि शिक्षा में सुधार करना है तो इसके लिये आवश्यक है कि शिक्षकों का वेतन और उनका समाज में स्तर आदि ठीक किया जाय। इससे शिक्षा की बहुत सी समस्यायें स्वयं ठीक हो जाँयगीं।

औद्योगिक एवं साधारण शिक्षा का सम्बन्ध

औद्योगिक शिक्षा की सब से बड़ी समस्या यह है कि सांस्कृतिक शिक्षा के महत्व के कारण औद्योगिक शिक्षा को कुछ निम्न दृष्टि से देखा जाता था। अतएव बहुत से मेधावी विद्यार्थी इस ओर आकर्षित नहीं होते थे। परन्तु अब यह समस्या नहीं है बल्कि साधारण शिक्षा ही कम महत्वशाली हो गई है। अतएव मेधावी छात्र अधिकतर इन्जीनियरिंग और औद्योगिक शिक्षा की ओर आकर्षित होते हैं। पर इस क्षेत्र में अत्यधिक ध्यान केन्द्रित होने के कारण उनकी साधारण शिक्षा कम ही हो पाती है। वास्तव में औद्योगिक शिक्षा की इस कमी को दूर करना बहुत आवश्यक है। प्रत्येक औद्योगिक शिक्षा के विशेषज्ञ की साधारण-शिक्षा इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि वह कविता, साहित्य,

संगीत और समाज के अन्य सांस्कृतिक कार्यों में आनन्द ले सकें। इसके साथ ही सांस्कृतिक-शिक्षा के विद्वान की शिक्षा में इतना व्यवहारिक तत्व होना आवाश्यक है कि वह अपनी जीविका कमा सके और किसी हस्तकला को नीची-निगाह से न देखे।

औद्योगिक शिक्षा की कमजोरी

औद्योगिक प्रसार और औद्योगिक शिक्षा के विस्तार का यह प्राकृतिक फल होता है कि मनुष्य का ध्यान, धन और शारीरिक सुख की आकांक्षा और पार्थिव-जगत पर अत्यधिक केन्द्रित हो जाता है। मनुष्य की आधार-भूत आकांक्षाओं में शारीरिक-सुख के अलावा आत्मिक-तृप्ति भी सम्मलित है। वास्तव में वर्तमान संसार में जो अशान्ति और विनाशकारी लीला हो रही है इसका मूल कारण है कि मनुष्य ने प्राकृतिक तत्वों को अपने पार्थिव सुख के लिए प्रयुक्त किया है और धन की दौड़ में जीवन के मूल तत्वों को भूल गया है। वर्तमान काल में दार्शनिक इस कमी को महसूस कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति सदैव इस बात पर जोर देती रही है कि सांसारिक सुख के साथ आत्मिक शान्ति का पूर्णसामञ्जस्य रहे। प्राचीन काल की भारतीय-शिक्षा में पूर्ण समन्वय था। आज कल भी भारत को ऐसी शिक्षा-पद्धति का विकास करना है जिसमें औद्योगिक-विकास के साथ जीवन के अन्य तत्वों को भुलाया न जा सके। भारत में अभी औद्योगिक विकास नहीं हुआ है और राष्ट्र का सारा ध्यान औद्योगिक विकास की ओर ही केन्द्रित है अतएव औद्योगिक-शिक्षा के साथ सांस्कृतिक शिक्षा का उपयुक्त समिश्रण आवश्यक है।

औद्योगिक शिक्षा और अङ्गरेजी

विज्ञान और औद्योगिक शिक्षा का अंगरेजी भाषा से घनिष्ट संबंध है। वास्तव में जो भी वैज्ञानिक अथवा औद्योगिक विकास भारतवर्ष में अभी तक हुआ है वह अंगरेजी के ही माध्यम से हुआ है। अब

प्रान्तीय भाषायें और राष्ट्रभाषा-हिन्दी का विकास किया जा रहा है और अंगरेजी को वैकल्पिक विषयों के अंतर्गत रक्खा जा रहा है। ऐसी अवस्था में डर है कि उन विद्यार्थियों को जिन्हें औद्योगिक या वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करनी है उन्हें भी अंगरेजी का अच्छा ज्ञान न हो सके और उनकी शिक्षा में बाधा पड़े। अतएव अंगरेजी की शिक्षा को द्वितीय स्थान प्रदान करते समय इस बात का प्रयत्न करना चाहिए की इसकी हानि न हो जाय।

भारतवर्ष में औद्योगिक और व्यवसायिक-शिक्षा की बहुत कमी है। देश की उन्नति के लिये इसका विकास बहुत आवश्यक है। परन्तु औद्यागिक और व्यवसायिक शिक्षा का साधारण शिक्षा के साथ सन्तुलित विकास हो, यही अभीष्ठ है।



९

धार्मिक-शिक्षा

धार्मिक-चेतना धार्मिक शिक्षा का आधार है

मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए धार्मिक शिक्षा की उतनी ही आवश्यकता है जितनी शारीरिक अथवा मानसिक शिक्षा की। धार्मिक-शिक्षा, शिक्षा के विशद कार्य-क्रम का एक अंग है। जिस तरह पूर्ण शारीरिक विकास के लिये एक अंग की अवहेलना नहीं की जा सकती उसी प्रकार शिक्षा के पूर्ण विकास के लिये धार्मिक शिक्षा की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य, मनुष्य के पूर्ण विकास में योग देना है। अतएव ऐसी शिक्षा जो धर्म की ओर से उदासीन है, पूर्ण-शिक्षा नहीं कही जा सकती। मनुष्य की प्राकृतिक भावनाओं में धार्मिक भावना प्रमुख है। जो साधारण प्रवृत्तियाँ मनुष्य और पशु में अन्तर स्थापित करती है उसमें धार्मिक-भावना, सांस्कृतिक जीवन और तार्किक विचार प्रमुख हैं। वैसे तो बहुत सी मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य तथा पशुओं में एक सी पाई जाती हैं, परन्तु अपनी सांस्कृतिक चेतना, तार्किक भावना तथा धर्म-निष्ठा के कारण ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है।

नैतिक-नियमों की प्रधानता

वर्तमान वैज्ञानिक-आविष्कारों एवम् औद्योगिक विकास के कारण मनुष्य की विचार-प्रक्रिया में बहुत अन्तर आ गया है। मनुष्य ने

अपनी बुद्धि से प्राकृतिक साधनों को अपने सांसारिक सुख के लिये वश में कर लिया है। शारीरिक सुख की सामग्रियों की बहुलता के कारण मनुष्य का सारा कार्य-कलाप सांसारिक (Materialistic) एवं स्वार्थ युक्त हो गया है। इन सब का संगठित प्रभाव यह हुआ कि जन-साधारण की धार्मिक-चेतना कुंठित हो गई है और मनुष्य अधिकाधिक अपने में ही केन्द्रित हो गया है। लोगों का विश्वास है कि संसार में जो अशान्ति और पारस्परिक अबिश्वास तथा स्वार्थस्पर्धा फैली हुई है उसका एक मात्र कारण यह है कि मनुष्य में धर्म-निष्ठा की कमी है। फलतः वे भावनायें तथा विचार जो सहायता, विश्वास तथा पारस्परिक-सौहार्द उत्पन्न करते हैं, कुंठित हो गये हैं और उन्हें पुनः जीवित करने का एक मात्र उपाय यह है कि लोगों में धार्मिक-प्रवृत्ति पुनः जागृति की जाय। रास (J. S. Ross) नामक अङ्गरेजी-शिक्षाविद ने शिक्षा विशारदों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुये लिखा है "यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गया है कि नैतिक विचारों की उदासीनता तथा शीघ्रतिशीघ्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कोई भी रास्ता अपनाने की प्रवृति से राष्ट्रों की भी विनष्टता होती है, व्यक्तिगत मनुष्यों पर चाहे उसका जो प्रभाव पड़े। अंत में वही सिद्धान्त सफल होते हैं जो आत्मिक जगत के प्राकृतिक सिद्धान्तों से समानता रखते हैं। इन सिद्धान्तों की हम उसी प्रकार स्वतन्त्रता पूर्वक अवहेलना नहीं कर सकते जिस प्रकार भौतिक जगत में गुरूत्व आकर्षण के सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं की जा सकती। अगर यह एक नैतिक संसार है तब उसमें वही सिद्धांत सफल सिद्ध होंगे जो नैतिक नियमों पर आधारित हैं और कोई भी सिद्धान्त अन्त में निश्चित रूप से असफल होंगें।"

धर्म सामाजिक संगठन का श्रोत

प्राचीन काल में धर्म सामाजिक और सांस्कृतिक संगठन का प्रमुख श्रोत था। विश्व बन्धुत्व का पाठ पढ़ाने में धर्म ही अग्रगण्य था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने के कारण समाज

में धर्म की सङ्गठित शक्ति नष्ट हो गई और उसके स्थान पर कोई शुद्ध व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी। यही कारण है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अशान्ति फैली है।

धर्म पथ-प्रदर्शक

आजकल संसार की सामाजिक व्यवस्था बड़ी जटिल हो गई है। आर्थिक-क्षेत्र में सब राष्ट्र एक दूसरे पर आधारित हैं। सामाजिक-क्षेत्र में विवाह और परिवार के प्राचीन बन्धन अब नवीन रूप धारण कर रहें हैं। भारतवर्ष में तो एक सांस्कृतिक क्रान्ति का श्रीगणेश हो रहा है। हरिजन समाज में नवीन स्थान ले रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में अनेक दल अपनी-अपनी सत्ता स्थापित करने के लिये संघर्ष कर रहे हैं। इन सब का सम्मलित प्रभाव यह पड़ता हैं कि एक नवयुवक जो अभी संसार में प्रवेश करता है उसे यह नहीं मालूम पड़ता कि वह कौन सा मार्ग ग्रहण करे। प्राचीन विचारों को वह रूढ़ि-ग्रस्त और अवैज्ञानिक समझता हैं। नवीन विचारधारायें भ्रमपूर्ण सिद्ध होती हैं। ऐसी अवस्था में वह कौन सा मार्ग ग्रहण करे इसका निश्चय वह नहीं कर पाता। इस अवस्था में एक विश्वास की आवश्यकता होती है और धर्म ही उसका आधार है।

धर्म और अनुशासन हीनता

आज-कल संसार के प्रत्येक देश में अनुशासन हीनता और उच्छृंखलता के उदाहरण मिलते हैं। भारतवर्ष में इसकी कुछ बहुलता हो रही है। वास्तव में पाठशालाओं के अन्तर्गत अनुशासनहीनता के के जो उदाहरण मिलते हैं वह सामाजिक अनुशासन हीनता के अंग हैं। स्कूल समाज का एक अंग है। इस लिये समाज में जो अनुशासन हीनता व्याप्त रहेगी उसका एक प्रतिविम्ब पाठशालाओं में अवश्य मिलेगा। भारतवर्ष में इस प्रकार की अनुशासनहीनता का एक प्रमुख कारण यह है कि यहाँ के प्राचीन बन्धन टूट रहे हैं। यहाँ

वैज्ञानिक-युग प्रारम्भ हो रहा है। इस कारण प्राचीन संस्कृति के तत्व जिस पर सामाजिक निर्माण हुआ था उनमें परिवर्तन हो रहा है। विद्यार्थियों में इस प्रकार के नैतिक विचारों की कमी हो रही है जिस पर वे अपना चरित्र निर्माण कर सकें। इसका प्रमुख कारण यह है कि उन्हें किसी प्रकार की धार्मिक या नैतिक शिक्षा नहीं दी जाती। शिक्षा-विदों का यह निश्चित मत है कि यदि धार्मिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था पाठशालाओं में कर दी जाय तो निश्चित रूप से पाठशालाओं में और नवयुवकों में अनुशासन की भावना दृढ़ होगी।

किशोर काल और धार्मिक-शिक्षा

पाठशाला में किशोर बालकों के लिये धार्मिक-शिक्षा की तो बहुत ही आवश्यकता होती है। इसका आधार मनोवैज्ञानिक है। बाल्य काल से आगे चल कर बालक के विचार में प्रौढ़ता आती जाती है। जिन-विचारों को बालक पहिले माँ-बाप की बातों का विश्वास करके मान लेता था उसे अब वह तर्क की कसौटी पर कसना चाहता है। बहुत से विश्वास जो उसके विचारों के आधार थे तर्क के द्वारा भ्रम पूर्ण सिद्ध होते हैं। अतएव उसके विचारों में एक प्रकार का द्वन्द होता है। उसके विश्वास यदि दृढ़ नहीं हुये तो वह अपने विचारों से डिग जाता है। धर्म-परिवर्तन या विद्रोह के अधिकांश उदाहरण हमें किशोर या वयस्क आयु में ही प्राप्त होते हैं। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि विद्यार्थियों को धार्मिक अन्तः द्वन्द से बचाया जाय। इसके लिये यदि प्रारम्भ से ही बालकों को धर्म और उनके आधार का ज्ञान कराया जाय तो वे इस आँधी से बच सकते हैं।

धर्म की प्राकृतिक प्रवृत्ति

नवयुवकों में धार्मिक मनोवृत्ति प्राकृतिक रूप से होती है। वे सम्पूर्ण विचारों को जानना, और समझना चाहते हैं। उनकी धार्मिक-जिज्ञासा की तृप्ति के लिये भी धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता होती है। श्री

राधाकृष्णनन ने विश्वविद्यालय-शिक्षा आयोग के सभापति के रूप में लिखा है कि यदि हमें संसार को, "राक्षस-राज" से बचाना है तो धार्मिक-शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

धर्म का अर्थ

शब्द की उत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जो धारण करे वही उसका धर्म है। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के कर्त्तव्य से है। पर धर्म एक व्यापक अर्थ का द्योतक है जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर लक्षित करता है। धर्म आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को एकाकार बनाता है, इसी लिये धर्म को ईश्वर प्राप्ति का साधन कहा जाता है। रास के अनुसार, "यह विश्वास कि शिव, प्रेम सौंदर्य तथा सत्य जीवन की महानतम मान्यताएँ हैं, वस्तुतः धर्म है। अपने तथा समाज के जीवन में इनकी उपलब्धि का जो प्रयत्न हम करते हैं, उसमें एक शक्ति हमारी सहायता करती है, हमारा पथ-प्रदर्शन करती है। अपने तथा अन्य व्यक्तियों के जीवन में सत्य, शिव तथा सुन्दर का प्रवेश कराने के लिये हमारी समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक चेष्टाएँ इस शक्ति के प्रयोजन को सिद्ध करने में सहायता करती हैं। यही शक्ति ईश्वर अथवा धर्म है।"

धर्म और सर्वांगीण विकास का सम्बन्ध

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म हमारे नैतिक-आचरण में विकास का एक प्रमुख सहायक तथा आध्यात्मिक उन्नति का प्रथम सोपान है। संसार के प्रायः सब धर्म जीवन के इन सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। अतएव मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन भारत में धर्म और शिक्षा

प्राचीन भारत में शिक्षा और धर्म का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। वास्तव में शिक्षा धर्म पर ही आधारित थी। वैदिक युग में तो धर्म

प्रचारक ही शिक्षक थे। उन्हीं के आश्रम में रह कर विद्यार्थी शिक्षा-ग्रहण करते थे। इन आश्रमों का सारा वातावरण धार्मिक भावना से ओत-प्रोत था। शिक्षण-विधि और पाठ्य-क्रम दोनों में उन आदर्श सिद्धान्तों का समावेश था जिनकी भित्ति धर्म पर आधारित है। जो धार्मिक क्रियायें शिक्षा प्रारम्भ के समय में की जाती थीं, शिक्षण-काल में जो व्रत किये जाते थे, प्रातः और सायं जो प्रार्थना की जाती थी और गुरू के घर में प्रति मास जो हवन और यज्ञ आदि होते रहते थे उन सबका सम्मिलित प्रभाव यह पड़ता था कि विद्यार्थी के मस्तिष्क पर धार्मिक-भावना और नैतिक विचारों की एक पृष्टि-भूमि स्थापित हो जाती थी। जिस वातावरण में वह रहता था उससे यह परिलक्षित होता था कि यद्यपि उसका स्थूल शरीर भौतिक जगत की वस्तु है परन्तु उसके मस्तिष्क, उसके विचार एवं उसकी आत्मा नैसर्गिक हैं। अतएव जो आदर्श उसके कार्य और चरित्र का निर्माण करें उनका आधार नैतिक ही होना चाहिये।

बौद्ध-काल में जब शिक्षा-संगठन और भारतीय विश्वविद्यालयों का विकास हुआ तब भी प्राचीन परम्परा जीवित रही। बौद्ध-भिक्षुओं ने धर्म-प्रचार के लिए ही शिक्षा का संगठन किया था। अतएव यह स्वाभाविक था कि वे धर्म को शिक्षा में प्रथम स्थान देते।

मध्यकालीन शिक्षा और धर्म

मध्यकाल में भी शिक्षा का आधार धर्म ही था और शिक्षा का प्रमुख विषय धार्मिक पुस्तकें ही थीं। प्राथमिक शिक्षा तथा उच्च-शिक्षा दोनों धार्मिक गुरुओं के नेतृत्व में थीं। मन्दिर तथा मस्जिद शिक्षा के केन्द्र थे। पाठशाला और मकतब दोनों मन्दिरों और मसजिदों से सम्बन्धित रहते थे और उन्हीं की आय से उनका खर्च चलता था। राजा-महाराजा तथा स्थानीय धनिक लोग मन्दिरों के ही माध्यम से शिक्षा-प्रचार में योग देते थे। अतएव शिक्षा और धर्म का निकट सम्पर्क था।

१९वीं शताब्दी में धर्म का शिक्षा से सम्बन्ध विच्छेद

वैज्ञानिक जिज्ञासा

शिक्षा का धर्म से कोई सम्बन्ध न हो यह भावना १९वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई। वैज्ञानिक आविष्कारों तथा वैज्ञानिक-पद्धतियों का, जीवन एवं ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में प्रयोग के कारण, धार्मिक-जड़ता को एक धक्का लगा। धार्मिक गुरुओं ने इस कारण विज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया। ऐसे उदाहरण इतिहास में मिलते हैं जब कि धार्मिक-नेताओं के आदेश से वैज्ञानिक जीवित जला दिये गये थे। यह तो सच ही है कि मध्य-काल में एक प्रकार की धार्मिक-जड़ता जीवन में व्याप्त हो गई थी जो नवीन वैज्ञानिक भावना के प्रतिकूल थी। धर्म का वास्तविक आधार विश्वास है और विज्ञान की जिज्ञासा। जिज्ञासा से विश्वास में धक्का लगना स्वाभाविक था।

राष्ट्रीयता का उदय

राष्ट्रीयता की भावना भी धार्मिक निष्ठा के प्रतिकूल गई। योरप में तो धार्मिक नेता सब देशों में अपना ही एकाधिपत्य देखना चाहते थे। उनकी यह आकांक्षा स्थानीय राष्ट्रीय भावनाओं के प्रतिकूल थी। अतएव उनके प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक था।

मध्यकाल में पुनर्जागृति

मध्य-काल में योरप और एशिया दोनों में धर्म के नाम पर भयंकर युद्ध और रक्त-पात हुआ था। लोगों में इस कारण एक अश्रद्धा सी जागृति हो रही थी। फिर जब यह भावनायें राष्ट्रीय हित के विरुद्ध जाने लगीं तो राजनैतिक नेताओं ने नवयुवकों को इससे वंचित रखना ही उचित समझा। इस दृष्टि से राष्ट्रीय भावना के साथ राष्ट्रीय शिक्षा का संगठन किया गया और धार्मिक नेताओं के हाथ से शिक्षा का भार ले लिया गया।

धर्म के नाम पर धार्मिक नेताओं ने जो अत्यचार किये, और सामाजिक अशान्ति उत्पन्न की उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप सब राष्ट्रों ने धर्म को शिक्षा से अलग रक्खा जाय, इस नीति का अनुशरण किया। इससे और हानियाँ हुईं पर धार्मिक अशान्ति बन्द हो गई।

भारतीय शिक्षा में धर्म का स्थान समाप्त होना

वर्तमान काल में भारतीय शिक्षा में धर्म का कोई स्थान न होने का मूल कारण राजनैतिक है। भारतवर्ष में ईस्टइन्डिया कम्पनी के व्यापारियों के साथ इसाई पादरी भी आते थे। इन पादरियों का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता में इसाई धर्म का प्रचार करना था। धर्म-प्रसार को दृष्टि में रखकर इन पादरियों ने बहुत से समाज सेवा के कार्य किये तथा जनता में शिक्षा-प्रचार प्रारम्भ किया। प्रचार ही एक ऐसा सुगम माध्यम था जिससे पादरी जनता के सम्पर्क में आते थे। जब तक कम्पनी केवल व्यापारिक कम्पनी थी, वह इसाई पादरियों की सहायता करती थी। पर जब कम्पनी ने भारत में राजनैतिक सत्ता प्राप्त की तब उन्होंने इसाई पादरियों की सहायता बन्द कर दी क्योंकि उनका विश्वास था, कि इसाई धर्म में परविर्तन के कारण, जनता में धार्मिक क्षोभ उत्पन्न होगा जो कम्पनी के राजनैतिक हित के प्रतिकूल है। अतएव कम्पनी ने सहायता बन्द कर दी। कुछ समय पश्चात तो कम्पनी पादरियों के विरुद्ध हो गई। यहाँ तक की कम्पनी के किसी भी जहाज में कोई इसाई पादरी नहीं आ सकता था। इसके विरुद्ध पादरियों ने इंग्लैंड में काफी प्रचार किया। अंत में इंगलिश पार्लियामेंट ने पादरियों को कार्य-स्वतन्त्रता तो दे दी, पर कम्पनी के अधिकारियों ने धार्मिक निरपेक्षता की जो नीति अपनाई थी उसके अनुसार पादरियों को कोई आर्थिक सहायता नहीं प्राप्त हो सकी।

बेंटिंग की सरकारी नीति

लार्ड विलियम बेंटिंग को इसाई-पादरियों ने एक स्मरण पत्र दिया। उसका जवाब देते हुये उन्होंने कहा था, 'ब्रिटिश-शासन का आधार भूत

सिद्धान्त, जिसके लिये शासन दृढ़-प्रतिज्ञ है, वह है, धार्मिक निरपेक्षिता। नीति के अनुसार तथा पूर्ण विश्वास की दृष्टि से भी हमें धर्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। शिक्षा के क्षेत्र में भी यही नीति कार्य में लाई जायगी। उन्होंने आगे यह भी कहा कि विद्यार्थियों की धार्मिक भावना के साथ किसी भी प्रकार का अव्योहारिक या अनैतिक मिलावट, या इसाई धर्म की सीधे या किसी अन्य प्रकार की शिक्षा पूर्ण रूप से बन्द कर दी जायगी।'

उड्स के १८५४ के आज्ञा-पत्र में भी इस बात का आश्वासन दिया गया था कि सरकार सब प्रकार की शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देगी यदि वे उचित ढंग की साधारण शिक्षा देते हैं और जब तक उन पर उपयुक्त आचरण के लिये निर्भर किया जा सकता है। सम्पूर्ण ब्रिटिश-शासन काल में शिक्षण नीति में यह विचार दृढ़ रहा। फलतः सरकारी पाठशालाओं में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा देने का कोई प्रबन्ध नहीं रहा, हालाँकि समय-समय पर विभिन्न शिक्षा समितियों एवं शिक्षा आयोगों ने इस कमी की ओर संकेत किया।

हन्टर कमीशन और धार्मिक शिक्षा

१८८२ ई० में भारतीय-शिक्षा-आयोग ने साधारण पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा की कठिनाई की ओर संकेत किया। उनके अनुसार शिक्षा में धार्मिक-निरपेक्षिता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी राजकीय विद्यालय में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। जातीय और धार्मिक पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा की स्वतन्त्रता देने के आधार पर एक ही पाठशाला में अनेक धर्मों की शिक्षा-व्यवस्था में व्यवहारिक कठिनाई है। इन व्यवहारिक कठिनाइयों को दृष्टि-कोण में रख कर उन्होंने सिफारिश की कि :—

(१) प्रयत्न किया जाय कि सब धर्मों के आधार-भूत सिद्धान्तों के आधार पर नैतिक सिद्धान्तों की एक पाठ्य-पुस्तक तैयार की जाय जो प्रत्येक राजकीय और जन साधारण पाठशालाओं में पढ़ाई जा सके।

(२) महाविद्यालय के प्रधानाचार्य या एक आचार्य प्रत्येक राजकीय अथवा साधारण पाठशालाओं में विद्यार्थियों के सम्मुख मनुष्य या नागरिकों के प्रमुख कर्त्तव्यों पर भाषण करें। श्री के० टी० तैलंग ने, जो आयोग के एक सदस्य थे आयोग की सिफारिशों पर अपना मत प्रकट करते हुये लिखा कि साधारण पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था से कोई भी धार्मिक सम्प्रदाय प्रसन्न नहीं होगा। इसके अलावा उन पाठशालाओं की शिक्षा व्यवस्था में बाधा पड़ेगी जिनमें धार्मिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है।

सरकार ने अपने प्रस्ताव में इस पर कठिनाई प्रकट की कि इस प्रकार की कोई नैतिक सिद्धान्तों की पाठ्य-पुस्तक तैय्यार की जा सकती है जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी सब सहमत हों। धार्मिक शिक्षा की कमी से शिक्षा में जो भी त्रुटि हो पर महाविद्यालयों के स्तर पर इस प्रकार की कोई भी पाठ्य-पुस्तक उपयुक्त प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकती।

विश्वविद्यालय आयोग १६०२

विश्व-विद्यालय-शिक्षा आयोग ने १६०२ ई० में धार्मिक शिक्षा की कमी की ओर पुनः संकेत किया पर वे भी धार्मिक शिक्षा के लिये कोई निश्चित तरीका नहीं बतला सके। भारतीय-विश्वविद्यालयों में धर्म का एक विभाग (Faculty of Theology) खोलने के प्रस्ताव को उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उनके अनुसार धर्म का विभाग खोलना अव्योहारिक और अनुपयुक्त है।

सैडलर कमीशन १६१७

कलकत्ता-विश्वविद्यालय-शिक्षा आयोग ने (१६१७-१६) धार्मिक-शिक्षा की कठिनाइयों को दृष्टि-गत रखते हुये धार्मिक-शिक्षा के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया। इस समय तक विभिन्न-मतों में राजनैतिक

कारणों से विभेद अधिक स्पष्ट हो गया था अतएव सरकार ने भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया।

सार्जेन्ट योजना और धार्मिक शिक्षा

सार्जेन्ट योजना (Sargent Scheme) ने इस बात को स्वीकार किया कि, वृहत रूप से शिक्षा के प्रत्येक अंग को धर्म से प्रेरणा मिलनी चाहिये और ऐसा पाठ्य-क्रम जिसमें कोई नैतिक सिद्धान्त न हो, अंत में अनुपयुक्त सिद्ध होगा। योजना की इस सिफारिश के अनुसार केन्द्रीय-सलाहकार परिषद् (Central Advisary Board) ने १६४४ में रेवरेन्ड जी० डी० बार्न (Rev. G. D. Barne) जो लाहौर के विशप थे, उनकी अध्यक्षता में एक प्रवर समिति की स्थापना की जिसका प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक-शिक्षा के विषय में सरकार को सलाह देना।

इस समिति ने १६४६ ई० में अन्तिम रिपोर्ट परिषद् के सम्मुख पेश की। उन्होंने इस बात की सिफारिश की थी कि धार्मिक-शिक्षा की मुख्य जिम्मेदारी परिवार और माता-पिता पर छोड़ दी जाय। अतएव परिषद् ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया:—

धार्मिक शिक्षा परिवार की ज़िम्मेदारी है

"समस्या के पक्षों पर पूर्ण रूप से विचार करने के पश्चात बोर्ड चरित्र निर्माण में आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षा की आधार भूत महत्ता को स्वीकार करता है। परन्तु इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था, जहाँ तक अन्य पाठ्य विषय में इसके सम्मिलन का प्रश्न है वहाँ तक छोड़ कर, स्वतन्त्र रूप से नहीं की जा सकती। इसकी जिम्मेदारी उस समुदाय की अथवा उस परिवार की होनी चाहिए जिसमें बालक उत्पन्न हुआ है।"

भारतीय संविधान और धार्मिक निरपेक्षता

भारतीय संविधान में भी धार्मिक शिक्षा की ओर से निरपेक्षिता प्रगट की गई है। उसकी धारा १६ के आधार पर प्रत्येक नागरिक को

किसी भी धर्म के मानने, उसका आचरण करने तथा उसका प्रचार करने की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है। धारा २१ के आधार पर किसी भी नागरिक से किसी भी धार्मिक संस्था अथवा किसी मत के लिये किसी प्रकार का कर नहीं लिया जा सकता। धारा २२ के अनुसार किसी भी राजकीय संस्था में किसी भी धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती। परन्तु वे संस्थायें जो किसी ट्रस्ट के द्वारा स्थापित की गई थीं और जिनका उद्देश्य धार्मिक शिक्षा देना था, और जिनका प्रबन्ध अब सरकार कर रही है वे संस्थायें अब भी धामिक शिक्षा देने के लिये स्वतंत्र रहेंगीं। इसी धारा के अनुसार किसी भी नागरिक को जो ऐसी संस्था का सदस्य हो जिसमें धार्मिक शिक्षा दी जाती हो उसकी या उसकी अभिभावक की आज्ञा के विपरीत किसी भी धामिक-कृत्य में भाग लेने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। संविधान की इन धाराओं का सम्मलित प्रभाव यह है कि राजकीय अथवा राजकीज आर्थिक सहायता पाने वाली किसी भी पाठशाला में कोई सक्रिय धार्मिक शिक्षा नहीं दी जकती।

धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन सम्भव

संविधान के अनुसार जहाँ पर राज्य स्वयं किसी भी संस्था में कोई धामिक शिक्षा नहीं देगा वहाँ पर किसी ऐसी संस्था को जिसमें धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था है उसे आर्थिक सहायता देने के लिए वह स्वतन्त्र है। लोक सभा में इन धाराओं पर बहस में भाग लेते हुये तत्कालीन कानून मन्त्री, श्री बी० आर० अम्बेदकर ने संविधान की इन धाराओं के अर्थ स्पष्ट किये थे। धर्म से सरकार का मतलब धार्मिक कर्मकाण्डों और धार्मिक रूढ़ियों से है। धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों और धार्मिक रूढ़ियों (Dogma) में अन्तर है। धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया जा सकता है। वास्तव में राजकीय पाठशालाओं में किसी उद्देश्य से कोई धामिक-शिक्षा नहीं दी जा सकती।

भारतीय संविधान की इन धाराओं में अमेरिका और आस्ट्रेलिया

के संविधानों की स्पष्ट छाप है। इन देशों के संविधान में भी राज्य धर्म-निरपेक्ष है और कानून की दृष्टि में सब धर्म समान हैं।

राजनैतिक पृष्ठ भूमि

भारतीय संविधान के इस पृष्ठिभूमि के पोछे राजनैतिक कारण अधिक हैं। भूतकाल में धर्म के नाम पर भारतवर्ष में भी अनेक झगड़े और सामाजिक दुर्भावनाँए फैलो हैं। भारतवर्ष में अनेक धर्मावलम्बी पाये जाते हैं। अतएव राज्य किसी एक धर्म की सहायता करके अन्य धर्मों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

इस प्रकार के धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना के पीछे धार्मिक-नेताओं का पारस्परिक कलह प्रमुख है। वास्तव में धार्मिक नेताओं की धर्मान्धता से ही धर्म और पाठशालाओं में धार्मिक-शिक्षा को धक्का लगा है।

धार्मिक शिक्षा पर गान्धी जी के विचार

धार्मिक शिक्षा के विषय में १६३८ में महात्मा गांधो से पूछा गया था। लोगों ने प्रश्न किया कि उन्होंने वार्धा-शिक्षा योजना में धामिक शिक्षा को क्यों नहीं स्थान दिया। उत्तर में उन्हों कहा, "वर्धा-शिक्षा योजना से हम लोगों ने धर्म की शिक्षा इसलिये निकाल दी है कि धर्म पर जिस प्रकार आज कल हम लोग आचरण करते हैं उनसे एकता की अपेक्षा पारस्परिक कलह और बढ़ता है। लेकिन मैं यह भी उपयुक्त समझता हूँ कि सत्य जो सब धर्मों में समान है, उन्हें पढ़ाया जा सकता है और पढ़ाया जाना चाहिये। गांधो जी ने यह भो लिखा था कि यदि हमारे बच्चे इस विश्वास के साथ बढ़ेगें कि उनका ही धर्म सत्य और उच्च है तो इससे हानि का डर है। अगर इस प्रकार को भावना बढ़ती जायगी तो प्रत्येक समुदाय के लिये अलग स्कूल खोलने पड़ेगें। इस खतरनाक प्रभाव की कल्पना भी भयानक है। सब धर्मों में आधारभूत सिद्धान्त एक समान हैं। यही सिद्धान्त वर्धा योजना में लड़कों को पढ़ाये जाने चाहिये और यही उचित धार्मिक-शिक्षा समझनी चाहिये।"

राज्य धर्म-निरपेक्ष है इसका यह अर्थ नहीं है कि अब कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम पवित्र न समझें या जिसकी हम पूजा न करें। धर्म निरपेक्षता का वास्तविक अर्थ धार्मिक रूढ़ियों और उनके कट्टर सिद्धान्तों को राज्य में स्थान न देने से है। वास्तव में भारतवर्ष वैज्ञानिक वस्तुवाद को सिद्धान्त रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। प्रत्येक भारतवासी स्वभावतः धार्मिक होता है और यद्यपि भारतीय गणतन्त्र का कोई राजकीय धर्म नहीं फिर भी भारतीय-इतिहास धर्म की स्वर्ण लड़ी में गुंथा हुआ है।

हिन्दू धर्म और जीवन

भारतवर्ष का प्रमुख धर्म हिन्दू धर्म है। इसे धर्म न कह कर जीवन के दार्शनिक सिद्धान्तों का समूह कहना चाहिये। इस धर्म में इतनी सहिष्णुता और सहयोग की भावना है कि इसके आधार पर हम अन्य सब धर्मावलम्बियों के साथ मिलकर रह सकते हैं। इसके प्रमुख गुण चारित्रिक-निर्माण, आत्मिक-उन्नति, स्वयं आत्मिक प्रकाश प्राप्त करने का प्रयत्न, सत्य खोज की स्वतन्त्रता, सामाजिक कार्यों में स्वतन्त्रता और अन्य धर्मों के प्रति आदर की भावना है। अतएव इसके आधार पर हम उन सब गुणों का विकास कर सकते हैं, जो जन-तन्त्र के लिये आवश्यक हैं, जिसमें समालोचना की प्रवृत्ति, सत्य और असत्य के पहिचान की क्षमता और अवसर पर उचित निर्णय लेने की क्षमता प्रमुख है।

राधाकृष्णनन कमीशन का मत

धार्मिक-शिक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१६४८) ने लिखा है कि, "यदि हम इस बात के लिये तैय्यार नहीं हैं कि वैज्ञानिक या साहित्यिक शिक्षा की व्यवस्था परिवार या समाज को सौंप सकें तो हम धार्मिक प्रशिक्षण भी इन संस्थाओं को नहीं सौंप सकते। बालक को यदि प्रारम्भ में जीवन में धार्मिक पहलू के महत्व को यथोचित न समझाया गया तो

वह अपने पूर्ण विकास से वंचित रह जाता है। अगर इस क्षेत्र में नेतृत्व का भार परिवार या समुदाय पर छोड़ दिया जाय, तो डर है कि बालकों में कट्टरता, असहिष्णुता और स्वार्थपरता की वृद्धि होगी।"

नारउड समिति

सर सेरिल नारउड समिति जो चार वर्ष पूर्व ब्रिटेन की माध्यमिक पाठशालाओं की शिक्षा के विषय में सिफारिश करने के लिये स्थापित की गई थी, उन्होंने रिपोर्ट के प्रारम्भ में ही लिखा है कि, "हमारा विश्वास है कि शिक्षा सत्य, सौंदर्य और कल्याणकारी वस्तु की सार्वभौमिकता, जो जीवन के अंतिम मूल्य हैं, उन्हीं पर आधारित हो सकती है। हम यह भी विश्वास करते हैं कि शिक्षा उन्हीं मूल्यों पर आधारित हो जो किसी समय अथवा किसी परिस्थिति में प्राप्त की जा सकें। अतएव शिक्षा की कोई भी योजना जो किसी तात्कालिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बनाई जाती है वह उपयुक्त नहीं है।"

इन सिद्धान्तों को दृष्टि-गत रख कर तथा भारतीय वातावरण के अनुसार हमें भारतीय शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के लिये व्योहारिक प्रस्ताव करने चाहिये।

धार्मिक वातावरण

धार्मिक शिक्षा के लिये प्रथम आवश्यकता है, धार्मिक वातावरण। यदि स्कूल के सारे कार्य क्रम का आधार नैतिक नियमों पर आश्रित है तो निश्चित रूप से बालक पर एक धार्मिक प्रभाव पड़ेगा और वह अनजाने ही उच्च चारित्रिक गुणों को ग्रहण करेगा। अतएव प्रधानाध्यापक एवं अन्य अध्यापकों के कार्य और व्योहार में धार्मिक आचरण की पुट रहना आवश्यक है। अध्यापक, बालक की प्रवृत्ति के लिये आदर्श पुरुष का कार्य करता है। अतएव अनुकरण की प्रवृत्ति के द्वारा बालक अध्यापक के गुण ग्रहण कर लेगा।

अनुकरण

धार्मिक-शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम में धर्म के सिद्धान्तों का पठन-पाठन उतना महत्व पूर्ण नहीं है। यह निश्चित है कि धर्म अनुकरण और उदाहरण के द्वारा सीखा जाता है न कि पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा पढ़ाया जाता है। हो सकता है कि एक ऐसा मनुष्य जिसे धर्म के सब सिद्धांत मालूम हों, जिसनें धार्मिक पुस्तकों का विशद अध्ययन किया हो, अपने व्योहारिक जीवन में महान अधार्मिक हो। अतएव धार्मिक-निष्ठा का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण से है न कि उसके मस्तिष्क से। वास्तव में अधिक बुद्धि वादी होने से मनुष्य में धार्मिक प्रकृति का ह्रास होने लगता है।

अध्यापकों का संगठित प्रयत्न

व्यक्तित्व

अध्यापकों के कार्य और व्योहार में एकता होनी चाहिये और जहाँ तक सम्भव हो अध्यापक वर्ग के पारस्परिक कथन में भी समता हो तो अधिक अच्छा है क्योंकि यदि एक अध्यापक दूसरे अध्यापक के कथन को असत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करता है तब विद्यार्थियों में भ्रम उत्पन्न होने का डर रहता है जो उनके आत्मिक विकास में बाधक होता है। इस दृष्टि से विभिन्न धर्मावलम्बी अध्यापक जिनमें धार्मिक कट्टरता होती है वे ऐसे अध्यापक से जिसे निष्ठा नहीं है या जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है, अधिक खतरनाक सिद्ध होते हैं। वास्तव में धार्मिक आच-रण में अध्यापक का व्यक्तिगत व्यक्तित्व महत्वशाली होता है। सर माइकेल सैडलर (Sir Michael Sadler) ने अपनी नैतिक शिक्षा की रिपोर्ट में लिखा है कि "हमें इसका प्रमाण मिला है कि नैतिक शिक्षा के लिये शिक्षक के व्यक्तित्व से अधिक शक्तिशाली साधन और दूसरा नहीं है। वास्तव में यदि गुरू में विद्यार्थी का विश्वास है तो उसी को वह विश्वास में लेगा और नवयुवकों के ऐसे अनेक अवसर आते रहते हैं जब उन्हें अल्प सलाह से ही सत-पथ पर दृढ़ किया जा सकता है।"

सामूहिक प्रार्थना एवं चिंतन

प्रत्येक स्कूल का कार्य क्रम प्रात:काल सामुहिक प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। प्रार्थना के पश्चात दो-तीन मिनट तक बालकों को मौन चिंतन करने का अवसर देना लाभप्रद सिद्ध होता है।

धार्मिक सुधारकों का जीवन-अध्ययन

प्राथमिक कक्षाओं में महान पुरुषों और धर्म प्रवर्तकों की जीवनी का अध्ययन कराया जाना चाहिये। इनमें बुद्ध, कनफुसियस, जोरोस्टर, सुकरात, ईसा मसीह, शंकर, रामानुज, माधव, मुहम्मद, कबीर, नानक और गांधी आदि प्रमुख हैं। इन महात्माओं के जीवन में एक समता है। इन्होंने समाज और सत्य के लिये व्यक्तिगत कष्ट सहे पर मनुष्य को व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर रक्खा। इन महात्माओं का जीवन बालकों के लिये उत्साह बर्धक होगा।

धार्मिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

उच्च कक्षाओं में धार्मिक सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। उस समय तक बालकों की बुद्धि और तार्किक शक्ति प्रौढ़ हो जाती है और वे विभिन्न धर्मों के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकते हैं। वास्तव में इस प्रकार के अध्ययन से उन्हें धर्मों की वास्तविक एकता का पता चलेगा और उससे सहयोग का सूत्रपात होगा।

विश्वविद्यालय आयोग ने इन्हीं प्रयोगों के द्वारा धार्मिक शिक्षा देने की सिफारिश की है।

धार्मिक-शिक्षा का पाठ्य-क्रम

धार्मिक शिक्षा का क्या पाठ्य-क्रम हो? इसी प्रश्न के उत्तर के लिये पिछले कई सालों से शिक्षा-विद तथा धार्मिक नेता प्रयत्न कर रहे हैं। पर जैसा देखा गया है, विभिन्न धर्मावलम्बी एक से पाठ्य-क्रम पर सहमत नहीं होते। पिछले कई आयोगों ने इस पर प्रकाश डाला है। युद्ध-काल में नैतिकता की क्षति देखकर इंगलैंड के अधिकांश धर्माध्यक्षों ने

एक संगठित प्रस्ताव सरकार के सम्मुख रक्खा। इस प्रकार के संगठित सुझाव की भारत में भी आवश्यकता है। पर जहाँ तक पाठ्य-क्रम का प्रश्न है शिक्षा-विद् भी इस पर सहमत नहीं हैं। कुछ लोगों का विचार है कि यदि धार्मिक-शिक्षा का पाठ्य-क्रम में कोई स्थान है तो उसे अन्य पाठ्य-विषयों की तरह पढ़ाया जाना चाहिये। वर्तमान भारतीय वातावरण में तथा संविधान की स्पष्ट धाराओं को देखकर धार्मिक-शिक्षा का कोई निश्चित पाठ्य-क्रम भारतीय पाठशालाओं के लिये अभी सम्भव नहीं।

शिक्षक

प्रत्येक शिक्षक भी धार्मिक शिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। धार्मिक शिक्षा के लिये भी विशेष रुचि, अध्ययन और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। सब अध्यापकों में इस प्रकार की योग्यता आपेक्षित नहीं है। अतएव पाठशाला में धार्मिक शिक्षा के कार्य-क्रम केवल उन्हीं अध्यापकों को देना चाहिये जिनकी धर्म में स्वाभाविक रुचि है। प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में अध्यापकों के पाठ्य-क्रम में धार्मिक-शिक्षा का एक ऐच्छिक विषय रखना चाहिये ताकि वह अध्यापक जो इस विषय में रुचि रखते हैं, उसका विशेष अध्ययन कर सकें।

संसार के सब देशों में अब धार्मिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया जा रहा है। स्पेन्स कमेटी ने इंगलैण्ड के विषय में लिखा है कि, "धार्मिक शिक्षा के महत्व को अब वास्तविक रूप से सब स्वीकार कर रहे हैं और अब ऐसा उपयुक्त समय आ गया है जब धार्मिक शिक्षा का माध्यमिक शिक्षण में क्या स्थान है इस विषय पर विचार किया सकता है।" मनुष्य को ईश्वर तक पहुँचाने का और कोई दूसरा रास्ता नहीं, सिवाय इसके कि उस ईश्वर की पूजा की जाय जो शाश्वत, सत्य और दयालु है। जहाँ पर ईश्वर है वहीं पर स्वतन्त्रता सहृदयता और सहयोग है।



१०

राष्ट्रीय शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य

एक चीनी कहावत है, यदि एक साल की योजना बनानी हो तो बीज बोओ, यदि दस साल की योजना तैयार करनी हो तो पेड़ लगाओ और यदि सौ साल की योजना तैयार करनी हो तो मनुष्य तैयार करो। यह कहावत इस ओर इंगित करती है कि मनुष्य उन चिर शास्वत् भावनाओं का संयोजक और परिमार्जक है जिन पर मानवीय सभ्यता निर्भर है और शिक्षा उसका मूल साधन है। प्रत्येक राष्ट्र जिन मूल्यों और आदर्शों पर विश्वास करता है, जिसे वह अपने भावी नागरिकों में स्थापित करना चाहता है और जिन आदर्शों पर सरकार विश्वास करती है उसका प्रचार और प्रसार वह शिक्षा के द्वारा अपने नागरिकों में करती है। वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा उस आदर्श और संस्कृति की रक्षा करने का एक साधन है जिसे वर्तमान युग ने भूत से बपौती के रूप में प्राप्त किया है और जिसमें परिमार्जन और वृद्धि करके वह भविष्य के नागरिकों को विरासत के रूप में सौंपेगा। अतएव इसमें समय और परिस्थतियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं, यद्यपि इसके आधार-भूत मौलिक सिद्धान्त सार्वभौमिक एवं चिर-कालिक होते हैं।

ऐतिसहासिक पृष्ठिभूमि

डेढ़ सौ वर्ष की गुलामी के बाद भारतवर्ष को स्वतंत्रता मिली है। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में योजना एवं पुनंगठन का कार्य चल रहा है। शिक्षा इसमें अपवाद नहीं है। पर जो आदर्श और उद्देश्य हमारे सामने पिछली शिक्षा के थे उनसे अब हमारा काम नहीं चलेगा। हमें तो अपनी शिक्षा-योजना इस दृष्टिकोण से बनानी पड़ेगी जो वर्तमान कठिनाइयों में राष्ट्र का साथ दे और भविष्य में भावी नागरिकों का पथ प्रदर्शन करे। स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय-शिक्षा का दृष्टि कोण निश्चित रूप से उस योजना से भिन्न होगा जिसका एक मात्र उद्देश्य मैकाले के शब्दों में ऐसे भारतीय पैदा करना था जिनका रूप रंग तो भारतीय था पर जिनके आदर्श तथा विचार पश्चिमी थे। भारत की नव-जागृति में ऐसे नवयुवकों से कार्य न चलेगा। हमें तो ऐसे सेनानी पैदा करने हैं जो भारत को ही न प्रज्वलित करें बल्कि ऐसी ज्योति जगायें जिनसे सारा संसार जगमगा जाय।

अंगरेजी शिक्षा की असफलता

पिछले डेढ़ सौ वर्षों में अंगरेजी शिक्षा नीति से भारत में उससे अधिक निरक्षता फैली जितनी अंगरेजी शासन के प्रारम्भ में थी। गांधी जी ने यह विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था कि ब्रिटिश शासन की शिक्षा नीति से भारत में अधिक निरक्षरता फैली। हालांकि सर फिलिप हारटोग एवं अन्य अंगरेजी शिक्षा विशेषज्ञ इस कथन से सहमत नहीं हैं और उनका कथन है कि ब्रिटिश शासन में भारतीय शिक्षा का संगठन हुआ है पर ब्रिटिश शासन के अंत में यदि ८५ प्रतिशत निरक्षर भारतवर्ष में हैं तो यह ब्रिटिश-शासन के लिये कोई गर्व की बात नहीं थी।

शिक्षा की ओर उदासीनता

प्रारम्भ में ब्रिटिश-शासन की शिक्षा नीति का हम एक ऐसे पिरेमिड से तुलना कर सकते हैं जिसका आधार ऊपर और शीर्ष नीचे है। यह

भारत का दुर्भाग्य रहा है कि भारतवर्ष में प्रथम कोटि का कोई भी अङ्गरेज शिक्षा-विद् भारतीय शिक्षण-नीति का संचालन करने के लिये नहीं आया और भारतीय शिक्षण क्षेत्र में प्रायः उन शिक्षण नीतियों को आधार बनाया गया जो इङ्गलैंड में अनपयुक्त सिद्ध हो चुकी थीं। आथर्र मेहू (Arthur Mayhew) नामक अंगरेज शिक्षण-पदाधिकारी को भी इस बात पर कटाक्ष करने का अवसर मिला था कि शिक्षा-विभाग की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता और योग्य सचिव दिन भर राजस्व एवं वित्त विभाग की फाइलों पर काम करने के पश्चात दिन के अन्त में अध्यापकों को चरित्र-निर्माण और सन्तोष का सदुपदेश लिखते हैं। अंगरेजी शासन काल में शिक्षा को कभी प्राथमिकता नहीं दी गई। अन्त में जब अङ्गरेजों ने शिक्षा-विभाग भारतीयों को सौंप दिया तो भी वित्त की थैली पर उनका हाथ रहा। इसका फल यह हुआ कि भारतीय कभी भी शिक्षा के क्षेत्र में उचित सुधार या क्रियात्मक प्रयोग नहीं कर पाये।

सार्वजनिक शिक्षा की ओर से उदासीनता

अङ्गरेजी-शिक्षा-नीति का दृढ़ मत था कि एक ऐसे समाज का निर्माण करो जो सदैव अंगरेजी शासन का भक्त बना रहे। इसके लिए राजनैतिक कारण भी थे। जिन भारतीय शासकों से अङ्गरेजों ने राजनैतिक सत्ता छीनी थी उन्हें पुनर्वासित भी करना उन्हें आवश्यक था। इसके लिये उन्होंने इस नीति पर काम करना शुरू किया कि ऊपर के कुछ आदमियों को शिक्षित करो, शेष को वे शिक्षित कर लेगें। यह नीति भारतीय इतिहास में उच्चश्रेणी से निम्न-श्रेणी में शिक्षा प्रसार की नीति (Downward filteration Theory) के नाम से प्रख्यात है। उन्नीसवीं शताब्दी में सार्वजनिक शिक्षा-प्रसार की नीति भी विशेष रूप से प्रचलित नहीं थी और शिक्षा मध्यम वर्ग और उच्चवर्ग का विशेषाधिकार समझी जाती थी। इन सब का सामुहिक प्रभाव यह हुआ कि अङ्गरेजों ने प्राथमिक-शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न बिलकुल नहीं किये बल्कि

१६२०-२१ तक उसका तीव्र विरोध करते रहे। सरकारी शिक्षा नीति से उच्च-शिक्षित-वर्ग और निम्न अशिक्षित वर्ग में एक विशद खाँई सी पैदा हो गई जिसे दूर करना असम्भव हो गया है। अङ्गरेजी भाषा और आदर्शों में शिक्षित भारतीय अधिकाँश रूप से समाज के निम्न वर्ग से घृणा करते थे। अतएव वे समाज के लिए अधिक लाभ प्रद नहीं सिद्ध हुये।

औद्योगिक शिक्षा की कमी

उडूस के आज्ञा पत्र में ही इस बात की ओर संकेत किया गया था कि भारतीय शिक्षण नीति का केन्द्र विन्दु है कि भारत इङ्गलैण्ड को कच्चा माल निर्यात किया करे और इङ्गलैंड के पक्के माल की भारतीय बाजारों में खपत हो। इस दृष्टिकोण से अंगरेजी शासन ने भारत में औद्योगिक शिक्षा का व्यवधान नहीं किया और न तो भारत का औद्योगिक कारण ही किया। फलतः वे सब देश जो राष्ट्रीय क्षेत्र में भारतवर्ष के बाद आये, औद्योगिक दौड़ में भारत से आगे हो गये। टर्की, रूस और जापान इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। पर भारतीय शासकों ने अनेक उपसमितियों और आयोगों की सिफारिश के बाद भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। फलतः स्वतन्त्रता के पूर्व भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से अधिक गरीब रहा और एक भारतीय की औसत आय किसी भी सभ्य देश के नागरिक से कम है।

शिक्षा का माध्यम अंगरेजी

मैकाले की शिक्षा नीति थी कि अङ्गरेजी के माध्यम से भारत में पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान का प्रसार किया जाय। दुनियाँ के किसी भी देश में शिक्षण का माध्यम विदेशी भाषा नहीं रही। पर भारतवर्ष में अङ्गरेजी के माध्यम से ही शिक्षा का प्रसार किया गया। अंगरेजी के ज्ञान अर्जन में ही भारतीयों को कितनी शक्ति-व्यय करनी पड़ती है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। शिक्षा का माध्यम अंगरेजी होने के कारण भारतीय विद्यार्थी बहुत सा ज्ञान जिसे वे साधारण रूप से

ग्रामीण क्षेत्रों में निरक्षरता की वृद्धि

जैसा पहिले संकेत किया जा चुका है अंगरेजी शासन ने भारत में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिये प्रयत्न नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इसका प्रमुख भार स्थानीय शासन पर पड़ा। स्थानीय बोर्डों और नगरपालिका के पास न तो इतना धन था और न तो इतने शासनाधिकार ही थे कि वह अनिवार्य सार्वजनिक-शिक्षा का संगठन कर सकते। अतएव ग्रामीण क्षेत्रों में और जन-साधारण में निरक्षरता और बढ़ी।

राष्ट्रीय शिक्षण नीति के आधार

किसी देश की शिक्षण-नीति राष्ट्र एवं समाज की आवश्यकताओं, उसके प्राचीन आदर्शों और संस्कृति तथा तत्कालिक राष्ट्रीय-गठन पर आश्रित रहती है। राष्ट्रीय शिक्षण-नीति के द्वारा तत्कालीन-सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है और प्राचीन आदर्शों को जीवित रक्खा जाता है। भारतीय-शिक्षण नीति में इनका उचित स्थान होना आवश्यक है और जब हम अपनी राष्ट्रीय-शिक्षण नीति का निर्माण करें तो भारतीय आदर्शों और संस्कृति के आधार पर वर्तमान आवश्यकता के अनुसार हमें शिक्षण-नीति का निर्माण करना होगा।

राष्ट्रीय-शिक्षा का विकास

राष्ट्रीय शिक्षा का उदय उन्नीसवीं शताब्दी में योरप में राष्ट्रीय-भावनाओं एवं नवीन राष्ट्रों के प्रादुर्भाव के साथ हुआ। मध्यकाल में योरप में कैथालिक धर्म का प्रभाव था। शिक्षा की व्यवस्था धार्मिक अधिकारियों पर निर्भर थी। अतएव सारे योरप में ऐसी शिक्षा प्रचलित थी जो कैथालिक धर्म के अनुकूल थी। धर्म-सुधार, पुनर्जागरण एवं वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण धार्मिक बन्धन ढीले पड़ गये और लोगों को देशों के आन्तरिक शासन में पोप का हस्तक्षेप रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। अतएव स्थानीय भावनाओं को प्रबलता मिली और नवीन

राष्ट्रों का गठन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक राष्ट्रों का आन्तरिक-गठन पूर्ण हो चुका था। राष्ट्रीय अधिकारियों को यह कल्पना करते अधिक देर नहीं लगी कि शिक्षा के द्वारा ही वे नवीन नागरिकों को सरकार एवं राष्ट्र के प्रति भक्तिशील बना सकते हैं। अतएव उन्होंने शिक्षा की धार्मिक संस्थाओं को नष्ट करके शिक्षा का केन्द्रीकरण कर लिया। जर्मनी इस ओर सबसे पहले अग्रसर हुआ। नैपोलियन के हाथों जब प्रशा का राष्ट्रीय गर्व नष्ट किया गया तो प्रशा के राजनैतिक नेताओं ने शिक्षा के माध्यम से ही राष्ट्र का पुर्नत्थान किया। 'जर्मनी से यह नीति इङ्गलैण्ड ने ग्रहण की, यद्यपि अब भी इङ्गलैण्ड में शिक्षण संस्थाओं को स्वतन्त्रता है, और इङ्गलैण्ड में फ्रान्स और अमेरिका आदि अन्य देश प्रभावित हुये। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रत्येक राष्ट्र की संगठित शिक्षण नीति थी।

जनतन्त्र और राष्ट्रीय-शिक्षा

बीसवी शताब्दी में अब यह एक निश्चित सिद्धान्त माना जाता है कि प्रत्येक सभ्य राष्ट्र अपने नागरिकों में शिक्षा प्रचार के लिये प्रयत्न करेगा। अतएव अधिकांश पश्चिमी राष्ट्रों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क है। शिक्षा का एक राष्ट्रीय दृष्टि कोण और भी है। अधिकांश जनतन्त्रीय राष्ट्रों में शिक्षित नागरिक राष्ट्र के लिए आवश्यक ही नहीं हैं बल्कि शिक्षित नागरिक सरकार एवं राष्ट्रीय जीवन के लिये आवश्यक हैं। शिक्षा जनतंत्र की आधार शिला है। अतएव जनतन्त्रीय राष्ट्र प्रणाली राष्ट्रीय-शिक्षा की व्यवस्था करती है।

राष्ट्रीय शिक्षा और विश्व शांति

यही नहीं अब इसका भी अनुभव किया गया है कि यदि संसार के सब राष्ट्र पूर्ण रूप से शिक्षित हो जांय तो विश्व-शांति सम्भव हो सकेगी। अतएव बहुत सी अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ संसार से निरक्षरता दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं। इनमें युनेस्को (Unesco) के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं।

शिक्षा के इस महत्व के आधार पर प्रत्येक राष्ट्र की एक राष्ट्रीय शिक्षण नीति होती है जो उस देश के सांस्कृतिक आदर्शों और तत्कालिक परिस्थितियों पर निर्भर रहती है। किसी भी राष्ट्रीय शिक्षण नीति के तीन विशेष गुण होते हैं :—

राष्ट्रीय-शिक्षा की विशेषताएँ

(१) उसकी एक केन्द्रीय शासन-व्यवस्था होती है जो शिक्षा का संगठन, पाठ्य-क्रम, शिक्षण-पद्धति और परीक्षा का स्तर आदि निर्धारण करती है।

(२) राष्ट्रीय-शिक्षा-नीति राष्ट्रीय आदर्शों और भावनाओं पर निर्भर रहती है। राष्ट्रीय आदर्श प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा को प्रभावित किये बिना भी परोक्ष रूप से शिक्षा को प्रभावित कर सकते हैं।

(३) राष्ट्रीय शिक्षा में ऊपर से नीचे तक पूर्ण सङ्गठन रहता है। इसमें बीच-बीच में कोई सन्धि नहीं रहती तथा शिक्षा सबके लिये योग्यता और आवश्यकता के अनुसार पूर्ण सुलभ रहती है।

राष्ट्रीय-शिक्षा की परिभाषा

इस दृष्टि से हम राष्ट्रीय-शिक्षा की परिभाषा निम्न शब्दों में कर सकते हैं :—

राष्ट्रीय शिक्षा में सब को योग्यता के अनुसार शिक्षा का अवसर प्रदान किया जाता है और इसमें शिक्षा एक निश्चित आदर्शों से प्रेरित होती है।*

---

*"A National System of education may be defined as one in which free and equal opportunities are afforded to all according to their abilities and in which education is actuated by certain common purposes."

I. L. Kandel

भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का विकास

उन्नसवीं शताब्दी के अंतिम दशाब्दि में भारतवर्ष में अंगरेजी शिक्षण नीति के अवगुण सबको स्पष्ट हो गये थे। इसी समय भारतीय-शिक्षा-आयोग (Indian Education Commission 1882·83) ने इन दोषों को दूर करने के लिए सरकार और जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। राजनैतिक चेतना का भारतवर्ष में विकास हो चुका था। राष्ट्रीयता की भावना प्रज्वलित हो रही थी। अतएव समाज-सुधारकों और राजनैतिक नेताओं ने एक साथ शिक्षण-नीति में सुधार करने की माँग पेश की।

भारतीय-राष्ट्रीय-शिक्षा की विशेषताएं

भारतीय इतिहास में १६०५-२१ तक का समय राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में विशेष उल्लेखनीय है। इस काल में राष्ट्रीयता की भावना को संघर्ष से बल मिला और उसमें प्रौढ़ता आई। इसके साथ ही राष्ट्रीय-शिक्षा के पुनर्गठन की माँग पेश की गई। इसका प्रारम्भ-१६०५ में बंग विच्छेद और स्वदेशी आन्दोलन से प्रारम्भ हुआ। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं :—

(१) शिक्षण संस्थाओं का भारतीयों द्वारा प्रबन्ध।

(२) संस्थापक एवम् शिक्षकों द्वारा त्याग की भावना।

(३) धार्मिक शिक्षण का प्रबन्ध।

(४) कुछ विशेष पाठ्य-क्रम के शिक्षण की व्यवस्था जो भारतीय वातावरण के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हो।

(५) प्राच्य भाषाओं का विशेष अध्ययन ताकि प्राचीन संस्कृति के प्रति श्रद्धा की भावना जाग्रत हो।

(६) मातृ भाषा पर विशेष जोर और उसी के द्वारा शिक्षण की व्यवस्था।

(७) न्यूनतम फीस।

श्रीमती एनी बीसेन्ट ने भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा की विशेषता का वर्णन करते हुये कहा है "राष्ट्रीय शिक्षा भारतीयों के नियन्त्रण में हो। भारतीय उसके आदर्श निश्चित करें तथा शिक्षण कार्य भारतीयों के द्वारा ही किया जाय। यह भारतीय विद्वत्ता, श्रद्धा तथा नैतिकता के आदर्शों पर स्थापित हो तथा उसमें भारतीय धर्मों के आत्मीय सिद्धान्तों का विशेष स्थान हो। ऐसी शिक्षा में धार्मिक कर्म-काण्डों को स्थान नहीं रहेगा। वह इसमें विश्वास करती है कि आत्मा बहुत विशाल है। उसमें सबके लिए सहिष्णुता तथा स्थान हैं और वह इस सिद्धान्त पर चलती है कि मनुष्य विभिन्न मार्गों से ईश्वर की ओर जाता है और सब पैगम्बर उस ईश्वर के प्रतिरूप हैं।"

बङ्ग-विच्छेद

वंग-विच्छेद से जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ उसमें सरकार ने विद्यार्थियों को राजनैतिक आन्दोलन में भाग न लेने की आज्ञा दी। अतएव विद्यार्थियों ने राजकीय विद्यालयों का बायकाट, प्रारम्भ किया। फलतः राजनैतिक नेताओं ने विद्यार्थियों के शिक्षा-प्रबन्ध को एक नैतिक बन्धन के रूप में स्वीकार किया और राजकीय विद्यालयों के समकक्ष राष्ट्रीय-विद्यालय स्थापित करने की योजना प्रारम्भ की। बंगाल में राष्ट्रीय-शिक्षा की व्यवस्था के लिये एक समिति की स्थापना की गई और उसके तत्वाधान में अनेक राष्ट्रीय-विद्यालय खुले। अन्य प्रान्तों में भी अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया।

काँग्रेस का प्रस्ताव

१६०६ में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया, "ऐसा समय आ गया है कि देश के बालक-बालिकाओं के लिये राष्ट्रीय शिक्षा योजना की व्यवस्था की जाय और देश की आवश्यकता के अनुसार साहित्यिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा का संगठन किया जाय। ऐसी शिक्षा राष्ट्रीय आदर्शों पर, राष्ट्रीय नियन्त्रण में राष्ट्र के भाग्य निर्माण के लिये संगठित की जानी चाहिये।'

राष्ट्रीय-कॉंग्रेस ने शिक्षा सम्बन्धी इस प्रकार के प्रस्ताव कई वर्षों तक पास किये।

आन्दोलन के पश्चात जैसे ही राजनैतिक वातावरण शान्त हुआ और बंगाल पुनः एक प्रान्त बना दिया गया इस प्रकार के राष्ट्रीय विद्यालय समाप्त हो गये या वे राजकीय नियन्त्रण में आ गये। १९२० तक इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या बहुत कम हो गई थी।

धार्मिक चेतना

इसी समय सामाजिक और धार्मिक जागरण भी हो रहा था। सनातन-धर्म, आर्य-समाज और ब्रह्म-समाज ऐसी समाज सुधारक तथा धार्मिक संस्थायें उत्पन्न हो रही थीं। इन संस्थाओं ने पुनर्जागरण के लिये तथा सामाजिक सुधार के लिये अपने विद्यालय खोले। यह विद्यालय अधिकतर राजकीय नियन्त्रण में कार्य कर रहे थे। पर इनके द्वारा भी राष्ट्रीय-शिक्षा के कुछ सिद्धान्तों को वे कार्य रूप में परिणित कर रहे थे। इस प्रकार शनैः शनैः राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप निश्चित हो रहा था।

खिलाफत का आन्दोलन

इसी बीच १९२०-२१ में गाँधी जी ने खिलाफत का आन्दोलन प्रारम्भ किया। मदन मोहन मालवीय एवं अन्य नरम दल के नेताओं के विरोध करने पर भी गाँधी जी के विचारों के द्वारा काँग्रेस ने राजकीय विद्यालयों के ब्यायकाट करने तथा विद्यार्थियों का राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का प्रस्ताव पास किया। विद्यालयों में एक आँधी सी आई। सम्पूर्ण प्रान्तों में विद्यार्थियों ने एक बड़ी संख्या में सरकारी विद्यालय छोड़ कर असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। अतएव इन विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिये सारे भारतवर्ष में विद्यापीठ खोले गये। अलीगढ़ तो इसका प्रमुख केन्द्र रहा। वहाँ के विद्यार्थियों ने विश्वविद्यालय के अधिकारियों को विश्वविद्यालय राष्ट्रीय

नेताओं के हाथों सौंपने के लिए बाध्य किया। अन्त में पुलिस की सहायता से विश्वविद्यालय से अधिकारियों ने विद्यार्थियों को निकाल दिया। इसमें से कुछ राष्ट्रीय शिक्षकों एवं विद्यार्थियों ने अलीगढ़ में ही जामिया मिलिया इस्लामिया, की स्थापना की। १९२५ में यह संस्था दिल्ली चली आई। तब से अब तक यह संस्था बिना राजकीय सहायता के राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य कर रही है।

राष्ट्रीय विद्यापीठ

उसके अलावा काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, बंगाल विद्यापीठ और तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ आदि अनेक संस्थायें खुलीं। जिनमें अनेक देशभक्त शिक्षक तथा विद्यार्थी शिक्षा-दीक्षा का कार्य करते थे। इन संस्थाओं का कार्य शिक्षा के अलावा राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार भी था। अतएव अकसर इन संस्थाओं को सरकार से कष्ट मिलता था। इसके साथ ही आर्थिक कठिनाई प्रचुर मात्रा में तो थी ही। पर इन सब कठिनाइयों के होते हुये भी इन संस्थाओं ने राष्ट्रीय शिक्षा की भावना को मूर्त रूप देने की चेष्टा की।

कुछ हिन्सात्मक कार्य हो जाने के कारण एकाएक गांधी जी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया। राजनैतिक आन्दोलन में ढिलाई होने से तथा आर्थिक कठिनाई के कारण बहुत सी राष्ट्रीय संस्थाएँ स्थगित हो गई। अनेक संस्थाओं को और विद्यार्थियों को राजकीय सहायता स्वीकार करने और पुनः विद्यालय में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी गई।

शान्ति निकेतन और गुरुकुल कांगड़ी

पर इस आन्दोलन से राष्ट्रीय शिक्षा को बल मिला। राष्ट्रीय भावना की पुष्टि तथा सामाजिक जागृति के कारण बहुत सी ऐसी संस्थायें खुली जो राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्शों की पूर्ति करती थीं। इसमें विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित (६ मई १९२२) विश्वभारती, शान्ति निकेतन-विश्वविद्यालय तथा गुरुकुल कांगड़ी (१९२३), प्रमुख हैं।

इसी प्रकार की संस्थाएँ उर्दू भाषा की शिक्षा के लिये लखनऊ और दिल्ली आदि स्थानों में खुलीं।

स्वायत्त शासन

१६३७ में भारतीय संविधान के द्वारा प्रान्तों को स्वायत्त शासन प्राप्त हुआ और अन्य विषयों के साथ शिक्षा भी मंत्रियों के पूर्ण अधिकार में आई। अतएव उन्होंने अपनी योजना के अनुसार उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया। अनिवार्य्य-शिक्षा और प्रौढ़-शिक्षा के आन्दोलन चलाए गये। प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर गांधी जी के सिद्धान्तों के आधार पर बुनियादी शिक्षा को प्रारम्भ किया गया। पर प्रगति बहुत अधिक नहीं हो सकी क्योंकि १६३६ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और राजनैतिक मतभेद के कारण कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। अतएव बेसिक शिक्षा का जो काम प्रान्तों में प्रारम्भ किया गया था वह प्रायः सभी प्रान्तों में स्थागित कर दिया गया।

सार्जेन्ट रिपोर्ट

युद्धकाल में ही युद्धोत्तर शिक्षण-सुधार योजना के नाम से (Post War Educational Reconstruction)। सर जान सार्जेन्ट जो भारतीय सरकार के शिक्षा-आयुक्त थे, १६४४ में एक शिक्षण योजना तैय्यार की। इस योजना में शिक्षा के सब अङ्गों के प्रसार की सङ्गठित व्यवस्था थी। इसे हम सर्वप्रथम सङ्गठित राष्ट्रीय शिक्षा की योजना कह सकते हैं और शिक्षा के वर्तमान सचिव श्री के० जी० सैयदेन ने इस योजना पर अपने मत प्रकट करते हुये यही विचार व्यक्त किये थे। पर यह योजना कार्य रूप में परिणत नहीं हो पाई। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसमें अनेक दोष थे। इस योजना के अनुसार भारत में अनिवार्य शिक्षा के प्रसार में प्रायः ४० वर्ष लगते और वर्तमान मूल्यों के अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा पर लगभग ६०० करोड़ रुपये का व्यय होता।

इतने समय तक न तो अनिवार्य शिक्षा के लिये राष्ट्र धैर्य पूर्वक शान्त ही रह सकता है और न तो भारत ऐसे राष्ट्र के लिये इतनी धन-राशि की ही व्यवस्था हो सकती थी। अतएव इस योजना में सुधार आवश्यक था।

खेर कमेठी

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया। राजनैतिक परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गईं। एक स्वतन्त्र राष्ट्र के लिये वही शिक्षा योजना उपयोगी नहीं हो सकती जो एक परतन्त्र राष्ट्र के लिये नौकरशाही ने प्रस्तुत की थी। अतएव ४८ में श्री बी० जी० खेर के सभापतित्व में एक समिति स्थापित की गई जिसने भारतीय परिस्थितियों के अनुसार इस योजना में परिवर्तन किया। अनिवार्य शिक्षा का समय कम करके १५ साल कर दिया गया और आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए कई सुझाव दिये गये। प्राथमिक शिक्षा के लिए बेसिक शिक्षा की उपयोगिता स्वीकार की गई।

कुछ मौलिक-सुधारों के पश्चात, इसी योजना पर कार्य प्रारम्भ हुआ।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना

१९५२ भारत की प्रथम पञ्चवर्षीय योजना तैय्यार की गई। इस योजना के अन्तर्गत शिक्षा पर १५६ करोड़ रुपया खर्च करने का प्राविधान किया गया था। इस योजना के अनुसार १९५५-५६ में प्राथमिक पाठशालाओं में ६ वर्ष से ११ वर्ष के ५५·७ प्रतिशत विद्यार्थियों की शिक्षा की व्यवस्था हो सकेगी। माध्यमिक पाठशालाओं में ११-१७ वर्ष के लड़कों के लिये १३·३ प्रतिशत बालकों की शिक्षा की व्यवस्था हो जायँगी। व्यवसायिक शिक्षण संस्थाओं में ६३ प्रतिशत विद्यार्थी बढ़ जायँगे। शिक्षक प्रशिक्षण और स्त्री शिक्षा में भी काफी वृद्धि होगी।

प्रथम योजना के बहुत से उद्देश्य पूरे हुये और शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति हुई।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में शिक्षा पर ३२० करोड़ व्यय किये जाँयगें। विभिन्न क्षेत्रों में व्यय निम्न प्रकार से होगा :—

	अङ्क करोड़ में
(१) प्रशासन	७·४
(२) प्राथमिक शिक्षा (जूनियर बेसिक)	८२·६
(३) मिडिल स्कूल शिक्षा	२४·२
(४) माध्यमिक शिक्षा	४२·५
(५) विश्वविद्यालय शिक्षा	६६·६
(६) औद्योगिक शिक्षा	४६·३
(७) समाज शिक्षा	५·०
(८) विविध	४२·१
योग	३२०·०

योजना के अनुसार ६ से ११ वर्ष वाले वय-वर्ग के ६० प्रतिशत बालकों तथा ११ से १४ वर्ष वाले वय-वर्ग के १६ प्रतिशत बालकों के लिये शिक्षा की सुविधायें प्राप्त होंगी। पर संविधान में विधान लागू होने के १५ वर्ष बाद तक प्रत्येक बालक के लिये अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था निश्चित की गई है। यह उद्देश्य तृतीय योजना तक तभी पूरा होगा जब केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें सहयोग पूर्वक कार्य करें और शिक्षा के साधान बढ़ाने तथा व्यर्थ जाने वाले साधनों को रोकें।

माध्यमिक शिक्षा में छात्रों की संख्या २२ लाख से बढ़कर २६ लाख हो जायगी। माध्यमिक पाठशालाओं में पढ़ाई के सामान तथा विज्ञान की शिक्षा के सुधार पर ध्यान दिया जायगा। माध्यमिक पाठशालाओं को बहुउद्देशीय विद्यालयों में तथा उच्चतर माध्यमिक पाठशालाओं में परिवर्तन किया जायगा।

औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने के लिये विश्वविद्यालयों एवं औद्योगिक महाविद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जायगी।

खरगपुर टेकनोलाजिकल इन्स्टीयुट का विस्तार किया जायगा। तथा पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में इसी प्रकार के इन्स्टीयूट खुलेंगे।

विश्वविद्यालयों के सुधार के लिये आर्थिक सहायता दी जायगी और विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ेगी।

विदेशों में जाने के लिये २५० छात्रवृत्तियाँ दी जावेगीं तथा पिछड़े वर्गों के विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये भी छात्रवृत्तियाँ दी जावेंगीं।

इसी प्रकार से समाज शिक्षा एवं शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली अन्य संस्थाओं के विकास की व्यवस्था है।

आशा है द्वितीय योजना से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक आँकड़े पूरे होंगे।

जनतन्त्र के सिद्धांतों की प्रधानता

प्रत्येक देश की शिक्षण योजना का सम्बन्ध देश की तात्कालिक अवस्थाओं से रहता है। राष्ट्रीय-शिक्षा देश के आदर्शों और आवश्यकताओं पर ही निर्भर रहती है। यदि शिक्षा समाज का उत्थान न कर सकी तो शिक्षा निश्चित रूप से दोष पूर्ण है। विश्वविद्यालय शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना करते हुये श्री राधाकृष्णानन ने भारत की राष्ट्रीय शिक्षा पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनके अनुसार भारत एक स्वतन्त्र गणतन्त्र है जिसमें सबको समानता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुत्व के अधिकार प्राप्त हैं। अतएव हमारी राष्ट्रीय शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो हमें अधिकारों का उपयोग करने के योग्य बनावे तथा हमें कर्तव्यों की शक्ति प्रदान करें।

धार्मिक प्रभाव

भारत सदैव से धर्म प्रधान देश रहा है। यहां पर आत्मा और परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान की सदैव श्रेष्टता रही है। अतएव यदि हम 'राक्षस-राज', से अपने को बचाना चाहते हैं तो शिक्षा में धर्म को उचित स्थान दें।

अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता

भारत राष्ट्र होने के अलावा संसार का भी एक अंग है। आजकल संसार में अशांति फैली हुई है, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक।

२० वर्ष के अल्पकाल में दो महान विश्व व्यापी युद्ध हो चुके हैं। तीसरे युद्ध के डर से संसार त्रस्त है। भारत संसार को सदैव नैतिक तथा आत्मिक शान्ति प्रदान करता आ रहा है। अतएव हमारी शिक्षा से यह भी आशा की जाती है कि वह युद्ध से संसार को बचाने तथा शान्ति स्थापित करने में योग देगी। भारतवर्ष पर अब पूर्वी और पश्चिमी जीवन के उद्देश्यों का समन्वय करने की महान जिम्मेदारी है। महर्षि टैगोर ने शान्ति निकेतन के द्वारा यह कार्य प्रारम्भ किया है। आशा है भविष्य मे हम वह कार्य पूर्ण कर सकेंगे।

मातृ-भाषा की प्रधानता

शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा हो, शिक्षा भारतीय आदर्शों पर स्थापित हो, शिक्षा में इस प्रकार की क्षमता हो कि वह प्रत्येक नागरिक को जीवन-यापन करने के गुण प्रदान करे, भारतीय आवश्यकता के अनुसार उसमें व्यवसायिक शिक्षा के विस्तार के गुण हों तथा शिक्षा प्राचीन संस्थाओं का पुनुर्त्थान करने का प्रयत्न करे आदि सिद्धान्त अब निर्विवाद निश्चित हो चुके हैं और किसी भी राष्ट्रीय शिक्षा योजना में इनका पूर्ण स्थान होना चाहिये।

समाजवादी समाजिक व्यवस्था

किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था तभी उपयुक्त कही जा सकती है जब वह देश के प्रत्येक नागरिक को इस योग्य बनावे कि वह समाज में रह कर अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये प्रयुक्त कर सके। भारतीय गण तन्त्र ने समाजवादी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की घोषणा की है। आशा है कि हमारी राष्ट्रीय शिक्षा व्यक्तिगत शक्तियों का विकास करते हुये हमें इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होगी।



११

शिक्षा का आर्थिक संगठन

भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्या है शिक्षा-प्रसार—अल्प समय में, निम्नतम व्यय से। देश इसके लिए कटिबद्ध है। पर आर्थिक समस्या इतनी विकट है कि सतत् प्रयत्न से भी, स्वतन्त्रता के दस वर्ष के पश्चात्, उस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी जिसके लिए राष्ट्र कृत-सङ्कल्प था—देश में १४ वर्ष की आयु में बालकों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रसार, माध्यामिक शिक्षा का सङ्गठन, उच्च शिक्षा का सुधार, खोज की सुविधावों का प्रबन्ध और व्यवसायिक शिक्षा की सुविधा आदि। शिक्षा के इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्र को इतना व्यय करना पड़ेगा जितना राष्ट्र की वर्तमान आर्थिक अवस्था में सम्भव नहीं। पर यदि भारत को अन्य सभ्य राष्ट्रों के सम्मुख टिकना है तो इस असम्भव सी दिखती हुई समस्या को भी सम्भव करना होगा।

शिक्षा और राज्य

शिक्षा का सङ्गठन प्राचीन काल में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित था। विद्वान और सामुदायिक सङ्गठन ही शिक्षा की व्यवस्था करते थे। यही क्रम पूर्वी और पश्चिमी देशों में लागू था। अतएव राष्ट्र या शासक को शिक्षण व्यय की कोई समस्या नहीं सताती थी। उसका कर्त्तव्य सिर्फ इतना ही था कि वह यथा सम्भव कभी-कभी विद्वानों की

या शिक्षण संस्थाओं की आर्थिक सहायता करता रहे। मध्यकाल में धार्मिक सङ्गठनों ने शिक्षा प्रसार की सुविधा अपने ऊपर ले ली थी। सार्वभौमिक शिक्षा-प्रसार का कोई उद्देश्य नहीं था। शिक्षा व्यक्तिगत कलेवर को उत्तम करने के लिए कुछ सांस्कृतिक व्यक्तियों का आभूषण मात्र समझी जाती थी। राष्ट्र के विकास के लिए उसकी आवश्यकता नहीं थी। अतएव आर्थिक समस्या का सवाल ही नहीं उठता था।

पर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में राज्यों के सङ्गठन और राष्ट्रीयता के विकास ने शिक्षा-प्रसार पर एक नवीन प्रभाव डाला। प्रत्येक राष्ट्र यह समझने लगा कि यदि उसे टिकना है तो वह अपने नागरिकों को उन सिद्धान्तों की शिक्षा दे जिस पर सरकार का राजनैतिक-दर्शन आधारित है। नागरिकों को जैसी शिक्षा दी जायगी, वैसा ही वे समझेंगे। अतएव शिक्षा पर राष्ट्र का नियन्त्रण होना आवश्यक है। जर्मनी ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त पर कार्य किया और उसे नैपोलियन से युद्ध में पराजित होने के बाद अपने को व्यवस्थापित करने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति ने भी राज्य की शिक्षण नीति को प्रभावित किया। क्रान्ति के कुछ दार्शनिकों का सिद्धान्त था कि बालक राज्य का है। अतएव राज्य को बालक की शिक्षा में उतनी ही रुचि लेनी चाहिए जितनी माता-पिता लेते हैं। इसलिए राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि शिक्षा-सङ्गठन की व्यवस्था करे।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इङ्गलैंड में उदार भावनाओं की प्रबलता रही। समाज-सुधार के अनेक क्षेत्रों में सरकार ने सहायता देना प्रारम्भ किया। उनका नारा था, 'स्कूल खोलो और जेल बन्द करो।' शिक्षा से व्यक्तिगत विकास सम्भव है। अतएव व्यक्तिगत विकास के लिए और सामाजिक-कल्याण के लिए शिक्षा की उपादेयता स्पष्ट थी।

इन सब अवस्थाओं का सामूहिक प्रभाव यह पड़ा कि प्रत्येक राष्ट्र शिक्षा-प्रसार करना अपना कर्त्तव्य समझने लगा। वर्तमान समय में कोई भी राज्य अपने नागरिकों की शिक्षा-सुविधा की अवहेलना नहीं

कर सकता। शिक्षा अब एक राजनैतिक अधिकार का रूप ले रही है। भारतीय संविधान में शिक्षा की सुविधा देना राज्य के लिए अनिवार्य है। फलतः राष्ट्र पर शिक्षा का आर्थिक बोझ बढ़ता ही चला जाता है।

भारत की राजनैतिक-सत्ता जनतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है। जनतन्त्र में प्रत्येक नागरिक को व्यक्तिगत उन्नति के लिए समान सुविधा देना आवश्यक है। फिर भारतीय राज्य के राजनैतिक उद्देश्य हैं: देश में वर्ग-विहीन समाजवाद की स्थापना करना। इसके लिए प्रत्येक नागरिक को उसकी बुद्धि के अनुसार उन्नति करने के लिए सुविधा देना आवश्यक है। शिक्षा ही इसकी एक मात्र सीढ़ी है। अतएव सरकार की शिक्षा-प्रसार की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है।

इन सब कारणों को देखते हुए हमें उन आर्थिक पक्षों का सङ्गठन करना है जिससे भारतीय गण-राज्य अपनी राष्ट्रीय जिम्मेदारी सम्भाल सके।

भिक्षाटन

प्राचीन काल में शिक्षण व्यय समाज के लिये कोई समस्या नहीं थी। समाज का प्रत्येक परिवार शिक्षण-व्यय में कुछ न कुछ हाथ बटाता था। उपदेशक और विद्यार्थी किसी गृहस्थ के यहाँ भोजन कर सकते थे। ग्राम्य का कोई भी परिवार इसे अपना बड़ा सम्मान समझता था। विद्यार्थियों की आवश्यकताएँ कम थीं। अतएव उनको भी कोई कष्ट नहीं होता था। भिक्षाटन से जो प्राप्त होता था, आश्रम का कार्य उसी पर चलाया जाता था।

गुरुदक्षिणा

गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने के उपलक्ष में प्रत्येक ब्रह्मचारी को गुरु-दक्षिणा देनी पड़ती थी। यह दक्षिणा विद्यार्थी की आर्थिक अवस्था पर निर्भर थी। राजकुल के विद्यार्थी सहस्रों मुद्राओं में गुरु-दक्षिणा दिया करते थे। गरीब विद्यार्थी लौंग के कुछ फल ही अर्पण करके अपने को कृत-कृत्य समझता था। गुरु-दक्षिणा देना अनिवार्य नहीं

था। पर यह एक नैतिक-बन्धन था जिसके दिये बिना विद्यार्थी अपने को उऋण नहीं समझता था। गुरुदक्षिणा से प्राप्त द्रव्य से आश्रम और गुरुकुल का खर्च चलता था।

राज्य-दान

आश्रम की सहायता करना राजा का कर्त्तव्य समझा जाता था। प्रत्येक राजा अधिकांश रूप में आश्रम और विद्वान की सहायता के लिए कुछ गाँव लगा दिया करता थे। गाँव की आय से आश्रम का खर्च चलता था। भूमि-दान के अलावा भी समय-समय पर राजन् गुरुकुल की आर्थिक सहायता करते रहते थे। राजा के अलावा भी समाज के धनी व्यक्ति और व्यापारी भी गुरुकुल की सहायता करते रहते थे।

विद्यालय अधिकतर मन्दिरों से लगे हुये थे। देवस्थान में अर्पण के रूप में प्राप्त धन से व्यय की परियाप्त मात्रा निकल आती थी।

व्यय

प्राचीन काल में शिक्षण-व्यय विद्यार्थी के लिये कोई समस्या नहीं थी। आर्थिक-क्षमता विद्याध्ययन के लिये कोई बाधा नहीं थी। केवल विद्याध्ययन करने की रुचि और प्रवृत्ति ही विद्यार्थी के लिये आवश्यक थी। शिक्षा का सारा व्यय आश्रम या गुरुकुल उठाता था—भोजन, वस्त्र और पुस्तक आदि की। उसके लिये केवल समय और रुचि ही आवश्यक थी। आश्रम में विद्यार्थी गुरु के परिवार का एक अंग था जिसकी व्यक्तिगत आवश्यकताएँ सामुहिक थीं और उसी रूप में हल की जाती थीं।

शिक्षा धार्मिक-कृत्य

शिक्षा के लिये 'फीस लेना' या और कोई आर्थिक-लाभ उठाना हेय समझा जाता था। प्राचीन काल में गुरु शिक्षा-दान किसी आर्थिक लाभ के मोह से नहीं करते थे। शिक्षा देना उनका धार्मिक कृत्य था जिसके लिये वे व्यक्तिगत रूप में समाज के प्रति जिम्मेदार थे—यश या अपयश के लिये। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान विद्या-दान करता था और हर गाँव में गुरु के आस-पास विद्यार्थी एकत्र रहते थे। इसे हम

पाठशाला की ही संज्ञा दे सकते हैं। ब्रिटिश-शासन के प्रारम्भ में शिक्षा के जो सर्वे हुये थे उनसे भी यही प्रतीत होता है कि भारत के प्रत्येक गाँव में शिक्षा की कुछ-कुछ व्यवस्था विद्यमान थी और जिसके नष्ट हो जाने से ही भारत में निरक्षरता का अन्धकार बढ़ा।

मध्य-काल

मुसलमान काल में भी शिक्षा के प्राचीन श्रोत जीवित रहे। मुसलमान राजाओं ने प्राचीन शिक्षण प्रणाली को नष्ट नहीं किया। उसे वे आर्थिक सहायता देते रहे। इसके अलावा उर्दू और फ़ारसी की शिक्षा के लिये वे हिन्दू-पद्धति पर ही मकतब और मदरसे खोलते रहे। फारसी की शिक्षा के लिये वे 'वक्फ' और इनाम दिया करते थे। इस प्रकार भारतीय-शिक्षा मुसलमान बादशाहों की आर्थिक छत्र-छाया में मध्य-कालीन युग में फलती रही।

प्राचीन आर्थिक सङ्गठन की कमजोरियाँ

जैसा पहिले लिखा जा चुका है शिक्षा का यह आर्थिक-सङ्गठन व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आधारित था। किसी नियम या कानून पर नहीं। अतएव उसमें कोई स्थायित्व नहीं था। जब समाज में शान्ति थी—सामुहिक आर्थिक सहायता उपलब्ध होती थी। युद्धकाल में गुरुकुल या आश्रम को सहायता मिलना कठिन हो जाती थी।

आर्थिक सहायता सम्राटों या बादशाहों की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर थी। अतएव यदि बादशाह विद्वानों का आदर करता था तो वह शिक्षा का अधिक प्रबन्ध करता था। यदि बादशाह को या राजा को विद्या में कोई रुचि नहीं होती थी तो वह उसकी ओर ध्यान नहीं देता था। फलतः विद्या के केन्द्र आर्थिक कठिनाई में पड़ जाते थे।

मूल रूप में कहा जा सकता है कि शिक्षा का आर्थिक सङ्गठन किसी वैधानिक व्यवस्था पर निर्भर नहीं था। अतएव आर्थिक व्यवस्था सदैव अनिश्चित रहती थी। यही इसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी। पर यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह संगठन शदियों तक कार्य करता

रहा और सैकड़ों परिवर्तनों के बीच में भी जीवित रहा। यह आर्थिक कड़ी अब भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

१८१३ का आज्ञा-पत्र

भारत में ब्रिटिश सत्ता के आने से शिक्षा के क्षेत्र में राज्य की सहायता वैधानिक रूप से प्रारम्भ होती है। प्रारम्भ में ब्रिटिश इण्डिया कम्पनी एक व्यापारी संस्था थी जिसे शिक्षा से कोई अस्था नहीं थी। पर कुछ समय में ही उन्होंने देश में राजनैतिक सत्ता भी धारण कर ली। राजनैतिक सत्ता ग्रहण करने से उन पर शिक्षा की जिम्मेदारी भी आ गई। अतएव १८१३ में जब कम्पनी को आज्ञा पत्र दिया गया तब ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने उसमें यह शर्त रख दी कि 'कम्पनी एक लाख से कम रुपया भारत में शिक्षा-प्रसार के लिये और भारतीय विद्वानों की सहायता के लिये खर्च न करेगी।' शिक्षा में राज्य की आर्थिक सहायता का यह वैधानिक निर्देश प्रथमबार हुआ था।

१८५४ में उड्स के आज्ञा-पत्र के द्वारा भारत में शिक्षा-विभाग का सङ्गठन किया गया। इस आदेश पत्र में यह निर्देष किया गया था कि सरकार भारत में शिक्षा-प्रसार के लिये व्यय करने को तैय्यार है। पर कम्पनी की सरकार आर्थिक दृष्टि से न तो व्यय करने को ही तैय्यार थी और न उस युग में अनिवार्य-शिक्षा-प्रसार राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य ही समझा जाता था। अतएव शिक्षण-व्यय संकुचित रूप से ही बढ़ता रहा। जो व्यय १८१३ में एक लाख था वह १८५४ में २१·६ लाख हुआ और १८७०-७१ में यह ७०·३ लाख हो गया।

स्थानीय स्वराज्य और शिक्षण व्यय

१८८१-८२ में भारतीय शासन में स्थानीय-स्वराज्य का श्री गणेश किया गया। इसके अनुसार जिलाबोर्ड और नगर पालिकाओं का संगठन किया गया। इसी वर्ष भारतीय-शिक्षा-आयोग (१८८२) ने यह सिफारिश की कि प्राथमिक शिक्षा स्थानीय-शासन को सौंप दी जाय। उन का विचार था कि प्राथमिक-शिक्षा का स्थानीय शासन के

खर्च में बहुत बड़ा स्थान है और जिला बोर्डों और नगर-पालिकाओं को अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग प्राथमिक शिक्षा पर खर्च करना चाहिए। इस प्रस्ताव से यह आशा की जाती थी कि प्राथमिक शिक्षा का प्रसार होगा। पर फल उलटा हुआ। स्थानीय संस्थाओं के पास इतनी आय नहीं थी कि वे प्राथमिक शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्कताओं को पूरा कर सकते। अतएव प्राथमिक शिक्षा की प्रगति में बाधा पड़ी। साथ ही स्थानीय स्वराज्य की संस्थाओं का शासन भी ढीला था। इसलिए कभी-कभी विचार रहते हुए भी वे अपनी शिक्षा सम्बन्धी जिमेदारी पूरा नहीं कर सकते थे।

कर्जन की आर्थिक सहायता

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में लार्ड कर्जन (१८९८-१९०५) भारत का वाइसराय होकर आया। उस समय तक भारत में राष्ट्रीयता का विकास हो गया था। जागृति थी। लोग शिक्षा-प्रसार के लिए चिल्ला रहे थे। पर शिक्षण संस्थाओं का कार्य भी ठीक से नहीं चल रहा था। अतएव कर्जन ने इसकी जाँच के लिए एक आयोग की स्थापना की। उसकी जाँच के बाद उसने केन्द्र की सरकारी आर्थिक सहायता प्रारम्भ की जो अब तक चल रही है। कर्जन शिक्षा में सुधार चाहता था और भारतीय नेता प्रसार। अतएव कर्जन के बहुत से सुधार भारतीय नेताओं को मान्य नहीं हुए। परन्तु अब हम यह कह सकते हैं कि कर्जन के बहुत से सुधार अच्छे थे।

१९२०-२१ में प्रान्तों में दुहरे शासन की नीव पड़ी। इससे शिक्षा भारतीय प्रान्तों को सौंप दी गई और उसपर भारतीय मन्त्रियों का शासन रहा। पर 'अर्थ-विभाग' अब भी अंगरेज सलाहकारों के हाथ में था। अतएव दुहरे शासन में शिक्षण-व्यय पर आवश्यकता अनुसार खर्च नहीं हो सका। परन्तु शिक्षण व्यय लगातार बढ़ रहा था हलाँकि यह व्यय आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर रहा था। १९२०-२१ में शिक्षा पर लगभग ९०२ लाख रुपया व्यय हो रहा था।

१९३५ के भारतीय से विधान के अनुसार १९३७ में प्रान्तों में प्रान्तीय शासन का प्रारम्भ हुआ। इस वैधानिक परिवर्तन में शिक्षा और अर्थ-विभाग दोनों भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आये। अतएव भारतीय मंत्रियों ने शिक्षा-विभाग पर व्यय बढ़ाया। १९३६-३७ में भारत में शिक्षा पर १२३६ लाख रुपये का व्यय हो रहा था। पर शीघ्र ही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और भारतीय मंत्रियों ने प्रान्तों से इस्तीफा दे दिया। युद्ध काल में शिक्षा पर विशेष रूप से व्यय नहीं बढ़ाया जा सका। इसी बीच सर जान सार्जेन्ट ने, जो केन्द्रीय सरकार के शिक्षा सलाहकार थे, युद्ध काल के पश्चात शिक्षा-संगठन की एक योजना तैयार की। इस योजना के अनुसार भारत की सम्पूर्ण शिक्षा का व्यय १९४० की जन संख्या के अनुसार लगभग ३१३ करोड़ रुपया होता जिसका वर्तमान अवस्थाओं में अनुपात ६०० करोड़ होगा। पर इस योजना के कार्यान्वित होने से पहिले ही भारत स्वतंत्र हो गया।

१९४६-४७ में भारतवर्ष में शिक्षा पर २५९६ लाख रुपया व्यय होता था। स्वतंत्रता के बाद प्रत्येक क्षेत्र में सुधार और प्रसार प्रारम्भ हुए। अतएव स्वतंत्र भारत में शिक्षा पर व्यय बढ़ाना स्वभाविक था। शिक्षण व्यय पर उत्तरोक्त व्यय बढ़ता रहा है। यदि १९४७ को प्रारम्भ का आधार वर्ष मान लिया जाय तो पिछले चार सालों में भारतवर्ष में शिक्षा पर व्यय की तालिका निम्न रूप से होगी।

सन्	व्यय (लाखों में)
१९४६-४७	२५,९६
१९५३-५४	१,४७,७४
१९५४-५५	१,६४,६४
१९५५-५६	१,८९,६६
१९५६-५७	२,०२,२४

इस तालिका से मालूम होगा कि स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में कितनी शीघ्रता से वृद्धि हुई। पर इतनी वृद्धि भी देश की

आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकी और शिक्षा की कमी अब भी बनी हुई है।

फीस

केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार के सीधे शिक्षण व्यय के अलावा स्थानीय संस्थायें जिनमें डिस्ट्रक्ट बोर्ड, लोकल बोर्ड, और नगर पालिकायें प्रमुख हैं शिक्षण व्यय में हाथ बंटाती है। पर अङ्गरेजी शिक्षा के प्रारम्भ होने से शिक्षण संस्थाओं की आय का एक बड़ा भाग फीस से प्राप्त होता है। प्राचीन काल में शिक्षा के लिये विद्यार्थी से किसी प्रकार की फीस लेना पाप समझा जाता था। पर वर्तमान काल में फीस लेना शिक्षा के व्यय के लिए आवश्यक हो गया है और बहुत से विद्यार्थी जिनमें फीस देने की आर्थिक क्षमता नहीं हैं वे अपनी पढ़ाई चला ही नहीं सकते। शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा व्यय के कारण फीस लगातार बढ़ रही है।

आर्थिक दान

फीस के अलावा पाठशालओं की आर्थिक सहायता का कुछ भाग व्यक्तिगत दान से प्राप्त होता है। इसमें धनी व्यक्ति विद्यालयों की सहायता के लिये आर्थिकदान देते हैं। कभी कभी वे चल या अचल सम्पति विद्यालय के लिये दे देते हैं। शिक्षा में व्यक्तिगत-दान से पहिले शिक्षण व्यय का एक बहुत बड़ा भाग चलाता था पर सरकारी सहायता के बढ़ते रहने से अब इस प्रकार के दान की संख्या कम हो गई है।

विदेशी सहायता

वर्तमान काल में शिक्षण-व्यय की कमी को दूर करने का एक और उपाय निकल आया है और वह है, विदेशी सहायता। सारा संसार अब एक परिवार हो गया है जिसमें देश, जाति और रङ्ग की सीमायें एक दूसरे को अलग नहीं रख सकतीं। लोग अब यह भी समझने

लग गए हैं कि यदि संसार का कोई देश अशिक्षित या उन्नत नहीं है तो अन्य लोग उसका शोषण करेंगे। यह मानव-सभ्यता के विरुद्ध है। साथ ही राजनैतिक कारणों से भी अब एक देश दूसरे की सहायता करते रहते हैं। अतएव शिक्षा के वाह्य साधनों में 'युनेस्को' (Unesco) या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से प्राप्त आर्थिक सहायता, या राष्ट्र विशेष से प्राप्त धन प्रमुख है। कभी कभी दो राष्ट्र एक दूसरे की सहायता करने के लिए या पारस्परिक सम्बन्ध पढ़ाने के लिए एक दूसरे देश के नागरिकों को पठन-पाठन के लिए छात्र-वृति देते हैं जिससे भी ज्ञान की सीमा बढ़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के आय के साधन निम्नलिखित हैं:—

सरकारी सहायता :

(अ) केन्द्रीय सरकार
(ब) राज्य सरकार

(स) स्थानीय शासन (i) जिलाबोर्ड (ii) नगर पालिका (iii) टाउन एरिया (iv) पंचयत आदि।

(द) फीस

(य) दान

(फ) विदेशी सहायता

(i) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें जैसे युनेस्को आदि की सहायता।

(ii) विदेशी राष्ट्रों द्वारा आर्थिक और पुस्तक और यन्त्रों आदि की सहायता।

(iii) छात्र-वृत्ति।

भारत वर्ष में १९५६-५७ के अन्तर्गत १९४·६० करोड़ का व्यय भारतीय शिक्षा पर हुआ इसमें केरल राज्य के आँकडे सम्मलित नहीं हैं। उन्हें मिला देने पर कुल खर्च २०२·२४ करोड़ के लगभग हो जाता है। इस व्यय का विभाजन पृष्ट ३४४ पर है :—

(१) सरकारी व्यय जिसमें केन्द्र व राज्य का व्यय सम्मलित है।	६२·०%
(२) स्थानीय शासन	८·८%
(३) फीस	१६·७%
(४) दान	३·३%
(५) अन्य साधन	६·२%

भारत में यदि शिक्षण व्यय का विवरण देखा जाय तो मालूम होगा कि यहाँ पर छात्रों के पढ़ाने का खर्च ग्रेजुयेट स्तर पर २२६·५ रु० प्रति छात्र, ६३·२ रु० प्रति छात्र माध्यमिक पाठशालाओं में और २४·६ रु० प्रति छात्र प्राथमिक पाठशालाओं में आता है। जनसंख्या के अनुसार एक छात्र के पीछे औसत साधारण व्यय केवल ५ रु० का आता है। यह खर्च संसार के सभी सभ्य राष्ट्रों से कम है। अतएव इससे इस बात की कल्पना की जा सकती है कि भारत वर्ष में शिक्षा-सुधार की कितनी आवश्यकता है और शिक्षा पर व्यय कितना बढ़ाना है।

व्यय

भारतीय-शिक्षण संस्थाओं के यदि व्यय का व्योरा लिया जाय तो मालूम पड़ेगा कि उनके व्यय का बहुत बड़ा भाग शिक्षकों के वेतन पर खर्च होता है। वेतन के पश्चात स्कूल की बिल्डिङ्ग और किराये का नम्बर आता है। अंतिम स्थान पुस्तकलयों और पढ़ाने के लिए उपयोगी वस्तुओं का आता है। जो चीज बालक की शिक्षा के लिए सबसे आवश्यक है—जो शिक्षा को रुचिकर बनाती है, उसी पर सबसे कम खर्च होता है। अतएव इसमें शक नहीं कि बालकों कि शिक्षा अधिकतर अरुचिकर हो जाती है।

शिक्षा के लिए अर्थ की व्यवस्था निम्नलिखित अवस्थाओं पर निर्भर करती है :—

(i) शिक्षा की माँग समाज में।

(ii) शिक्षा की महत्ता।

(iii) समाज का पूर्ण आर्थिक सङ्गठन एवं रहन-सहन का तरीका।

(iv) अर्थ-शासन की पद्धति ।
(v) अर्थ एकत्रित करने के साधन ।
(vi) शिक्षा के बिभिन्न विभागों में आय का सन्तुलित बटवारा आदि ।

शिक्षा की माँग समाज के सन्तुलन, सङ्गठन और उन्नति के लिए आवश्यक है । इसी माँग पर शिक्षा की महत्ता आधारित रहती है। पर समाज के आर्थिक सङ्गठन और रहन-सहन के तरीके से शिक्षा का गठन निश्चित होता है । अर्थ शासन पद्धति से यह निश्चित होता है कि किस सिद्धान्त से अर्थ प्राप्त हो सकता है—केन्द्र और स्थानीय सरकारों का इसमें क्या अनुपात रहेगा । फिर अर्थ एकत्रित करने के क्या साधन है, किस पर टैक्स लगाया जा सकता है आदि । इसके साथ ही अर्थ का बटवारा शिक्षा के विभिन्न विभागों में किस प्रकार किया जाय प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालय और व्यवसायिक शिक्षा पर किस अनुपात से खर्च किया जाय और किसके प्रसार की कितनी आवश्यकता है, आदि यह निश्चित करना आवश्यक हो जाता है ।

भारतीय अवस्थाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि अभी शासन को शिक्षा के विभिन्न विभागों में व्यय के लिए निम्न लिखित सिद्धान्तों पर कार्य करना चाहिए :—

प्राथमिक शिक्षा :—राज्य और सरकार की जिम्मेदारी है कि वह विधान में दिये हुए आश्वासन को पूरा करें। सरकार को प्राथमिक शिक्षा की पूर्ण जिम्मेदारी उठानी चाहिए और शिक्षण-व्यय का प्रमुख भाग इसी पर व्यय करना चाहिए ।

माध्यमिक शिक्षा :—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को पथ प्रदर्शक का कार्य करना चाहिए । माध्यमिक पाठशाला के आदर्श विद्यालय खोले जाँय और माध्यमिक शिक्षा को सरकारी सहायता (Grant-in-aid) दी जाय ।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा :—उच्च-शिक्षा को सरकार आर्थिक सहायता दे ताकि उसका पूर्ण विकास हो सके और विद्यार्थियों को

अनुसंधान आदि की पूर्ण सुविधायें प्राप्त हों। पर उच्च शिक्षा का सरकारी नियन्त्रण में रहना श्रेयस्कर नहीं।

व्यवसायिक शिक्षा :—भारत की वर्तमान अवस्था व्यवसायिक विकास की है। इसके लिए इन्जीनियर और व्यवसायिक, आदि चाहिए। साधारण संस्थाओं पर स्वतंत्र-विकास के लिए यह शिक्षा नहीं छोड़ी जा सकती। अतएव सरकार इनका पूर्ण नियन्त्रण करे और इसके शीघ्रतिशीघ्र विकास की पूर्ण व्वस्था करे।

यह स्पष्ट है कि शिक्षा की आर्थिक आवश्यकताएँ बहुत विशद हैं जो देश की वर्तमान आर्थिक अवस्था के लिए बड़ी कठिन प्रतीत होती हैं—शिक्षकों का वेतन बढ़ाना है, ताकि उन्हें वर्तमान बढ़ती हुई आर्थिक कठिनाई में आर्थिक संकट सदैव न बना रहे, स्कूलों के लिए भवन-निर्वाण की आवश्यकता है, पढ़ाई के लिए पुस्तकालय, अनुसंधान शाला और साज-सज्जा की आवश्यकता है—प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करना है और व्यवसायिक शिक्षा की सुविधा बढ़ानी है। इस सब के लिए व्यय की इतनी आवश्यकता है जो देश की वर्तमान आर्थिक-कल्पना से बाहर है—जब कि देश ऐसे आवश्यक उद्योगों के विकास में लगा हुआ है जिससे हमारी खाद्य और सुरक्षा की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें तब तो राष्ट्रीय अर्थ साधन का अधिकांश भाग उसी में खर्च होगा। ऐसी अवस्था मे शिक्षा के लिए साधन कहाँ से जुटाए जाँय ?

खेर कमेटी

राष्ट्रीय आय कम है और व्यक्तिगत आय के वितरण में महान असमानता। तब तो शिक्षा की समस्यायें और बढ़ जाती हैं। शिक्षा के साधनों को बढ़ाने और खर्च की व्यवस्था के लिये भारत सरकार ने श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक प्रवर समिति का निर्माण किया था। समिति ने शिक्षा के साधनों का सर्वे किया, शिक्षण व्यय के अनुमान में कमी की और अपनी सिफारिशें पेश कीं। उनकी सिफारिशों के अनुसार यदि प्राथमिक शिक्षा में बेसिक-शिक्षा पद्धति

अपनाई जाय तो भविष्य में प्राथमिक शिक्षा के व्यय में कमी हो सकती है। शिक्षा का आधा व्यय तो बालकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं—जैसे कृषि, बागवानी, लकड़ी और दफ्ती के समान तथा अन्य कला-कौशल की वस्तुओं से प्राप्त हो सकता है। दूसरे शिक्षकों और विद्यार्थियों का औसत बढ़ाया जा सकता है। यह औसत बढ़ाकर १ : ६० तक किया जा सकता है। स्कूलों में स्थान के लिये 'सिफ्ट-सिस्टम' से काम लिया जाय भवन-निर्माण के लिए स्थानीय सहायता प्राप्त की जाय आदि। इन सुझावों पर कार्य करने से शिक्षा-प्रसार तो सम्भव है पर उसका उचित विकास हो सकेगा इसमें सन्देह है।

प्राइवेट स्थाओं का विकास

यह निश्चित है कि प्राइवेट संस्थायें सरकारी संस्थाओं की अपेक्षा शिक्षण खर्च सस्ते में चला सकती हैं। अतएव राज्य को सरकारी संस्थाएँ खोलने की अपेक्षा, स्थानीय प्राइवेट संस्थाओं को आर्थिक सहायता देनी चाहिये। वास्तव में देश की वर्तमान अशिक्षा अंधकार का मुख्य कारण है ब्रिटिश शासन द्वारा स्थानीय संस्थाओं का विकास न करना और उनके स्थान पर पश्चिमी ढङ्ग से शिक्षा संस्थाओं का पुनर्निर्माण।

समाज के नेताओं का सहयोग

प्राइवेट संस्थाओं के साथ ही स्थानीय सहयोग की बहुत आवश्यकता है। सरकार को उसे प्रोत्साहित करने के लिये स्थानीय नेताओं और समाज-सुधारकों को शिक्षा में रुचि लेने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। स्वतन्त्रता के पश्चात् समाज-सुधारक और राजनैतिक-दल-शिक्षा के कार्य में कोई रुचि नहीं लेते और उसे सरकार पर ही छोड़ बैठे हैं। स्थानीय सहायता से स्कूल के भवन बनाने के लिये मुफ्त मजदूर या स्कूल के लिये मेज-कुर्सियाँ मिल सकती हैं।

गृह-उद्योग धन्धे

स्कूल के प्रतिवर्ष के खर्चे का एक भाग स्कूल में लाभप्रद कार्य जैसे खेती और छोटे-छोटे गृह-उद्योगों के चलाने से मिल सकता है। पर इस

प्रकार के कार्य कराने में उनकी शिक्षा में उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान रखना चाहिये।

शिक्षा-कर

सरकार यदि राष्ट्र के अन्य साधनों के विकास के लिये कर लगा सकती है तो इसमें कोई डर नहीं कि शिक्षा के लिये भी कर लगाया जाय। वास्तव में ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक युग में शिक्षा के लिये एक विशेष कर लगाया जाता था और वह तभी समाप्त हुआ जब प्राथमिक शिक्षा स्थानीय शासन को सौंप दी गई। अब शिक्षण व्यय की कमी पड़ रही है और यह प्रश्न बहुत दिनों तक नहीं टाला जा सकता। अतएव सरकार को शिक्षा के लिये विशेष कर लगाना चाहिये। सभ्य-समाज इसकी खिलाफत नहीं करेगा।

शिक्षा व्यय की प्राथमिकता

अन्त में कहा जा सकता है कि सरकार को शिक्षा की महत्ता स्वीकार करनी चाहिए और उसके लिए उदारता पूर्वक अर्थ की व्यवस्था करनी चाहिये। शिक्षा राष्ट्र-निर्माण के लिये आवश्यक है। सभी इसे स्वीकार करते हैं। पर यदि आर्थिक संकट उत्पन्न होता है तो शिक्षा ही इसका प्रथम शिकार होती है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के लिए केवल १६६ करोड़ रुपये की व्ययस्था की, दूसरी में ३२० करोड़ रुपये की। पर जैसे ही आर्थिक सङ्कट उत्पन्न हुआ इसमें कमी की जाने लगी।

सरकार कृषि और लौह उत्पादन को प्रधानता देती है: खाद्य समस्या और सुरक्षा के लिए। पर सबके पीछे मनुष्य-निर्माण का उद्देश्य लगा हुआ है। शिक्षा उसी आवश्यकता की पूर्ति करती है। अतएव सरकार को शिक्षा को वही महत्ता देनी चाहिये जो अन्य निर्माण कारी उद्योगों के लिए दी जाती है और इसके लिये उसी प्रकार अर्थ व्यवस्था करनी चाहिये।



१२

शिक्षा और केन्द्र तथा राज्य सरकार

भारत एक सङ्घीय गण-राज्य है जिसका शासन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में विभाजित है। वर्तमान भारतीय संविधान २६ जनवरी १९५० से लागू किया गया। संविधान पास होने के समय भारत में चार प्रकार के राज्य थे। कुछ अँगरेजी शासन के समय से सङ्गठित प्रान्त थे। दूसरे भारतीय रियासतों के संगठित राज्य थे। तीसरे केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित राज्य थे जिनकी आय और जन-संख्या छोटी थी। चौथे संरक्षित राज्य थे। इन राज्यों में कई प्रकार की भाषा बोली जाती थी और उनका आर्थिक ढाँचा भी असन्तुलित था। अतएव १९५६ में भारतीय राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्य-पुनर्गठन-योजना के पश्चात् भारतवर्ष में निम्नलिखित राज्य हैं:—

भारतीय-राज्य

	राज्य	*क्षेत्रफल (वर्गमील)*	*जन-संख्या*
१.	आन्ध्र प्रदेश	१,५०,९६२	३,१५,२०,०००
२.	आसाम	८५,०१२	९९,२०,०००
३.	बिहार	६७,३००	४,०८,६०,०००
४.	बम्बई	१,९०,९१९	५,२६,२०,०००
५.	जम्मू और काश्मीर	९२,७८०	४६,३०,०००

६.	केरल	१५,०६५	१,५१,१०,०००
७.	मध्यप्रदेश	२,७१,२०१	२,७२,५०,०००
८.	मद्रास	५०,११०	३,२२,५०,०००
९.	मैसूर	७४,३४७	२,१३,२०,०००
१०.	उड़ीसा	६०,१३६	१,५१,२०,०००
११.	पू० पञ्जाब	४७,१९,५६	१,६६,३०,०००
१२.	राजस्थान	१,३२,०७८	१,७२,२०,०००
१३.	उत्तर प्रदेश	१,१३,४०९	६,७०,८०,०००
१४.	पश्चिमी बंगाल	३३,८०९	२,८१,००,०००
१५.	अन्डमन्ड नीकोबार द्वीप समूह	३२१५	३०,०००
१६.	दिल्ली	५७८	२०,५०,०००
१७.	हिमाचल प्रदेश	१०,९०४	११,४०,०००
१८.	लकाद्वीप, मेनक्वाय द्वीप	१०	२०,०००
१९.	मनीपुर	८,६२८	६,२०,०००
२०.	नेफा (उत्तरी पूर्वी सरहद्दी इलाका)		
२१.	त्रिपुरा	४,०३२	७,२०,०००

जैसा उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है भारतीय गणराज्य में जो राज्य हैं उनके क्षेत्रफल और जन संख्या में विभिन्नता है। उनकी भाषा भिन्न है तथा उनमें सांस्कृतिक तथा आर्थिक असामनता भी एक मात्रा में मौजूद है। राज्यों की इन विभिन्नताओं का प्रभाव उनके शिक्षा-संगठन और आर्थिक विकास पर पड़ता है।

तालिका में क्रम १ से १४ तक के राज्य अ श्रेणी के राज्य है और अपने आंतरिक शासन के लिए स्वतंत्र हैं। क्रम १५ से २१ तक के राज्यों का शासन सूत्र केन्द्रीय सरकार के हाथ है। अतएव उनकी आर्थिक नीति केन्द्र से ही निश्चित होती है।

संविधान में शिक्षा

संविधान में केन्द्र और राज्यों में विषय का बटवारा हुआ है जिसकी तालिका संविधान में स्पष्ट रूप से दी गई है। इस बटवारे के अनुसार, जिसका विवरण संविधान की सप्तम अनुसूची में दिया गया है, उसकी सूची २ में ११ प्रविष्ट के अनुसार, शिक्षा राज्य सूची में है।

प्रविष्ठ ११

"११-सूची १ की प्रविष्टियों, ६३, ६४, ६५ और ६६ तथा सूची ३ की प्रविष्ट २५ के उपलब्धो के अधीन रहते हुए शिक्षा, जिसके अन्तर्गत विश्वविद्यालय भी हैं।"

इससे स्पष्ट है कि साधारणतः शिक्षा राज्यों का विषय है जिसके संचालन के लिए राज्य स्वतंत्र हैं। केन्द्र उसमें किसी प्रकार का हस्त-क्षेप नहीं कर सकता, यदि उनके कार्य संविधान की मूल धाराओं के के अनुसार हैं। केन्द्रीय सरकार राज्यों को सिर्फ सलाह दे सकती है जिस पर कार्य करने या न करने के लिए वे स्वतंत्र हैं।

संविधान की सप्तम अनुसूची की सूची न० १ में संघ-सूची दी गई है। उसमें धारा ६३, ६४, ६५ और ६६ के अंतर्गत केन्द्रीय सरकार की शिक्षा सम्बन्धी जिम्मेदारी दी गई है।

"६३—इस संविधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़, मुस्लिम विश्वविद्यालय, और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थाएँ तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था।"

"६४—भारत सरकार से पूर्णतः या अंशतः वित्त-पोषित तथा संसद द्वारा राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित वैज्ञानिक या शिल्पिक शिक्षा संस्थाएँ।"

६५—संघ-अभिकरण और संस्थाएँ जो—

क—वृत्तिक, व्यवसायिक या शिल्प-प्रशिक्षण, जिनके अन्तर्गत आरक्षी पदाधिकारियों का प्रशिक्षण भी है; के लिए,

(ख) विशेष अध्ययनों या गवेषणा की उन्नति के लिए है; अथवा
(ग) अपराध के अनुसंधान या पता चलाने में वैज्ञानिक या शिल्पक सहायता के लिये।

(६६) 'उच्चतर शिक्षा या गवेषणा की संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओं में एक सूत्रता लाना और मानों का निर्माण करना।"

सविधान की इन धाराओं से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार केन्द्रीय विश्वविद्यालयों, उच्च व्यवसाय से सम्बन्धित संस्थाओं और खोज सम्बन्धी उच्च संस्थाओं के लिए जिम्मेदार होगी। राज्य प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालयों की शिक्षा के लिये जिम्मेदार होंगे। परन्तु राज्यों की आर्थिक शक्ति में विभिन्नता होने के कारण तथा देश की विशालता के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न राज्यों के शिक्षण प्रयत्न में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय, उनके शिक्षण-मान में समता लाई जाय और राज्यों में पारस्परिक सहयोग स्थापित किया जाय। यह केन्द्रीय-शिक्षा-मंत्रालय का काम है।

अपनी जिम्मेदारियों को दृष्टिगत रख कर केन्द्र ने एक शिक्षा मन्त्रालय की स्थापना की है जिसका प्रमुख कार्य है केन्द्र द्वारा शासित राज्यों में शिक्षा विभाग का शासन देखे, राष्ट्रीय संस्थाओं के शासन की व्यवस्था करे, अखिल भारतीय शिक्षा सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करे तथा शिक्षा-सम्बन्धी खोज के लिये आर्थिक सहायता दे।

केन्द्रीय संस्थाएँ

केन्द्रीय सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है राज्यों में शिक्षण-सुविधा की समानता लाना, उनके शिक्षण मान को समस्तल पर रखना तथा उनमें सहयोग स्थापित करना ताकि सम्पूर्ण भारत में शिक्षा विकास एक सा हो। केन्द्र ने इन कार्यों के लिए कई प्रकार की परिषद स्थापित कर ली हैं जो नियमित रूप से अपना कार्य करती हैं।

विभिन्न राज्यों में सहयोग स्थापित करने के लिये केन्द्र की पृष्ठ ३५३ पर दी हुई संस्थायें काम करती हैं:—

(१) केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-परिषद् (Central 'Advisary Board of Education) ।

(२) विश्वविद्यालय-अनुदान-समिति (University Grants' Commission) ।

(३) अखिल भारतीय-माध्यमिक-शिक्षा-परिषद् (All India Council of Secondary Education) ।

(४) अखिल भारतीय प्राथमिक-शिक्षा-परिषद् (All India Council of Elementry Education) ।

(५) अखिल भारतीय-बेसिक-शिक्षा-परिषद् (All India Council of Basic Education) ।

(६) अखिल भारतीय-व्यवसायिक-शिक्षण-परिषद (All India Council of Technical Education) ।

इसके अलावा केन्द्रीय सरकार उन शिक्षण-संस्थाओं को भी मान्यता देती है जो शिक्षा के किसी विशेष अँगके की उन्नति में लगे हुये हैं या जिनका उद्देश्य शिक्षा-प्रसार है। इस प्रकार की संस्थाओ में अन्तः विश्वविद्यालय बोर्ड (Inter-University-Board) और अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन (All India Educational Conference) आदि संस्थायें प्रमुख हैं।

केन्द्रीय सरकार इन सभा और समितियों का सम्मेलन बुलाती है। इनमें शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर विचार विनमय होता है और पुनः इनकी सिफारिशों पर कार्य किया जाता है।

शिक्षण की इन संस्थाओं का सङ्गठन और उनकी कार्य प्रणाली का वर्णन पूर्व अध्यायों में यथा स्थान किया गया है।

सम्मेलन

इसके अलावा केन्द्रीय सरकार राज्यों के शिक्षा मन्त्रियों, शिक्षा संचालकों एवं अन्य शिक्षा विदों का समय-समय पर सम्मेलन बुलाती

रहती है। इन सम्मेलनों में सामुहिक विचार-विनमय होने से शिक्षा का क्रम सब राज्यों में एक सा होता है।

केन्द्र युनेस्कों (Unesco) तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षण एवं सांस्कृतिक संस्थाओं के साथ शिक्षा-विकास के लिए सहयोग करता है और उनकी आर्थिक सहायता से शिक्षा के अन्य लाभ प्रद् कार्य करता है। इस प्रकार का एक सम्मेलन मैसूर में समाज शिक्षा की शिक्षण-व्यवस्था पर हुआ था जिसमें दक्षिणी-पश्चिमी एशिया के सब देशों ने भाग लिया था।

आर्थिक सहायता

केन्द्र का सबसे महत्व पूर्ण कार्य है राज्यों को आर्थिक सहायता देना। भारतीय संविधान के निर्देषक सिद्धान्तों की धारा ४५ के अन्तर्गत दिया हुआ है कि संविधान प्रारम्भ होने के दस वर्ष के अन्दर राज्य १४ वर्ष के बालकों के लिये अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करेगा। संविधान का यह तत्व अभी तक पूर्ण नहीं हो सका। दो पञ्चवर्षीय योजनाओं में भी अनिवार्य शिक्षा सब तक नहीं पहुँच पाई। कुछ दिनों पूर्व प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने राज्य के मुख्य मन्त्रियों का ध्यान इस ओर अकर्षित किया था और उन्हें सुझाव दिया था कि तृतीय पञ्चवर्षीय-योजना में वे उसकी व्यवस्था करें। संविधान की इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए तथा राज्य की शिक्षण संस्थाओं का शिक्षण स्तर उच्च करने के लिए केन्द्र प्रत्येक राज्य को तथा शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देता है। कभी-कभी सहायता की इस राशि का अनुपात आधा होता है और कभी-कभी केन्द्रीय सरकार दो तिहाई सहायता देती है।

जाँच और आयोग

केन्द्रीय सरकार समय-समय पर शिक्षा सुधार की दृष्टि से शिक्षा की किसी समस्या पर आयोगों और प्रवर समितियों का निर्माण करती

है और उनकी सिफारिश से देश में शिक्षा सुधार किया जाता है। विश्वाद्यालय-शिक्षा-आयोग, श्री राधाकृष्णननके सभापतित्व में १६४८-४६ में स्थापित किया गया और माध्यमिक-शिक्षा-आयोग १६५१-५२ में श्री लक्ष्मीस्वामी मुदेलियर के सभापतित्व में स्थापित किया गया। देश की वर्तमान माध्यमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा का संगठन इन्हीं आयोगों की प्रमुख सिफारिशों पर आधारित है।

राज्यों का कर्त्तव्य

राज्यों का प्रमुख कार्य प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा का संगठन और प्रशासन तथा राज्य के विश्वविद्यालयों को अर्थिक सहायता देना है। इसके लिए प्रत्येक राज्य शिक्षा विभाग का संठन किये हैं और शिक्षा संचालक प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का संचालन करते हैं। विश्वविद्यालय अधिनियम के अनुसार स्वशासित होते हैं। पर सरकारी सहायता पर निर्भर रहने से कारण अधिकतर वे राज्य सरकारों का मुँह देखते है।

नीति निर्धारण

इस प्रकार शिक्षा राज्य का विषय है पर केन्द्र उसको आर्थिक सहयता देता है और उसमें समन्वय स्थापित करता है। पर कभी कभी केन्द्र और राज्यों में शिक्षा नीति पर भेद हो जाता है। तीन वर्ष के डिग्री कोर्स और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की योजना को कार्यान्वित करने की नीति को लेकर केन्द्र और कई अन्य राज्यों में विभेद रहा है। केरल के शिक्षा-विधेयक, जिसके द्वारा पाठशालाओं को राज्य के संरक्षण में लाना या अध्यापकों के चुनाव में सरकार मत लेता था आदि नियम भारतीय संविधान के मूल अधिकारों के विपरीत थे। केन्द्रीय सरकार ने इस विधेयक को सुप्रीम कोर्ट को दे दिया। कोर्ट ने विधेयक की कुछ धाराओं को संबिधान के विपरीत बतलाया. और और उसमें संशोधन करने की सिफारिशकी।

पर केन्द्र और राज्यों में शिक्षण नीति पर झगड़े बहुत कम होते हैं और अधिकतर विवाद ग्रस्त विषय सम्मेलनों में तय हो जाते हैं।

भारतीय गणराज्य के विभिन्न राज्यों में शिक्षा की जो असमानतायें हैं उनको देखते हुए केन्द्र शिक्षा के लिए अधिक सक्रिय कार्य कर रहा है। वास्तव में शिक्षा नीति में इस बात का सूत्रपात हो रहा है कि शिक्षा की जटिल समस्या तब तक नहीं हल हो पावेगी जब तक उसका राष्ट्रीयकरण न हो जायगा—राज्यों के स्तर पर और केन्द्रीय स्तर पर। अधिकतर मत केन्द्रीयकरण की ओर झुक रहा है।



परिशिष्ट

राज्यों में शिक्षण व्यय का औसत

राज्य	प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत		प्रत्येक विद्यार्थी पर औसत व्यय			प्रांत विद्यार्थियों के अनुयात में (Cost per Capita)
	प्राथमिक पाठ-शालाएँ	माध्यमिक पाठ-शालाएँ	प्राथमिक पाठ-शालाएँ	माध्यमिक पाठ-शालाएँ	कला तथा विज्ञान के	प्रति व्यक्ति के पीछे शिक्षा का व्यय
	५	६	७	८	९	१०
	रुपये के	रुपये के	रुपये	रुपये	रुपये	रुपये के
१. आन्ध्र	७८·९	७६·१	२४·३	७१·८	२३५·८	४·३
२. आसाम	३१·८	२२·९	१३·९	५३·७	१६८·९	४·३
३. बिहार	६३·६	४५·५	१४·६	४९·८	१९०·८	३·०
४. बम्बई	४४·१	६४·४	३०·१	६०·८	२८६·७	७·०
५. जम्मू और काश्मीर।	४९·२	५४·५	२२·५	४२·९	२१९·५	२·१

राज्यों में शिक्षण व्यय का औसत (Continued)

६. केरल	९२·९	७२·१	१३·५	३९·४	२०१·०	५·१
७. मध्यप्रदेश	२८·८	४०·२	.७·६	५९·२	२३४·७	४·४
८. मद्रास	९२·५	८७·६	२५·८	६९·०	२३८·१	५·७
९. मैसूर	४४·९	६१·४	२४·७	५१·९	२०९·७	४·५
१०. उड़ीसा	४१·६	४४·४	१७·३	६५·८	२६२·७	२·७
११. पंजाब	७३·१	७३·२	२९ ५	५२·०	२३३·९	६·४
१२. राजस्थान	४०·०	४०·१	३३·०	६८·७	२१३·०	३·०
१३. उत्तरप्रदेश	८०·९	६६·५	१९·५	७७·७	२३०·९	३·८
१४. पश्चिमी बंगाल।	३४·६	२६·९	२२·३	७६·४	१६१·३	७·५
१५. अंडमंड नीकोबार द्वीप।	६·७	४०·०	५२·५	९०·३	—	९·३
१६. दिल्ली	९९·८	९०·३	७९·२	९२·४	३२९·१	२५·५
१७. हिमांचल प्रदेश।	४६·५	६७·९	४४·७	६१·३	४५०·७	४·८
१८. लंकाद्वीप मेनाकुल द्वीप।	१००·०	—	३०·०	—	—	२·४
१९. मनीपुर	५·२	८·४	१५·१	४२·३	१५३·६	३·७
२०. नेफा (N.E.F.A)	६२·६	३८·२	९१·७	२१९·१	—	—
२१. त्रिपुरा	१२·५	३४·२	४५·५	६६·३	३०३·७	९·८
भारत वर्ष	६१·२	५९·१	२३·४	६२:२	२२२·९	४·९

राज्यों में विद्यार्थियों का औसत (Continued)

राज्य	१	२	३	४
१६. दिल्ली	७१·३	३६·६	३६	३१
१७. हिमाचल प्रदेश	४७·४	१२·८	२३	२२
१८. लंका द्वीप और मिनीकाय द्वीप इत्यादि।	६७·४	—	५७	—
१९. मणिपुर	६६·८	१७·१	३४	२५
२०. नेफा (उत्तर पूर्व सरहद्दी-एजेन्सी)।	×	×	२३	१३
२१. त्रिपुरा	७०·२	१७·७	२४	२५
भारतवर्ष	५३·१	१३·५	३३	२५

शिक्षण संस्थाओं पर व्यय

१९५६-५७

साधन के अनुसार व्यय (Expenditure According to Sources)

	लड़कों के लिये	लड़कियों के लिये	योग
सरकारी फंड	रुपये	रुपये	रुपये
केन्द्रीय	१३,२२,४६,३५८	७२,११,६३५	१३,८४,५७,९९३
राज्य (प्रान्तीय)	९६,५३,५४,२२७	१०,२९,११,११७	१,०६,८२,६५,४०४
जिलाबोर्ड फंड	९,७९,५६,३६१	४९,४९,८९७	१०,२९,०६,२५८
नगरपालिका	५,३१,४०,१२८	१,५१,५५,०७२	६,८२,९५,२००
फीस	३४,०३,७३,३७९	४,३४,७५,३५३	३८,३८,४८,७३२
इत्यादि	५,२९,००,२१८	१,०९,४७,९९७	६,३८,४८,२१५
अन्य साधन	१०,४९,१४,४३३	१,५४,६७,५६८	१२,०३,८२,००१

संस्थाओं के प्रकार के अनुसार व्यय
१९५६-५७

संस्थाएँ	लड़कों पर	लड़कियों पर	योग
	रुपये	रुपये	रुपये
१. विश्वविद्यालय	८,६५,४२,६७१	३,३१,२८६	८,६८,७३,६५७
२. बोर्ड	१,४६,८६,४६५	—	१,४६,८६,४६५
३. अन्वेषण संस्थाएँ।	१,७५,१५,७२३	—	१,७५,१५,७२३
४. कला तथा विज्ञान के कालेज।	११,०५,८६,७०१	१,०४,७४,७३१	१२,१०,६१,४३२
५. व्यवसायिक और टेक-निकल शिक्षा के कालेज।	७,३४,०८,७४२	३७,२७,०००	७,७१,३५,७४२
६. विशेष प्रकार की शिक्षा के कालेज।	३७,३०,८०६	८,१४,६६८	४५,४५,४७५
उत्तर बुनि-यादी।	४,७६,५३७	१७,८७७	४,६४,४१४
हायरसेकंडरी स्कूल।	८,६६,६०,२८६	१,६२,६५,३४८	१०,८६,८५,६३७
हाई स्कूल	२३,६२,१८,५७२	४,६०,१२,८५०	२८,२२,३१,४२२
मिडिल स्कूल			
(अ) बुनियादी	४,५२,३३,६०४	४६,४०,७८६	५,०१,७४,३६०
(ब) गैर बुनियादी	६,१६,८५,१८७	—	—

संस्थाओं के प्रकार के अनुसार व्यय

(Continued)

संस्थाएँ	लड़कों पर	लड़कियों पर	योग
प्राथमिक पाठशालायें	रुपये	रुपये	रुपये
(अ) बुनियादी।	८,२६,५६,६३५	७०,५२,१९४	८,९७,०८,८२९
(ब) ग़ैर बुनियादी।	४१,८०,९०,०५२	४,००,५१,४७०	४५,८१,४१,५२२
पूर्व-प्राथमिक पाठशालायें (Pre Primary Schools)।	१९,९५,३०३	८,९६,३५९	२८,९१,६६२
व्यवसायिक और टेकनिकल स्कूल (Vocational &Technical Schools)।	४,७२,३३,३४९	८२,५१,३७१	५,५४,८४,७२०
विशेष (Spl. Edu. Schools)।	२,५२,८३,३८०	२७,४४,४४५	२,८०,२७,८२५
Total Direct	१,३४,८६,३७,०४६	१६,२४,३७,००३	१,५१,१०,७४,०४९

अप्रत्यक्ष व्यय (Indirect Expenditure)

साधन	लड़कों पर	लड़कियों पर	योग
	रुपये	रुपये	रुपये
संचालन तथा निरीक्षण।	३,७१,६१,६९५	१७,९८,०३६	३,८९,५९,७३१
भवन्	१९,०२,०९,७३२	१,७२,७०,१०६	२०,७४,७९,८३८
छात्र वृत्ति	७,७७,७१,६५२	९८,३६,८२६	८,७६,०८,४७८
छात्रावास	२,३५,९३,४२९	४५,९८,९९०	२,८१,९२,४१९
अन्य-खर्च	६,९५,११,५५०	३१,७७,७३८	७,२६,८९,२८८
अप्रत्यक्ष योग (Total Indirect)	३९,८२,४८,०५८	३,६६,८१,६९६	४३,४९,२९,७५४
पूर्ण योग Grand Total 1956-57	१,७४,६८,८५,१०४	१९,९१,१८,६९०	१,९४,६०,०३,८०३ ❊
पूर्ण योग Grand Total 1955-56	१,६३,६२,५२,७३१	१८,६३,४८,०५६	१,८२,२६,००,७८७

व्यय
विभिन्न साधनों द्वारा संस्थाओं पर व्यय

साधन	रुपया	प्रतिशत
१. सरकारी फंड	१,२०,६७,२३,३९७	६२.०
२. स्थानीय बोर्ड फंड	१७,१२,०१,४५८	८.८
३. फीस	३८,३८,४८,७३२	१९.७
४. दान	६,३८,४८,२१५	३.३
५. अन्य साधन	१२,०३,८२,००१	६.२
योग (Total)	१,९४,६०,०३,८०३	१००.०

❊ इस आँकड़े में फेरन राज्य के आँकड़े शामिल नहीं हैं।

विभिन्न साधन द्वारा संस्थाओं का संचालन

संस्थाएँ	संख्या	प्रतिशत
१. सरकार	८४,६११	२३·१
२. स्थानीय बोर्ड	१,६५,४०१	४५·०
३. प्राइवेट बाडीज़ (एडेड)	१,०६,००२	२८·८
४. प्राइवेट संस्थाएं (जिन्हें सहायता नहीं प्राप्त है)।	११,५५५	३·१
योग (Total)	३,६७,८६६	१००

संस्थाओं की संख्या (Number of Institutions)

संस्थाएँ	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिए	योग
विश्वविद्यालय	३२	१	३३
शिक्षा के बोर्ड	१२	—	१२
शोध की संस्थायें	४०	१	४१
सामान्य शिक्षा की संस्थाएँ			
(अ) डिग्री कालेज	४६७	८१	५४८
(ब) इन्टरमीडिएट कालेज	१६१	२२	१८३
पेशे और व्यवसाय की संस्थाएँ			
कृषि	२४	—	२४
भवन-निर्माण (Applied Art & Architecture)	१	—	१

संस्थाओं की संख्या (Continued)

वाणिज्य	२८	—	२८
इंजीनियरिंग	४६	—	४६
वन-विज्ञान (Forestry)	३	—	३
कानून (Law)	२६	—	२६
चिकित्सा (Medicine)	६५	२	६७
शारीरिक-शिक्षा	८	१	६

अध्यापकों का प्रशिक्षण (Teachers Training)

संस्थाएँ	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिए	योग
१. बुनियादी	३६	२	३८
२. ग़ैर बुनियादी	६५	२६	६४
३. टेक्नालाजी	७	—	७
४. पशु चिकित्सा	१३	—	१३
५. अन्य	२	—	२

विशेष प्रकार की शिक्षा के कालेज
(Colleges For Special Education)

संस्थाएँ	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिए	योग
१. गायन, नृत्य तथा अन्य ललित कलाएँ।	२१	५	२६
२. प्राच्य भाषाओं का अध्ययन	७०	८	७८
३. समाज शास्त्र	६	—	६
४. अन्य	७	३	१०

संस्थाएँ (सामान्य शिक्षा के लिए)

संस्थाएँ	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिये	योग
१. उत्तर बुनियादी पाठशालाएँ	२५	१	२६
२. उच्चतर माध्यमिक विद्यालय	१,८५५	३८६	
३. उच्च विद्यालय	७,५६६	१,२४०	८,८०६
४. माध्यमिक विद्यालय :—			
(अ) बुनियादी	६,३०२	४६८	६,८००
(ब) ग़ैर बुनियादी	१४,२२४	२,०६०	१६,३१४
५. प्राथमिक पाठशालाएँ			
(अ) बुनियादी	४३,०१०	३,४७१	४६,४८१
(ब) ग़ैर बुनियादी	२,२०,८८३	१२,५५१	२,३३,४३४
६. पूर्व-प्राथमिक पाठशालाएँ	५१६	२४५	७६१

औद्योगिक तथा व्यवसायिक संस्थाएँ
(Vocational & Technical)

संस्थाएँ	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिए	योग
१. कृषि	६१	१	६२
२. कला-कौशल	८४	२२०	३०४
३. वाणिज्य	८११	७	८१८
४. इंजीनरिंग	५४	...	५४
५. बन-विज्ञान (Forestry)	४	—	४
६. उद्योग	३८५	१४४	५२७
७. चिकित्सा	३०	७६	१०६
८. शारीरिक-शिक्षा	३६	—	३६

अध्यापकों का प्रशिक्षण

संस्थाएँ	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिए	योग
१. बुनियादी	४४८	११०	५५८
२. गैर बुनियादी	१८१	१३७	३१८
३. टेकनालाजी	१०६	—	१०६
४. पशु चिकित्सा	७	—	७
५. अन्य	—	—	५

विशेष प्रकार की शिक्षा के विद्यालय

स्कूलों के प्रकार	लड़कों के लिए	लड़कियों के लिए	योग
१. गायन, नृत्य तथा अन्य ललित कलाएँ।	१०५	७३	१७८
२. प्राच्य विषयों का अध्ययन	३,२६४	१६	३,३१३
३. अन्धों-बहरों की संस्थाएँ	६२	४	६६
४. सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए	३६	७	४३
५. सामाज शिक्षा (प्रौढ़)	३६,०२७	४,७१६	४३,७४३
६. सुधारक	२६	७	३६
७. अन्य	१,२८५	४१	१,३२६
योग [Total] (१९५६-५७)	३,४१,६६७	२६,२०२	३,६७,८६६
(१९५५-५६)	३,३२,३२५	२४,७१२	३,५७,०३७

विद्यार्थियों की संख्या
संस्था के प्रकार के अनुसार (By Type of Institution)

संस्थाएं	लड़के	लड़कियाँ	योग
१. विश्वविद्यालय।	४८,४८७	६,०५६	५४,५४३
२. अन्वेषण संस्थाएँ।	२,१४३	१०६	२,२५२
३. कला तथा विज्ञान के कालेज।	४,५४,७४१	७६,७८०	५,३४,५२१
४. व्यावसायिक तथा टेकनिकल कालेज।	६४,५८५	—	—
५. विशेष प्रकार की शिक्षा के कालेज।	६,४८४	५,२१२	१४,६६६
६. उत्तर बुनियादी स्कूल।	—	—	—
७. हाई स्कूल	२८,६६,६८४	७,४८,७६६	३६,४८,७८३
८. बुनियादी माध्यमिक पाठशालाएँ।	१२,२३,३३१	४,७५,४०६	१६,६८,७३७
९. गैर बुनियादी माध्यमिक पाठशालाएँ।	१८,५०,१६४	४,८८,१११	२३,३८,२७५
१०. बुनियादी प्राथमिक पाठशालाएँ।	३२,२१,४४३	८,२७,७३६	४०,४९,६७९
११. गैर बुनियादी पाठशालाएँ।	१,२२,८८,१९३	५६,९१,००५	१,७९,७९,१९८

विद्यार्थियों की संख्या [संस्था के प्रकार के अनुसार] (Contiuned)

१२. पूर्व प्राथमिक पाठशालाएँ।	१२८	२४,३४७	५३,४७५
१३. व्यवसायिक और टेकनिकल स्कूल।	२,०७,५३८	५६,३७६	२,६३,६१४
१४. विशेष प्रकार की शिक्षा के स्कूल।	१२,३८,४३०	१,७८,२४६	१४,१६,६७६

विद्यार्थियों की संख्या विभिन्न स्तर पर (by Stages)

प्रकार	संख्या	प्रतिशत
१. पूर्व प्राथमिक	६८,७७२	०.३
२. प्राथमिक	२,३८,२१,२१७	७१.७
३. माध्यमिक	६८,२२,१७०	२०.५
४. विश्वविद्यालय	५,८८,२२५	१.८
५. समाज शिक्षा	११,६६,१७६	—
६. व्यवसायिक तथा विशेष शिक्षा की संस्थाएँ।	६,८२,४२६	२.१

विद्यार्थियों की संख्या वय-विभाजन के अनुसार

पाठशालाओं में विद्यार्थियों की संख्या

वय-विभांजन	पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या	बालकों की जन-संख्या	प्रतिशत
६-११ वर्ष	२,३८,२१,२१७	४,६७,६६,७७२	५०.६
११-१७ वर्ष	६८,२२,१७०	५,११,१८,८६२	१३.३

